नव-वर्षांक

अगस्त ५७

सम्पादक

डा० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी
एम० ए० पी-एच० डी

वार्षिक मूल्य
इस प्रति का ।।)

सरस्वती संवाद के सम्बन्ध में विद्वानों की सम्मति

इसको प्रतिष्ठित लेखकों का सहयोग प्राप्त है इसके सभी लेख साहित्यिक और सुरुचि पूर्ण हैं।
प्रो० गुलाबराय एम० ए०, सम्पादक—साहित्य संदेश, आगरा।

…ती संवाद की प्रकाशित योजना मुझे बहुत सुन्दर व अच्छी लगी। मैं इसकी उन्नति चाहता हूँ।
डा० रामकुमार वर्मा, हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्व विद्यालय प्रयाग।

…लेखों का चयन और उनका स्तर सर्वथा विद्यार्थियों के अनुकूल है। सबसे अच्छी बात यह कि इसमें अनावश्यक सामग्री का समावेश नहीं किया गया। निस्सन्देह हिन्दी के विद्यार्थियों के लिए यह पत्र उपयोगी सिद्ध होगा।
प्रो० पद्मसिंह शर्मा "कमलेश" आगरा कालेज।

इस अंक के लेख

वर्ष ५] आगरा, अगस्त १९५६ [अङ्क १

विशेष लेख :—

कला, नीति और जीवन

[प्रो० आनन्दनारायण शर्मा, एम० ए०]

मानवता के इतिहास में कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जो युग-युग से पूछे जाते रहे हैं और प्रत्येक युग ने उनका उत्तर अपने ढंग से देने का प्रयास किया है। इन उत्तरों में उस युग की मान्यताएँ और कल्पनाएँ, विश्वास और सपने, संक्षेप में संपूर्ण जीवन दर्शन निहित रहा करता है। कला, नीति और जीवन के संबंध का प्रश्न भी कुछ वैसा ही है। इसको लेकर सदियों से विचार विमर्श होता आया है। प्राय विद्वानों के बीच उग्र वाद विवाद भी हुए हैं, अनेक प्रकार के परस्पर विरोधी मत सामने लाए गए हैं, पर आज तक किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सका। यह कभी न समाप्त होने वाला विवाद जहां एक ओर इस प्रश्न के महत्त्व का संकेत करता है, वहीं दूसरी ओर बारबार हमें इसका नए सिरे से समाधान ढूँढने की प्रेरणा भी देता है। नीचे हम कला विषयक कुछ सिद्धान्तों को लेकर इस प्रश्न को तनिक निकटता से देखने का प्रयास

यहाँ यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि कला शब्द का जिस अर्थ में हम आज प्रयोग करते हैं, वह अर्थ हमने पश्चिम से ग्रहण किया है। प्राचीन भारतीय साहित्य में कला का प्रयोग ऐसे हस्तकौशल के लिए किया गया है जिसका उद्देश्य चमत्कार प्रदर्शन मात्र होता था। इससे अधिक किसी बड़े अर्थ की संभावना उसमें नहीं की गई है। इसलिए हमारे तत्वद्रष्टा मनीषियों ने 'साहित्य संगीत कला विहीन' कहकर साहित्य और संगीत को सामान्य कलाओं से पृथक् माना है, क्योंकि इनका उद्देश्य मात्र प्रसादन ही नहीं है। वात्स्यायन के 'काम सूत्र' में भी दासकर्म से लेकर अंगराग-लेपन की कला तक का तो उल्लेख है, किंतु काव्य को इन चौंसठ कलाओं में स्थान नहीं दिया गया है। यहाँ हम 'कला' अथवा 'ललित कला' शब्द को अंग्रेजी के 'फाइन आर्ट्स' का पर्याय मानकर प्रयुक्त कर रहे हैं। जिसके अन्तर्गत वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला एवं काव्यकला ये

पाँच भेद किए जाते हैं। अतएव कला संबंधी स्थापनाओं के लिए भी हमें कुछ पाश्चात्य विद्वानों के मतों की ही परीक्षा करनी होगी।

कला संबंधी सबसे पहला मत हमें यूनानी दार्शनिकों, विशेषकर अरस्तू का प्राप्त है। उनके अनुसार कला का मूल तत्व अनुकरण में निहित है, यानी श्रेष्ठ कला वही है जो नैसर्गिक सौंदर्य का अनुकरण कर जीवन की भ्रांति उत्पन्न करे। स्पष्ट ही यह उस समय की बात है, जब मानव मस्तिष्क इतना विकसित और संश्लिष्ट नहीं हो चुका था और मनुष्य अपने जीवन के तत्वों के संकलन के लिए सीधी तरह प्राकृतिक उपादानों का ऋणी था। तब तक उसने प्राकृतिक उपादानों पर विजय तो नहीं ही पाई थी, उसकी शक्तियों को अच्छी तरह समझ भी नहीं सका था और इसलिए वह प्रकृति का आज्ञाकारी, विनीत अनुचर मात्र था। आज यह बात असंदिग्ध रूप से प्रमाणित की जा चुकी है कि श्रेष्ठ कला प्रकृति की केवल जड़ अनुकृति नहीं है, उसमें मानव कृतित्व का भी कुछ अंश अवश्य ही सम्मिलित है। उदाहरण के लिए किसी एक दृश्य को कैमरे की आँखों से उतारा जाए और फिर उसे ही कोई चित्रकार अपनी तूलिका के द्वारा कैनवास अथवा किसी अन्य आधार फलक पर साकार करे तो कला की दृष्टि से दूसरे चित्र का महत्व अधिक होगा, यद्यपि जहाँ तक कोरे अनुकरण का प्रश्न है, पहला मूल के अधिक निकट का हो सकता है। विचार करने पर दूसरे की उत्कृष्टता का कारण यह है कि प्रथम जहाँ मूल दृश्य वाले की यांत्रिक प्रतिकृति है, वहाँ दूसरे में मानवीय आवेगों के समावेश का अवकाश अधिक है। कोई कुशल चित्रकार जब किसी मनःस्थिति की कलापूर्ण भाँकी प्रस्तुत करने का प्रयास करता है तो वह यथार्थ को ज्यों का त्यों उतार कर ही संतोष नहीं करता। वह उस सौंदर्य में अपनी ओर से कुछ जोड़ घटाव भी करता है और इस प्रकार उसमें अपने अंतर के अनुभव का भी मूर्त रूप देने का प्रयास करता है, प्रकृति के चित्रण को परिष्कृत करता है। तो परिणाम यह निकला कि कला यथार्थ का केवल दर्पण नहीं, वह एक महत्तर यथार्थ का सृजन भी है।

विचारकों का एक दूसरा दल है, जो कला में नीति और उपयोगितावाद के सिद्धांत पर बल देता हुआ स्वीकार करता है कि कला मुख्यतः जीवन के लिए है, बाद में किसी दूसरे प्रयोजन की सिद्धि के लिए। जो जीवन के परिष्कार में सीधी तरह हाथ नहीं बँटाती, वह कला वंध्या है। इस विचार के सबल प्रबल समर्थक टालस्टाय ने तो यहाँ तक कह डाला है' कला ईश्वर या सौंदर्य की किसी रहस्यपूर्ण कल्पना की अभिव्यक्ति नहीं है। (यद्यपि दार्शनिकगण यही कहते हैं), न तो यह खेल है, जिसमें मनुष्य अपनी संग्रहीत शक्ति का अधिकांश व्यय निकालता है (यद्यपि सौंदर्य शास्त्र के ज्ञाता शरीर विज्ञानवादी यही कहते हैं), न तो यह बाह्य संकेतों द्वारा मनुष्य के भावों की अभिव्यक्ति है, न वह आनन्दप्रद वस्तुओं का रचना है, और वह आनन्द तो नहीं ही है, वरन् वह मानवों में ऐक्य का साधन है जो उन्हें एक ही भावना से ग्रथित करता है और व्यक्तियों के तथा मानव जाति के कल्याणार्थ जीवन और प्रगति के लिए अनिवार्य है।" (कला क्या है? पाँचवाँ परिच्छेद)

इसके विपरीत क्रोचे और उसके अनुयायी स्पिनगार्न मानते हैं कि 'कला का उद्देश्य विशुद्ध कला के अतिरिक्त कुछ नहीं। कला मात्र सौंदर्यानुभूति की अभिव्यक्ति है और सौंदर्य अपना प्रयोजन आप है। उसे अपने से इतर किसी प्रयोजन की आवश्यकता नहीं होती। कला के साथ नैतिकता का संबंध जोड़ना एक ऐसी अंधपरंपरा है, जिसे अब हम पूरी तरह छोड़ चुके हैं। इस प्रसंग में एक कहानी याद आती है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध कलाकार ऑस्कर वाइल्ड पर उनके एक उपन्यास 'दि पिक्चर ऑफ डोरियन ग्रे' के प्रकाशनोपरान्त इसलिए मुकदमा चलाया गया कि कुछ लोगों के अनुसार उक्त पुस्तक अनैतिकता और अश्लीलता का प्रचार करती था। जिस दिन इस पुस्तक पर बहस आरम्भ हुई उस दिन दर्शक दीर्घा

ठसाठस भरी हुई थी। वादी पक्ष के वकील ने वाइल्ड महोदय से पूछा—"महाशय, क्या आप बता सकते हैं, आपकी यह पुस्तक नैतिक है अथवा अनैतिक ?"

इस पर वाइल्ड ने बड़ी निर्भीकता से उत्तर दिया "साहित्य अथवा कला में नैतिकता अनैतिकता का प्रश्न नहीं उठ सकता। यह पुस्तक या तो अच्छी लिखी हुई हो सकती है या बुरी। अब आप बताएं इसे किस कोटि में रखना पसंद करेंगे ?"

और जैसा कहा जाता है इस उत्तर के बाद वाइल्ड निर्दोष समझकर छोड़ दिए गए।

क्रोचे ने अपनी पुस्तक 'सौंदर्यशास्त्र' में इस बात पर बहुत अधिक बल देकर कहना चाहा है कि कला अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। क्रोचे अभिव्यक्ति के साथ 'सुन्दर' विशेषण जोड़ना भी पसंद नहीं करता, क्योंकि उसके अनुसार जो अभिव्यक्ति 'सुन्दर' नहीं है, वह अभिव्यक्ति ही नहीं है। अभिव्यक्ति के पूर्ण होते ही कला का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। कलाकार के लिए यह तनिक भी आवश्यक नहीं कि वह हरबार अपनी रचना के लिए कोई उदात्त एवं शिक्षाप्रद विषय ही चुने। वह सामान्य विषयों, जैसे रेल के इंजन का धुआँ और सिगरेट की पत्ती के टुकड़े आदि को भी लेकर यदि अपनी सहजानुभूति शब्दों, रंगों अथवा रेखाओं के माध्यम से पाठक या दर्शक के अंतःकरण तक उतार देता है तो उसकी कला सफल मानी जायगी। क्रोचे का यह सौंदर्यवादी *सिद्धान्त औद्योगिक क्रांति और कल-कारखानों की* वृद्धि के विरोध में सामने आया। जैसा इरविन एडमन ने अपनी पुस्तक 'आर्ट्स ऐंड दि मैन' में कहा है, यह उत्तरदायित्व से शून्य सुन्दरता की खोज उन्नीसवीं शताब्दी के कार्यव्यग्र, नीरस जीवन की प्रतिक्रिया था। कला के इस कल्पना-प्रधान रूप में तत्कालीन मनुष्य की थकी हुई और बेचैन आत्मा ने शांति पाने का प्रयास किया, ईसाई आचारवाद के आतंक से पीड़ित मनुष्य को थोड़ी देर के लिए राहत मिली।'

अब यदि हम उपर्युक्त दोनों मतों की समीक्षा करें तो पाएँगे कि दोनों में ही आंशिक सत्य को अत्युक्ति पूर्ण ढंग से रखा गया है। सुविधा के लिए पहले दूसरे मत को ही लेना उपयुक्त होगा। 'कला कला के लिए' के सिद्धांत का समर्थन दो प्रकार से किया जा सकता है। स्रष्टा के पक्ष में इसका अर्थ यह है कि *उत्कृष्ट कला का सर्जन किसी बाहरी दबाव से* प्रेरित होकर नहीं किया जा सकता। कलाकार जब अपने भीतर की घनीभूत वेदना अथवा आनंद को अपने हृदय में ही समेट कर नहीं रख पाता और छेनी, तूलिका, स्वरों अथवा शब्दों के माध्यम से उसे प्रकट करने को व्यग्र हो उठता है तो हमें उत्तम कला कृतियाँ प्राप्त होती हैं। अतः कला कलाकार की आंतरिक भावाकुलता का विग्रह मात्र है। भोक्ता के पक्ष में इसका अर्थ यह है कि कला की परीक्षा सर्वप्रथम सौंदर्यशास्त्र की कसौटी पर की जानी चाहिए, बाद में किसी अन्य शास्त्र के द्वारा उसे जाँचा परखा जा सकता है। और इस परीक्षा की प्रणाली यह है कि हम यह देखने से पहले कि 'क्या' कहा जा रहा है, इस बात को पूर्व ग्रह-रहित होकर देखने का प्रयत्न करें कि 'कैसे' कहा जा रहा है।

कला की प्रेरणा सामान्य नीतिशास्त्र की अपेक्षा अधिक गहरी होती है। इसलिए ऊपरी दृष्टि से कभी कभी कलाकृतियाँ स्वीकृत नीति सिद्धान्तों की अवहेलना करती भी दीख सकती हैं। पर, केवल इसीलिए उनका महत्व खंडित नहीं होता। अजंता के अलभ्य चित्रों में रंगों और रेखाओं के कुशल अंकन को देखकर *जो मुग्ध नहीं होते, बल्कि उसमें नारी और पुरुष* की उद्दाम यौन लिप्सा की झलक पाते हैं अथवा लियनार्दो दविंशी के विश्व विख्यात चित्र 'मोनालिसा' को देखकर जो उसकी आँखों की नामालूम गहराइयों में झाँकने की कोशिश नहीं करते, प्रत्युत् उसके भीतर चित्रकार की वैयक्तिक कामवासना की दुर्गंध ही सूँघते हैं कहना चाहिए, उसका मस्तिष्क अभी कला-समीक्षा के योग्य और सुसंस्कृत नहीं हुआ है। एक दूसरा उदाहरण लीजिए। नारी के लिए पातिव्रत्य एक ऐसा

आदर्श है, जिसको महत्ता अधिकांश देशों ने स्वीकार की है। लेकिन कलाकार ऐसी परिस्थितियों का अव तारण कर सकता है, जहाँ एक नारी एकाधिक पुरुषों के यौन-सम्पर्क में आई हो, फिर भी अन्त तक उसके प्रति आपकी सहानुभूति बनी रहे और उसमें आप मानवीय सद्गुणों की चिनगारी पाएं। दूर जाने की आवश्यकता नहीं। भगवती चरण वर्मा की चित्रलेखा या जैनेन्द्र कुमार के 'त्यागपत्र' की 'मृणाल' को ही प्रमाण स्वरूप सामने रक्खा जा सकता है। यहाँ नैतिकता के प्रति सम्पूर्ण आस्था रखते हुए भी हमें स्वीकार करना होगा कि कलाकार का चित्रण नैतिकता की स्थूल सी परिभाषा से कहीं, अधिक मर्म-स्पर्शी सजीव और संवदनशील है। प्राय देखा जाता है कि एक युग के नीति सिद्धांत दूसरे युग में कभी-कभी सर्वथा अग्राह्य हो जाते हैं, पर कला के क्षेत्र में मूल्यों की इतनी बड़ी अराजकता नहीं संघटित हो पाती। अतीत की सुन्दर कृतियाँ जीवन के मान बदल जाने पर भी कुछ न कुछ प्रेरणा हमारे लिए अवश्य रखती हैं उनकी ही नींव पर भविष्य का प्रासाद निर्मित होता है।

दूसरी बात यह कि कलाकार यदि जानबूझकर दुर्नीति का प्रचार करने वाला या ग्राम्यता में रस लेने वाला नहीं है तो उसकी तथा कथित नीतिविरोधी कृतियाँ भी व्यक्ति के मन को संस्कृत और उदात्त ही बनाती हैं। सूरदास के मन में किसी प्रकार की यौन कुण्ठा वर्तमान नहीं थी। इसलिए उन्होंने अपने आराध्य की शृंगारिक-लीलाओं का उन्मुक्त, निस्संकोच वर्णन किया है। किन्तु कौन कह सकता है कि उन रस-अभिसिक्त शृंगारिक लीलाओं का निर्बंध वर्णन पढ़कर हमारी कुरुचि और विलास भावना को ही प्रोत्साहन मिलता है, हमारी वृत्तियों का उदात्तीकरण (सब्लिमेशन) नहीं होता? इस अर्थ में सूरदास भी मानवता के उतने ही बड़े शिक्षक हैं, जितने बड़े कबीर, तुलसी या अन्य भक्त कवि।

'कला जीवन के लिए' का सिद्धान्त इस दूसरे सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक निर्भ्रान्त है, परन्तु, खतरा यहाँ भी कम नहीं है। श्रेष्ठ कला मूल नैतिकता का आग्रह न रखकर भी अन्त जीवन के लिए उन्नयन कारी होती ही है। किन्तु यदि उपयोगितावाद का सिद्धान्त अधिक मुखर हो गया तो बड़े-से-बड़े कलाकार की रचना की भी कला के गौरवमय सिंहासन से स्खलित होते देर नहीं लगती। कला और नैतिकता में कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य है। कलाकार भी सामान्य मनुष्यों की ही भांति, किन्तु उनकी अपेक्षा कुछ अधिक संवेदनशील सामाजिक प्राणी होता है और उसके अन्तःकरण पर युगजीवन के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ते ही रहते हैं। इनसे यत्न करके भी बचा नहीं जा सकता। पर वह उन प्रभावों को अपनी कलाकृति में किस प्रकार व्यंजित करे कि वह रचना मानवता के विकास में सहायक सिद्ध हो सके। और साथ ही प्रचारक होने का दोषारोपण भी न हो, इसके लिए कोई निश्चित नुस्खा नहीं पेश किया जा सकता। दूसरे शब्दों में, कला पर युगनीति की प्रतिच्छाया अवश्य रहती है, किन्तु दोनों का सम्बन्ध अत्यन्त ऋजु सरल में नहीं है, जिसे एक सीधी रेखा खींचकर बतलाया जा सके। जैसे सूर्य का उद्दाम प्रकाश सूक्ष्म जलकणों पर प्रतिच्छादित होकर इन्द्रधनुष का सम्मोहक आकार ग्रहण कर लेता है, वैसे ही 'शिव' का सात्विक उपदेश कला के देश में 'सुन्दरम्' का सहचर बनकर सामने आता है। यह कलाकार की नितान्त वैयक्तिक चेतना पर अवलम्बित है कि वह किस प्रकार नैतिक जीवन के सिद्धान्तों को ग्रहण करता है और पुनः उन्हें अपनी सृष्टि में रूपायित करता है। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि कलाकार का काम पाठक के सौंदर्य बोध को जगाना है, उस पर अपने निर्णय का बोझ लादना नहीं। काव्य की चर्चा करते हुए जब आचार्य मम्मट ने कविता को कान्ता सम्मित उपदेश कहा था, तब उन्होंने भी कविता और नीति के सम्बन्ध की इस अव्याख्येयता की ओर ही संकेत करना चाहा था। इस सम्बन्ध को अच्छी तरह न समझ सकने के कारण ही आए दिन यहाँ एक और कोरे प्रचारवादी साहित्य

(शेष पृष्ठ १४ पर)

काव्य-गुण

(प्रो०—आनन्द प्रकाश दीक्षित, एम० ए० [हिन्दी तथा संस्कृत])

लक्षण तथा महत्व—अग्निपुराणकार ने गुण का लक्षण करते हुए बताया है कि काव्य को महती शोभा प्रदान करने वाले को ही गुण कहा जाता है[1]। जिस प्रकार कुरूपा स्त्री के लिए आभूषण केवल भार स्वरूप होते हैं, उनसे उसका सौंदर्य नहीं बढ़ता अथवा प्राकृतिक कुरूपता नष्ट नहीं होती, उसी प्रकार काव्य चाहे अलंकृत ही क्यों न हो यदि वह गुण रहित होगा तो कदापि प्रीतिजनक नहीं हो सकता[2]। अग्निपुराणकार द्वारा प्रतिपादित गुणों के इस महत्व को स्वयं आचार्य मम्मट ने भी स्वीकार किया था और इसी लिए अनलंकृत होते हुए भी काव्य की सगुणता पर बल दिया था। आचार्य वामन[3] तथा भोजराज[4] आदि भी उसी पक्ष के समर्थक हैं।

अलंकार और गुण—अग्निपुराणकार तथा वामन ने गुणों को काव्य का शोभा-कर धर्म बताया है। किन्तु अलंकारवादी आचार्य दण्डी ने अलंकारों का भी वही महिमा निश्चित की है अलंकार भी काव्य शोभाकर धर्म हैं[5]। अतः यह एक विवादास्पद प्रश्न उपस्थित हुआ कि इन दोनों में क्या अन्तर है और किसे काव्य के शोभाकर धर्म का महत्व मिलना चाहिए इस प्रश्न का उत्तर वामन ने यह कहकर दिया कि गुण तो काव्य के शोभाकर धर्म हैं किन्तु अलंकार उस शोभा को भी और उत्कर्ष देने वाले हैं[6]। किन्तु आचार्य मम्मट को वामन की इस उक्ति में संगति का दर्शन न हुआ। अतः उन्होंने इसका विरोध करते हुए इस बात की स्थापना की कि केवल अलंकार से भी काव्य की शोभा हो सकती है, गुण-कृत शोभा का वर्द्धन ही अलंकार का कार्य है नहीं। वस्तुतः इन दोनों के बीच कुछ अन्तर है तो इतना ही कि गुण रस के धर्म हैं उसके उपकारक हैं और उससे उनका नित्य-सम्बन्ध है[7], किन्तु हारादि के समान अलंकार शब्दार्थ के द्वारा कभी रस का उपकार करते हैं कभी नहीं। अतः उसके न तो धर्म ही हैं और न उसके साथ इनका नित्य-सम्बन्ध ही है[8]। अलंकारवादियों की ओर से मम्मट के इस मत को स्वीकृति तो न मिली, और न उनसे पूर्व ही इस मत को उन्होंने स्वीकार किया किन्तु रसवादियों की ओर से इसे पूर्ण समर्थन प्राप्त था। मम्मट से पूर्व जिस प्रकार किसी अलंकारवादी ने अलंकार तथा गुण दोनों को अलौकिक मानकर काव्य से इनका समवाय अर्थात् नित्य सम्बन्ध माना था[9] उसी

१—य काव्ये महती छायामनुगृह्णात्यसौ गुणः।—३।३४६।

२—अलङ्कृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत्। वपुष्यललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम्। १।३४६

३—युवतेरिव रूपमङ्गकाव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव। विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलंकारविकल्पकल्पनाभिः तथा, यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः। अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते॥ का० सू० वृत्ति ३।१-२।

४—अलङ्कृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्। गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालंकारयोगयोः। स० क०, १।५९

५—काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान् प्रचक्षते का० दर्श, २।१।

६—काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। तथा, तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः। का० सू०, ३।१।१ २

७—ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः। उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥ का० प्र० ८।६६

८—उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्। हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः। वही, ८

९—एवं च समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादय इत्यस्तु गुणालंकाराणां भेदः ओजःप्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चाभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवैषां भेदः। का० प्र० वृत्ति ८।६७

प्रकार उनसे पूर्व ही आचार्य आनन्दवर्धन ने मम्मट के इसी मत को जन्म देते हुए कहा था कि गुण काव्य के धर्म हैं। अलंकार शब्द तथा अर्थ से सम्बन्ध रखने के कारण शब्दार्थ के धर्म हैं। हमारा शरीर गुणयुक्त नहीं, बल्कि हमारा आत्मा, हमारा अन्तर ही गुणों का आगार है। वैसे ही काव्यात्मा ही गुणों का आश्रय हो सकता है। इसकी सामर्थ्य केवल उसी में है। जब हम किसी के गुणों का बखान करते हैं तो हमारा कथन इतना ही होता है कि अमुक का स्वभाव इतना सरल या इतना कुटिल है, अमुक ऐसा साहसी या दयालु है। यह कथन स्पष्ट सूचित करता है कि हम इन सबका शरीर से सम्बन्ध नहीं स्थापित कर रहे हैं, अपितु वह आत्मा के गुण हैं क्योंकि कोई शरीर से तगड़ा और हृष्टपुष्ट तो हो सकता है, किन्तु वह शरीर से सरल भी हो यह नहीं कहा जाता। यदि गुणों को शब्दाश्रित मानने का ही हठ है तो वह केवल उपचार से सिद्ध हो सकता है। किन्तु ऐसा मानने पर भी यह अनुप्रासादि शब्दालंकार के समान नहीं कहे जा सकते। अनुप्रासादि अर्थनिरपेक्ष शब्दमात्र के धर्म कहे गए हैं और गुण व्यंग्य विशेष के अभिव्यंजक, वाच्यार्थ प्रतिपादन समर्थ शब्द के धर्म कहे जाते हैं। गुणों की शब्दधर्मता शौर्यादि गुणों के शरीर-आश्रित धर्म के समान नितान्त औपचारिक है[१]। सारांश यह कि अलंकार तो बाह्य और शब्दाश्रित अथवा अर्थाश्रित हैं किन्तु धर्म काव्यात्मा रस के आश्रित हैं। अतः दोनों में समानता नहीं मानी जा सकती।

संघटना और गुण—रीति तथा गुणों का परस्पर सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में तीन विकल्प उपस्थित किए जा सकते हैं। एक तो यह कहा जा सकता है कि रीति गुण का आश्रय है दूसरे यह कि गुण रीति का आश्रय है अथवा तीसरा यह कि रीति तथा गुणों में परस्पर अभेद है।

आनन्दवर्धन का विचार है कि संघटना गुणों पर आश्रित है। गुणों के साथ साथ उसमें भी परिवर्तन लक्षित किया जा सकता है। रस संघटना का नियामक कहा जा सकता है। क्योंकि यदि हमें शृंगार रस की रचना करनी होती है तो शृंगार की व्यंजना के लिए माधुर्य-गुण संयुक्त संघटना रखना होगी। इसी प्रकार रौद्रादि के लिए उनके उपयुक्त संघटना रखनी होगी। यह होते हुए भी सदैव इस नियम का पालन कठिन है। क्योंकि ओज आदि संघटना पर ही निर्भर नहीं है बल्कि वक्ता, वस्तु, विषय और रस का इस सम्बन्ध में अवश्य ध्यान रखना पड़ता है। मूल बात यह है कि संघटना रस पर आश्रित रहता है। उसके तीन प्रकार हो सकते हैं—असमास, मध्यम समास तथा दीर्घ समास। इनके सम्बन्ध में कोई ऐसा नियम स्थिर नहीं किया जा सकता कि अमुक का प्रयोग अमुक स्थल या प्रसंग में ही हो, किसी दूसरे में न हो। यों तो दीर्घ समास पदावली ओज के लिए सबसे अधिक सफल मानी गई है तथापि ऐसे स्थल भी साहित्य में पाए जाते हैं जहाँ उसका प्रयोग शृंगार रस के लिए किया गया है। नियम ही हो तो असमास का प्रयोग केवल शृंगार के लिए होना चाहिए. किन्तु साथ ही यह नियम भी ध्यान में रखना चाहिए कि वर्णन वक्ता के अनुसार ही किया जाना उचित होता है और तभी उसका प्रभाव भी होता है। रसो मालन ही संघटना का काम है। अतएव यदि दूसरे नियमों का पालन करने से ही काम चल सकता हो तो इसकी चिन्ता न करके उसका उपयोग करना चाहिए। तात्पर्य, यह कि संघटना अनियत विषय है। इसे ही आश्रय मान कर चलेंगे तो गुणों को भी अनियत विषय मानना होगा। माधुर्य तथा प्रसाद का उत्कर्ष यदि कहीं दिखाई पड़ता है तो करुण और विप्रलम्भ शृंगार में। इसी प्रकार ओज का उत्कर्ष रौद्र तथा अद्भुत में दिखाई देता है। इसमें

१—अथवा भवन्तु शब्दाश्रया एव गुणाः। न चैषामनुप्रासादितुल्यत्वम्। यस्मादनुप्रासादयोऽनपेक्षितार्थशब्दधर्मा एव प्रतिपादिताः। गुणास्तु व्यंग्यविशेषावभासिवाच्यप्रतिपादनसमर्थशब्दधर्मा एव। शब्दधर्मत्वं चैषामन्याश्रयत्वेऽपि शरीराश्रयत्वमिव शौर्यादीनाम्। ध्व०, हि०, पृ० १३६।

सिद्ध होता है कि गुण रस से सम्बन्ध रखते हैं, वे संघटना से बाधित नहीं हैं। संघटना अनियत विषय है जबकि गुण नियत विषय माने जाते हैं। अतः संघटना गुण का आश्रय नहीं है।[1]

दूसरे, यह जो कहा गया है कि कहीं कहीं दीर्घ-समास संघटना भी शृंगार में और असमास रौद्र में काम आ जाती है, उसका अर्थ भी यही है कि संघटना के पीछे रस नहीं दौड़ता, रस पर संघटना आश्रित रहती है। और गुणों का सीधा सम्बन्ध रस से होता है। अतएव गुण को संघटनाश्रित नहीं मानना चाहिए।

इस सम्बन्ध में एक आपत्ति की कल्पना की जा सकती है। विपक्षी कह सकता है कि संघटना सदैव अनियत नहीं होती। शृंगार और माधुर्य के सम्बन्ध में भले ही यह कहा जा सके कि कोई विशेष संघटना उस रस की व्यंजक नहीं कही जा सकती। उसमें तीनों प्रकार का प्रयोग होता पाया जाता है। किन्तु ओज में यह नियम अवश्य मानना चाहिए। यदि इस प्रकार का कोई प्रयोग किया भी जाता है, जैसा कि नारायण भट्ट ने वेणीसंहार नाटक में यो य शस्त्रं बिभर्ति श्लोक में किया है, तो उस नियम का व्यभिचार मात्र मानना चाहिए।

आनन्दवर्धन इस आपत्ति का बड़े सरल ढंग से खण्डन प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि यहाँ यदि ओज की सिद्धि न माना जाय तो कम से कम प्रसाद तो माना ही जायगा। साथ ही इसमें तो किसी को आपत्ति नहीं है कि उक्त स्थल पर रस भी है ही। अतएव यदि नाटक में प्रसाद गुणोपेत पंक्तियों से ही रस स्पष्टतः व्यंजित हो जाता है तो ऐसा होने में कोई हानि नहीं। नाटक अभिनेय है और साथ ही साधारण जनों के लिए भी है। ऐसी दशा में यदि उसमें प्रसाद गुण युक्त रचना की ही जाती है तो ऐसा तो होना ही चाहिए, यह तो और अच्छा है। इसे ही विषयौचित्य कहा जाता है।[2]

एक बात और पहले से गुण को शब्दों के आश्रित मानने की सम्भावना की जा चुकी है। यदि ऐसा स्वीकार कर लिया जाय तो संघटना तो स्वतः शब्द की भांति गुण का आश्रय हो जाती है, ऐसी सम्भावना की जा सकती है। क्योंकि असंगठित शब्दों के द्वारा व्यंग्यार्थ आदि नहीं निकल सकता जिससे रस की पुष्टि हो। किन्तु, इस प्रकार की धारणा कोई विशेष महत्व नहीं रखती। कभी कभी पद मात्र से व्यंग्यार्थ का बोध होता है, संघटना की आवश्यकता नहीं रहती। ऐसी स्थिति में उस गुण का आश्रय, मानने में कोई युक्ति नहीं दिखाई देती।[3]

सारांश यह है कि गुणों के आश्रय रस हैं, संघटना नहीं। संघटना का नियामक वक्ता, वाच्य और विषय ही है। गुण तो चित्त की अवस्था है। ऐसा कहा जाता है कि माधुर्य में चित्त द्रवित हो जाता है। इससे प्रकट होता है कि गुणों का सम्बन्ध चित्त से है। चित्त की यह अवस्था रस-परिपाक की बोधक है। अतएव गुणों को रसाश्रित मानना चाहिए क्योंकि जब

१—यदि गुणाः संघटना चैत्यैक तत्वं संघटनाश्रया वा गुणास्तदा संघटना या इव गुणानामनियतविषयत्व प्रसंग। गुणानां हि माधुर्य प्रसाद प्रकर्ष करुणविप्रलम्भ शृंगार विषय एव। रौद्राद्भुतादिविषयमोज। माधुर्यप्रसादो रसभावतदाभासविषया विवेति विषय नियमो व्यवस्थित संघटनायास्तु स विघटते। तथा हि शृंगारेपि दीर्घसमासा दृश्यन्ते रौद्रादिष्वसमासा चेति। ध्व० हि०, पृ० २३३।

२—अतएव च यो यः शस्त्रं बिभर्ति 'इत्यादौ यद्योजस स्थितिर्नेष्यते तत् प्रसादाख्य एव गुणो, न माधुर्यम्। न चाचारुत्वम् अभिप्रेतरसप्रकाशनात्। —हि० ध्व०, पृ० २४७।

३—ननुयदि शब्दाश्रया गुणास्तत् संघटनारूपत्व तदाश्रयत्व वा तेषां प्राप्तमेव। न ह्यसंघटिता शब्दा अर्थविशेष प्रतिपाद्यरसाद्याश्रितानां गुणानामाश्रयत्वादाश्रया भवन्ति। नैवम्। वर्णपद व्यंग्य त्वस्य रसादीनां प्रतिपादितत्वात्। —वही, पृ० २३६।

तक रसानुभूति न होगी चित की ऐसी अवस्था होना सम्भव नहीं। इसी कारण गुणों को रस का नित्य धर्म कहा है। मम्मट ने इसी आधार पर इनका अलंकार से भेद प्रतिपादित किया है।

पण्डितराज जगन्नाथ का प्रतिपादन—यहाँ पण्डितराज के मत का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। उन्होंने गुणों को रस के धर्म मानने का विरोध किया। एक तो नव्यन्याय के अनुसार इस बात की ओर ध्यान दिलाया कि प्रत्यक्ष-प्रमाण अथवा अनुमान-प्रमाण, दोनों में से किसी से भी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। दूसरे, अद्वैतमतानुसार भी गुणों का शब्द तथा अर्थ से सम्बन्ध निश्चित किया जा सकता है। उनका मत संक्षेप में इस प्रकार है:—

रसों के आस्वादन से पूर्वोक्त चित्तवृत्तियों का अनुभव अप्रामाणिक है। उदाहरणतः, अग्नि का कार्य जलाना है और स्पर्श करने पर वह उष्ण ज्ञात होती है। इन दोनों का हमें पृथक् अनुभव होता है। न जलने पर भी हम उष्णता का अनुभव कर लेते हैं। अतएव कार्य तथा गुण का पृथक् ज्ञान होना चाहिए। रस के कार्य द्रुति आदि हैं जिनका ज्ञान हमें होता है। किन्तु इनके अतिरिक्त कोई गुण नहीं प्रतीत होता। इस कारण इन्हें रस पर आश्रित नहीं माना जा सकता[1]। अनुमान के अनुसार भी यह बात ठीक नहीं बैठती कि गुण रस के धर्म हैं। क्योंकि यदि यह कहा जाय कि माधुर्यादि गुणों से युक्त रस ही द्रुति आदि के कारण होते हैं, अर्थात् उन गुणों के साथ रहने पर ही रसों से द्रुति आदि चित्तवृत्तियाँ उत्पन्न की जाती हैं। अतः कारण में रहने वाले एक विशेष धर्म के रूप में उनका अनुमान किया जा सकता है। इसका उत्तर यह है कि प्रत्येक रस जब बिना गुणों के ही उन वृत्तियों का कारण हो सकता है तो गुण-कल्पना में क्या गौरव है। यदि इस पर भी यह आपत्ति उठाई जाय कि शृंगार, करुण, शान्त प्रत्येक को पृथक्तः द्रुति का कारण मानने की अपेक्षा केवल एक ही बार यह कह दिया जाय कि यह माधुर्य गुण युक्त है, तो लाघव से काम चल जायगा। किन्तु आक्षेपकर्ता को यह उत्तर भी स्वीकार नहीं है, क्योंकि मम्मट जैसे विद्वानों ने मधुर से द्रुति और अत्यन्त मधुर से अत्यन्त द्रुति होना स्वीकार किया है। ऐसी अवस्था में अपने ही पक्ष का खण्डन हो जाता है[1]। साथ ही साथ एक एक कार्य का पृथक् कारण भी मानना होगा।

अद्वैतमतानुसार विचार करें तो भी गुण रस के धर्म नहीं कहे जा सकते। अद्वैतमत में आत्मा निर्गुण माना गया है। अतएव उसमें गुण नहीं माने जाने चाहिए। आत्मा के तो नहीं, इन्हें उपाधिरूप रति के गुण अवश्य माना जा सकता है क्योंकि अद्वैत में भी उपाधि के तो गुण माने ही जाते हैं। ऐसा कहना उचित न होगा क्योंकि पण्डितराज के अनुसार इसका कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता कि रति आदि उपाधि रूप ही हैं। दूसरे, अन्य लोगों का मत यह है कि रति आदि गुण रूप हैं अतः उन्हें ही गुण माना जाना चाहिए। नियमानुसार एक ही गुण में अन्य गुण विद्यमान नहीं रह सकते। ऐसा होते हुए भी शृंगारादि को जो मधुरादि कहा गया है वह केवल इस कारण कि द्रुति आदि चित्तवृत्तियाँ ही जब किसी रस आदि के साथ प्रयोजकता सम्बन्ध रखती हैं तभी उन्हें माधुर्य कहा जाता है। द्रुति आदि चित्तवृत्तियों के रसों में न रहने पर भी रसों को केवल इसलिए माधुर्य-युक्त कह दिया जाता है कि जिस प्रकार असगंध औषध के खाने से शरीर में गर्मी आती है और इसी आधार पर उसे ही गर्म बता दिया जाता है उसी प्रकार शृंगारादि माधुर्यादि के 'प्रयोजक होने, के

१—य भी माधुर्योजःप्रसादा रसमात्रधर्मतयोक्तस्तेषां रसधर्मत्वे किं मानम्। प्रत्यक्षमेवेति चेत्। न दाहादेः कार्यादनलगतस्योष्णस्पर्शस्य तथा भिन्नतयानु भवप्रतयाद्रुत्यादिचित्तवृत्तिभ्यो रस कार्येभ्योऽन्येषां रसगतगुणानामननुभवात्। —र० गं०, पृ०५४।

कारण मधुर कहे जाते हैं। इस प्रयोजकता का सम्बन्ध शब्द, अर्थ, रस तथा रचना, सभी, से मानना चाहिये। तात्पर्य यह कि माधुर्य शब्द तथा अर्थ में भी, रहता है अतः उपचार स्वीकार करने की आवश्यकता ही नहीं है[२]।

पण्डितराज की बात से और चाहे जो भी खण्डन मण्डन होता हो, इतना उन्होंने भी स्वीकार किया ही है कि गुण रस से सम्बन्ध रखते हैं। दूसरी ओर, आनन्द भी शब्दार्थ के सम्बन्ध में गुणों को स्वीकार कर लेते हैं भले ही उपचार से ही स्वीकार करें। इस प्रकार मतवैभिन्य होते हुए भी एक दूसरे की बात को स्वीकार करने की प्रवृत्ति दोनों में लक्षित होती है। दोनों ही साधारण व्यवहार के पक्षपाती हैं।

डा० नगेन्द्र रस तथा गुण का पौर्वापर्य— गुण तथा रस के सम्बन्ध में हिन्दी में डा० नगेन्द्र ने यह प्रश्न उपस्थित किया है कि रस या गुण में किसी दूसरे का पूर्ववर्ती स्वीकार किया जाय। दूसरे रूप में प्रश्न यह है कि रस गुण पर आश्रित रहते हैं अथवा गुण रस पर। उनका कथन है कि मनोविज्ञान की दृष्टि से तो दोनों ही चित्तवृत्तियां मात्र हैं। इन चित्तवृत्ति आदि को पूर्णतः आह्लाद रूप नहीं कह सकते। यहाँ काव्य-वस्तु भावतत्त्व की स्थिति को पार कर भोक्तृत्व की ओर बढ़ रहा है। अभी उसमें वस्तु-तत्त्व नि:शेष नहीं हुआ। और स्पष्ट शब्दों में हमारी चित्तवृत्तियाँ उत्तेजित होकर अन्विति की ओर बढ़ रही है[३]। वे, पुनः कहते हैं कि—गुण को अनिवार्यतः आह्लाद रूप न मानकर केवल चित्त की एक दशा ही माना जाए, तो उसे सरलता से रसपरिपाक की प्रक्रिया में रस-दशा से ठीक पहली स्थिति माना जा सकता है। जहाँ हमारी चित्तवृत्तियाँ पिघलकर, दीप्त होकर, या परिव्याप्त होकर अन्विति के लिए तैयार हो जाती हैं[४]।

साराश यह कि नगेन्द्र के अनुसार गुण रस के पूर्ववर्ती है। बात है कि कवि के भाव ही काव्य के रूप में अवतरित होते हैं। कवि अपने भावों को पात्रों के सहारे व्यक्त करता है। भावजागृति के अनन्तर कवि के मन की तदनुरूप अवस्था हो जाती है। इस अवस्था को ही गुणात्मक कहा जायगा। कवि की चित्तद्रुति आन्तर है अथवा इसे विषयीगत कहा जा सकता है। चित्तद्रुति का नाम ही है माधुर्य-गुण। चित्तद्रुति के परिणामस्वरूप कवि के द्वारा की गई शब्द योजना ही माधुर्यगुण है अथवा कहना चाहिए उसका व्यक्त स्वरूप है। चित्तद्रुति के प्रभाव से कवि भावलीन अवस्था में रचना में प्रवृत्त रहता है और उसी के समान पाठक भी द्रवीभूत होकर ही रचना का आस्वाद करता है उस रचना के माधुर्य का अनुभव करता है। इसी प्रकार रौद्रादि का वर्णन

(शेष पृष्ठ २२ पर)

१—नाद्यगुणविशिष्टरसानां द्रुत्यादिकारणत्वात्कारणतावच्छेदकतया गुणानामनुमानमिति चेत्। प्रातिस्विकस्वरूपेणैव रसानां कारणतोपपत्तौ गुणकल्पने गौरवात्। शृंगार करुण शान्तानां माधुर्यवत्वेन द्रुतिकारणत्वं प्रातिस्विकरूपेण कारणत्व-कल्पनापेक्षया लघुभूतमिति तु न वाच्यम्। परेण मधुरतरादिगुणानां पृथग्द्रुतत्वादिकार्यतारतम्यप्रयोजकतान्युपगमेन माधुर्यवत्वेन कारणताया गुरुभूतत्वात्। —र० ग०, पृ० ५४-५५।

२—किं चात्मनो निर्गुणतयात्मरूपस्य गुणत्वं माधुर्यादीनामनुपपन्नम्। एवं तद्गुणविरत्यादि गुणत्वमपि। मानाभावात्। परस्परस्य गुणे गुणान्तरस्यानौचित्याच्च। अथ शृंगारो मधुर इत्यादि व्यवहारः कथमिति चेत्। एवं तर्हि द्रुत्यादिचित्तवृत्तिप्रयोजकत्वम्, प्रयोजकतासम्बन्धेन। द्रुत्यादिकमेव वा माधुर्यादिकमस्तु। व्यवहारस्तु दाक्षिणधीष्मोति व्यवहारवदत्रन। प्रयोजकत्वं चादृष्टादिविलक्षणं शब्दार्थरसरचनागतमेव ग्राह्यम्। अतो न व्यवहारातिप्रसक्तिः। तथा च शब्दार्थयोरपि माधुर्यादेरीदृशस्य सत्त्वादुपचारो नैव कथ्यः इति तु माहया। —पृ० ५५, वही।

३—द्रष्टव्य, रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० १११।

४—वही „ „ पृ० १११-११२।

डिंगल पर पुनर्विचार

[प्रो० मोहनलाल जिज्ञासु, एम० ए० एल एल० बी०]

नामकरण :—आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों ने राजस्थान प्रान्त की भाषा का नाम 'राजस्थानी' दिया है। वर्तमान समय में यह इतना प्रचलित है कि प्राय सभी भाषा-तत्त्व विशारद इसे इसी नाम से सम्बोधित करते हैं। किसी भाषा का नामकरण देश, प्रान्त अथवा उसकी किसी उपभाषा के नाम पर होता है। इस दृष्टि से चूँकि राजस्थान प्रान्त का नाम आधुनिक है, एतदर्थ उसकी भाषा का नाम 'राजस्थानी' भी आधुनिक है। इसके अन्य समानार्थी नामों को पढ़-सुनकर सदेह में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं दिखाई देती। प्राचीन काल में इस प्रदेश की भाषा का नाम 'मरुभाषा था और मध्यकाल में इसका नाम 'डिंगल' पड़ा। मरु प्रदेश की भाषा का नाम 'मरुभाषा' पड़ना स्वाभाविक ही था। तत्कालीन लेखकों ने इसका प्रयोग मारु-भाषा, मुरधर भाषा, मरुदेशीया भाषा आदि के नाम से किया है। ८ वीं शताब्दी में उद्द्योतन सूरि ने 'कुवलय माला' नामक ग्रथ में जो अठारह देश भाषायें गिनाई हैं, उनमें मरुदेश की भाषा का भी उल्लेख है। १७ वीं शताब्दी म अबुलफजल ने 'आईने अकबरी' मे प्रमुख भारतीय भाषाओं मे 'मारवाड़ी' को भी गिनाया है। राजस्थान का एक वृहत भू-भाग मरुस्थल होने के कारण इसका नाम 'मरुभाषा' होना युक्तिसगत ही है। कोई आश्चर्य नहीं, प्राचीन काल में मरुभाषा' का अर्थ मारवाड़ी से ही लिया जाना रहा हो, क्योंकि प्रथम तो राजस्थानी की सबसे बड़ी शाखा यही है, द्वितीय इसका साहित्य भी अत्यन्त विस्तृत है। ग्रियर्सन ने तो मारवाड़ी को डिंगल से मिला दिया है। प्राचीन साहित्य का मन्थन करने पर भी डिंगल शब्द का प्रयोग देखने मे नहीं आता। ठाकुर रामसिंह, सूर्य करण पारीक और नरोत्तमदास स्वामी डिंगल नाम को उतना प्राचीन नहीं मानते, जितना मोतीलाल मेनारिया मानते हैं। साहित्य में डिंगल शब्द के आविर्भाव के साथ ही पिंगल शब्द का प्रयोग किया जाने लगा है। १२ वीं शताब्दी में डिंगल की बड़ी धूम थी। उस समय में जब ब्रज-बोली (पिंगल) का आविर्भाव हुआ और उसमें साहित्यिक रचनायें लिखी जाने लगीं, तब इन दोनों भाषाओं के बीच पार्थक्य रेखा खींचने के लिए डिंगल के नाम साम्य पर पिंगल शब्द के गढ़ने की विशेष आवश्यकता हुई प्रतीत होती है। कहा जा सकता है कि जैसे, ब्रजभाषा का ठेठ रूप पिंगल है, वैसे ही राजस्थानी का ठेठ रूप डिंगल है। इस दृष्टि से डिंगल को राजस्थानी का मध्यकालीन रूप समझना चाहिए। मरुभाषा नाम तो उससे भी प्राचीन है। ये दोनों शब्द एक ही भाषा के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। वस्तुतः मरुभाषा और डिंगल एक ही है। अस्तु,

मुसलमानी शासन-काल में जब इस प्रान्त का नाम 'राजपूताना' पड़ा, तब इसके नाम-साम्य पर 'राजपूतानी' नाम निरर्थक सिद्ध हुआ। सम्भवतः तत्कालीन लेखकों को पिंगल शब्द के समान ध्वन्यात्मक शब्द की रचना करने की इच्छा प्रबल हुई हो और पिंगल के 'प' वर्ण के स्थान में 'ड' की स्थापना द्वारा डिंगल नाम पड़ा हो। यह राजस्थानी भाषा की एक विशेषता है, इसलिए 'डिंगल' कहने से ही कुछ सन्तोष हो सकता था। डिंगल नाम देने में चारण लेखकों का हाथ अवश्य होना चाहिए, क्योंकि राजस्थानी साहित्य पर चारणों का ऋण सबसे अधिक है। यही कारण है कि वे अपनी भाषा और साहित्य को अन्य जातियों से पृथक् मानते आये हैं और दावा करते हैं कि डिंगल साहित्य उनकी जातीय सम्पदा है। इसके लिए उन्हें अन्य नामों की अपेक्षा डिंगल नाम अधिक प्रिय लगा। जैसे जैसे राजस्थानी के शब्दों का रूप परिवर्तित होता गया, वैसे वैसे वह परिमार्जित होती गई और साहित्यिक रचनाओं के लिए प्रयुक्त होने लगी। सामन्त-काल का सहयोगी चारण साहित्य वीर-रसात्मक होने के कारण उसमें कर्कश शब्दावली के लिए विशेष रूप से तोड़ मरोड़ करनी पड़ी, जिसका नाम पड़ा 'डिंगल'। इस तथ्य को स्वीकार कर लेने

पर डिंगल को राजस्थान की भाषा नहीं कहा जा सकता, यद्यपि किसी समय यहाँ इसकी प्रधानता अवश्य रही थी। चारण कवि जहाँ एक ओर शब्दों के साथ मनमानी कर अपना 'टींग' हाँक सकते हैं, वहाँ दूसरी ओर रूढ़ि का पालन करते हुए सामूहिक रूप से राजस्थानी साहित्य में अपना पृथक् अस्तित्व भी घोषित करते हैं। इसी डिंगल का आधुनिक नाम राजस्थानी पड़ गया है। संक्षेप में ये पृथक् २ भाषायें न होकर एक ही भाषा के भिन्न २ नाम हैं, जो देश-काल के अनुसार परिवर्तित होते गये हैं। इस प्रकार यद्यपि समय २ पर मरु भाषा डिंगल और राजस्थानी नाम अवश्य प्रचलित हुए तथापि इनका तात्पर्य केवल एक भाषा से ही है। अनेक दृष्टियों से 'राजस्थानी' नाम विशेष आकर्षण रखता है, अतएव 'राजस्थानी' नाम का प्रयोग ही अधिक होना चाहिए। कर्नल टाड ने कुछ सोच-समझकर ही 'राजस्थान' नाम दिया था। अब भाषा के लिए प्रान्त के नाम पर 'राजस्थानी' नाम की उपेक्षा करना ठीक नहीं।

कतिपय शंकाओं का समाधान :—डिंगल भाषा के सम्बन्ध में दो शंकाओं का होना स्वाभाविक है। एक, डिंगल और पिंगल काव्य रचना की दो शैलियाँ हैं तथा दूसरी, डिंगल चारणों की कृत्रिम भाषा है। जो विद्वान डिंगल और पिंगल को काव्य रचना की दो शैलियाँ मानते हैं, यह उनकी भूल है। उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि राजस्थान के चारण कवियों ने अपने काव्य की रचना दो प्रकार की भाषाओं की है, जो डिंगल और पिंगल के नाम से प्रसिद्ध हैं। भाषा-वैज्ञानिकों ने भी इस सत्यता का अन्वेषण किया है और इन्हें दो भिन्न भिन्न भाषायें स्वीकार किया है। यदि डिंगल और पिंगल को थोड़ी देर के लिए दो शैलियाँ मानकर विचार किया जाय तो प्रश्न यह उठता है कि ये एक भाषा की दो शैलियाँ हैं या भिन्न भाषाओं की ? स्पष्ट है, ये एक ही भाषा की दो शैलियाँ नहीं हो सकतीं। वस्तुतः अपभ्रंश से उत्पन्न इन दोनों बोलियों में साम्यतायें अधिक और अन्तर न्यून है। सम्भव है, मध्यकाल (पूर्वार्द्ध) तक डिंगल में पिंगल शब्दों के प्रयोग से यह भ्रम उत्पन्न हुआ हो, किन्तु आगे चलकर डिंगल और पिंगल दोनों ही स्वतन्त्र रूप से विकसित होती रही हैं। केवल कुछ शब्दों को लेकर यह आपत्ति उठाना ठीक नहीं।

जो विद्वान डिंगल को चारणों की कृत्रिम भाषा समझते हैं, वे इसके उद्देश्य मार्ग से अपरिचित हैं। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक वैसे तो राजस्थानी साहित्य के निर्माता राजपूत, भाट, मोतीसर, ढाढी आदि कई जातियों के लोग रहे हैं, लेकिन इसके विकास, पोषण और उन्नयन में चारणों का विशेष हाथ है। इसका प्रमुख कारण यह है कि चारणों ने पैतृक कर्म के निर्वाह हेतु डिंगल साहित्य की सेवा की है, अन्य जातियों का उद्देश्य अधिकांश में मनोविनोद होने के कारण उनका झुकाव व्यावहारिक भाषा की ओर अधिक पाया जाता है। ऐसी अवस्था में अन्य जातियों की भाषा को हम शुद्ध डिंगल नहीं कह सकते। ऐसी रचनायें शनैः शनैः डिंगल के मूल रूप से दूर हटती गई। चारण कवियों में, जो जीविका निर्वाह के लिए परम्परा से लिखते आते हैं, डिंगल साहित्य का प्रकृत रूप देखा जा सकता है, क्योंकि इन्होंने प्राचीन प्रथा और काव्य-परिपाटी का कट्टरता से पालन किया है। इस प्रकार जैसे २ सामान्य जनता डिंगल-काव्य के मर्म को समझने में असमर्थ होती गई, वैसे २ डिंगल पर कृत्रिमता का आरोप चढ़ता गया। कहने का अर्थ यह कि डिंगल चारणों की कृत्रिम भाषा नहीं है। वह परम्परा से चली आती हुई भाषा का एक विकसित, कलात्मक एवं महान रूप है। संक्षेप में, डिंगल को राजस्थानी का पर्याय मानकर उसे साहित्यिक अर्थ में ग्रहण करना चाहिए।

डिंगल और पिंगल का भेद :—राजस्थान के चारणों ने डिंगल और पिंगल दोनों भाषाओं में काव्य रचना की है। कहीं २ एक ही कवि ने दोनों भाषाओं का प्रयोग किया है। इतना ही नहीं, कहीं कहीं एक कवि की रचना में एक ही स्थल पर इन दोनों भाषाओं के शब्द देखने को मिलते हैं, जिससे इस बात का निर्णय करना कठिन हो जाता है कि इनका यथार्थ

वि० सं० १६१४ की क्रान्ति के पहिले राजपूताना और मध्यभारत के राज्यों में डिंगल (जिसमें अधिकांश चारण-कवियों ने कविता रची है) का बड़ा दौर दौरा था। 'उस समय की डिंगल की उन्नति की तुलना में ब्रजभाषा का नामोल्लेख करना डिंगल का अपमान करने के समान है। विक्रम की १३ वीं या १४ वीं शताब्दी के प्रारम्भ से लेकर १६ वीं शताब्दी के अंत तक इस भाषा के साहित्य में इन छः सौ वर्षों की घटनाओं का ही उल्लेख है।' यद्यपि डिंगल और पिंगल के बीच सीधी रेखा नहीं खींची जा सकती, फिर भी कहा जा सकता है कि पिंगल १३ वीं शताब्दी के आस पास डिंगल से पृथक् हुई होगी। यह बात निश्चित है कि १६ वीं शताब्दी में पिंगल का प्रभाव डिंगल पर पड़ने लग गया था। कम से कम इन तीन शताब्दियों तक डिंगल का एकाधिपत्य अवश्य रहा।

डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति —भारत की आधुनिक आर्यभाषाओं में राजस्थानी को एक पहेली का रूप दे दिया गया है इससे आत्मीय परिचय न होने के कारण अनेक लेखकों ने 'डिंगल' के साथ अन्याय भी खूब किया है। 'अपनी २ ढपली, अपना २ राग' के अनुसार भिन्न २ विद्वानों ने भिन्न २ मत मतान्तर उपस्थित किये हैं। अपभ्रंश से उत्पन्न होकर मरु भाषा आगे चलकर डिंगल के नाम से कब, क्यों और कैसे प्रसिद्ध हुई, इन प्रश्नों का उत्तर इसकी व्युत्पत्ति जान लेने पर आसानी से दिया जा सकता है। कुछ प्रमुख मत उपस्थित करने वालों में एल० पी० टैसीटोरी, हर प्रसाद शास्त्री, गजराज ओझा, प्रतापनारायनसिंह अयोध्या नरेश, मोतीलाल मेनारिया, कवि राजा मुरारिदान आदि के नाम उल्लेखनीय है। टैसीटोरी तो विदेशी थे, अतएव उन्होंने डिंगल शब्द का अर्थ ब्रजभाषा की परिपक्व अवस्था में 'अनियमित' (गँवारू) से ले लिया तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। हर प्रसाद शास्त्री ने एक बात अवश्य ठीक कही और वह है 'डगल' से पिंगल की तुक मिलाने के लिए 'डिंगल' का प्रयोग। इससे यदि शास्त्री जी यह निष्कर्ष निकालें कि डिंगल साहित्य 'डगल' (मिट्टी के ढेले अथवा अनगढ़ पत्थर) की तरह है, तो वे इस साहित्य से अपनी अनभिज्ञता का ही परिचय देते हैं। गजराज ओझा ने कतिपय रचनाओं में 'ड' वर्ग की प्रचुरता देख पिंगल के नाम साम्य पर इसे 'डिंगल' कहना समीचीन समझा, लेकिन अनेक रचनायें 'ड' की विशिष्टता से शून्य हैं, उसमें वर्ण विशिष्टता के स्थान पर छन्द एवं अलंकार शास्त्र की दृष्टि से निजी विशेषतायें अवश्य पाई जाती हैं। प्रतापनारायणसिंह अयोध्या नरेश ने डिंग + गल = डिंगल करके महादेव को वीर रस के देवता मानकर तथा डमरू में उत्साह वर्द्धक ध्वनि सुनकर त्रुटि की है, फिर भी उनके तर्क से डिंगल साहित्य के भावार्थ को समझने में कुछ सहायता अवश्य मिलती है क्योंकि ऊंचे स्वर से बोली जाने वाली भाषा का युद्धों में वीरों को प्रोत्साहन देने का भाषा से बड़ा भारी सामर्थ्य है। वीर रस की प्रथम प्रतिष्ठा इसी ऊँची आवाज से हुई है यह हमें स्मरण रखना होगा। मोतीलाल मेनारिया ने चारण जाति का यथार्थ मूल्यांकन न कर उसे भाटों की पंक्ति में बिठा दिया है। उनके अधिकांश वर्णन अत्युक्ति पूर्ण कहना ठीक नहीं। साहित्य में अत्युक्तिपूर्ण वर्णन कोई नई बात नहीं। यह सच है कि वैभव के चकाचौंध में व्यवसाय कुशल चारणों को कुछ अधिक ही दिखाई दिया, पर सर्वत्र उन्होंने डींग ही हाँका हो, ऐसा भी तो नहीं कहा जा सकता। कुछ ऐसे ही छोटे-मोटे तर्क पंडित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, श्याम सुंदर दास, राम कर्ण आसोपा, ठाकुर किशोरसिंह, कविराजा मुरारिदान आदि ने भी उपस्थित किये हैं, लेकिन वे अधिक मूल्यवान नहीं हैं।

निष्कर्ष —उपर्युक्त विद्वानों ने डिंगल के सम्बंध में जो वाद विवाद खड़ा किया है वह अधिकांश में निरर्थक दिखाई देता है। पिंगल संस्कृत के अनुसार सदैव से नियम बद्ध है, जिन्हे छोड़कर कवि अपनी इच्छानुसार चल नहीं सकता है, इसलिए चारण पिंगल को पांगली (पंगुभाषा) कहते है। इसके प्रतिकूल डिंगल में इस प्रकार के नियमों का अभाव है। व्याकरण की दृष्टि से कवि को जितनी स्वतन्त्रता डिंगल

म है, उतनी पिंगल में नहीं। शायद इसीलिए चारण कवि डिंगल को उड़ने वाली भाषा मानते हैं। मरु प्रदेश संस्कृत के केन्द्र स्थान से दूर होने के कारण उस पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ सका। संक्षेप में वह भाषा जो संस्कृत के प्रभाव से मुक्त है, ब्रजभाषा के व्याकरण, छंदशास्त्र तथा साहित्य सम्बन्धी नियमों से स्वतन्त्र है, डिंगल कहलाई। डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति इसी अर्थ में होनी चाहिए। मरुभाषा में डगल (ढगल) मिट्टी के नैसर्गिक बने हुए ढेले को कहते हैं, जिस पर कोई कारीगरी नहीं होती, किन्तु उस पर इच्छानुसार चित्रण किया जा सकता है। उसी प्रकार डिंगल भी मानो मिट्टी के ढेले अर्थात् अपने अनगढ़ रूप में है, जिस पर साहित्यिक नियमों की पोलिश नहीं है और यदि दिखाई भी देती है तो पिंगल की तुलना में उसका रंग अत्यन्त फीका है। उदयराज उज्ज्वल ने 'डग' से तात्पर्य 'पक्षी की पाँख और 'ल' का 'लिये हुए' से लेकर इसका अर्थ पक्षियों की भाँति स्वच्छंदता से उड़ान भरने वाली भाषा से लिया है, जो इसके भावार्थ को समझाने में हमारी पर्याप्त सहायता करता है। डिंगल पर विचार करते समय इस प्रकार की विशेषताओं को ध्यान में रखना आवश्यक है और तभी इसका सही रूप स्थिर किया जा सकता है।

(शेष पृष्ठ ४ का)

का ढेर लगता रहा है तो दूसरी ओर यथार्थ चित्रण के नाम पर जुगुप्साजनक रचनाओं की बाढ़ सी आ गई है।

महान् कलाकारों की रचनाओं में सदैव सत्य की एक ऐसी अखंड दीप्ति मिलती है, जिसके प्रकाश में हम जीवन के समुज्ज्वल रूप और मानवीय महिमा का आभास पा सकते हैं। कोई कवि जब अपनी रचना में किसी महान चरित्र का अवतारण करता है तो उस चरित्र की महाप्राणता स्रष्टा के व्यक्तित्व से ही प्राप्त होती है एवं अपने व्यक्तित्व की यह महाप्राणता पात्रों के माध्यम से वह अपने पाठकों में वितरित करना चाहता है। इस प्रकार जिस कलाकार ने जीवन को जितनी निकटता से देखा और उसका जितना बड़ा अंश स्वयं ग्रहण किया है अपनी रचना के द्वारा वह उतनी ही बड़ी प्रेरणा अपने पाठकों या दर्शकों को दे सकता है और उसी अनुपात में उसकी कला के उत्कर्षापकर्ष का निर्णय किया जा सकता है।

सृष्टि के प्रारम्भ से अब तक का इतिहास मनुष्य की निरंतर प्रगति और वर्द्धिष्णु चेतना का इतिहास है। अनेक बार अनेक भौतिक और अधिभौतिक व्यथाओं में फँस कर, अनेक अवर्तन चक्रों में पिसकर भी मनुष्य बराबर आगे बढ़ता ही आया है। विविध दुस्साहसिक कार्यों आश्चर्यजनक आविष्कारों और सौंदर्यमय सृष्टियों द्वारा उसने अपनी इसी जययात्रा की गाथा लिखी है। कला क्षेत्र के अनेक प्रयोग भी उसके इसी अभियान के स्मारक हैं। उसने असुंदरता के बीच में रह कर सुन्दरता का संधान किया है, असंतुलन में संतुलन ढूँढ़ने का प्रयास किया है, असंगतियों के मध्य संगति की साधना की है। दक्षिण भारत के भव्य और विशालकाय मंदिर तथा मिस्र के घनावृष्टि पिरामिड, यूनान और रोम की सुरम्य देव प्रतिमाएँ, अजंता एलोरा के रंगीन भित्तिचित्र, भारतीय तथा जर्मन संगीतज्ञों की भावपूर्ण उद्गीतियाँ और वाल्मीकि और व्यास होमर और दांते, शेक्सपियर और मिल्टन, सूर और तुलसी के उत्कृष्ट काव्य ग्रंथ इस सत्य के ही प्रखर-मुखर साक्षी हैं। इस प्रकार कला न तो वास्तविक जीवन की जड़ अनुकृति है और न उससे सर्वथा तटस्थ किसी कल्पना लोक की स्वैर-विहारिणी भी मेनका ही। वह जीवन की दोपहरी में खिला बंधूक का अरुणाभ पुष्प है, मानव जीवन, जो स्वयं अपूर्ण एवं रिक्त है, उसकी अपूर्णता और रिक्तता को दूर करने का एक सौंदर्यमय प्रयास। वह मानव की स्वयं को स्थापित करने की दुर्दमनीय चेष्टा का ही दूसरा नाम है और अपने इसी रूप में न केवल वह विगत कल का अविस्मरणीय स्थिर आख्यान है, बल्कि आगत कल का अक्षय और चिरनवीन प्रेरणा भी।

महाकाव्य

[प्रो० हंसराज अग्रवाल एम० ए०, पी० ई० एस०]

महाकाव्य और समाज का पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि आप किसी राष्ट्र अथवा जाति की भावनाओं, महत्त्वाकांक्षाओं, और उच्चादर्शों का अथवा उसकी सभ्यता और संस्कृति का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं तो उस राष्ट्र अथवा जाति के उस युग के महाकाव्य रूपी दर्पण में देखें। यदि समय के प्रभाव से वह कलुषित नहीं हो गया है तो उस में आपको सही चित्र दृष्टिगोचर हो जायगा। महाकाव्य स्वभाव से ही विषय प्रधान होता है। इसकी प्रमुख विशेषता यह है कि इसका सीधा सम्बन्ध बाह्य संसार से होता है, अतएव यह वर्णनात्मक होता है। महाकाव्य में राष्ट्र अथवा जाति का समूचा जीवन प्रतिबिम्बित होता है। इसमें महाकवि का व्यक्तित्व परिलक्षित नहीं होता। रामायण और महाभारत पढ़ने से हमें तत्कालीन भारत के ही दर्शन होने लगते हैं। हिमालय और गंगा की भान्ति ये हमें विशेष रूप से प्रभावित करते हैं। व्यास और बाल्मीकि के स्पष्ट दर्शन हमें उनमें नहीं होते।

स्वभाव से ही महाकाव्य में सामाजिक चेतना उत्पन्न करने की अद्भुत शक्ति निहित रहती है। हमारे देश में रामायण और महाभारत ने जो प्रभाव सर्व साधारण पर डाला है वह सर्व विदित है। इसी प्रकार यूनान, इटली तथा इङ्गलैंड का सामूहिक जीवन क्रमशः उनके महाकाव्यों इलियड-ओडीसी, वर्जिल तथा दिवीनकॉमेडी आदि में प्रतिबिम्बित होता है। उन देशों में जातीय जीवन तथा सभ्यता और संस्कृति का तत्कालीन परिचय हमें इन विषयप्रधान काव्यों के अवलोकन से मिलता है।

यथार्थ महाकाव्य का उद्भव मानव जीवन की आदिम अवस्था में होता है। ऐसे युग में प्रत्येक व्यक्ति अपने भविष्य का निर्माता स्वयं होता है। मनुष्य में निडरता, सहनशीलता और साहसप्रियता आदि प्राकृतिक गुणों की अधिकता होती है। संस्कृति और सभ्यता प्रायः अविकसित अवस्था में होती हैं। मार्ग में आने वाली प्राकृतिक बाधाओं के साथ संघर्ष करना मानव का धर्म होता है। व्यक्तिगत वीरता के कार्यों में आकर्षण होता है तथा देवी देवताओं के प्रति श्रद्धा होती है। समाज की यह अवस्था यथार्थ महाकाव्य के उद्भव और विकास के लिए बहुत अनुकूल होती है। महाकाव्य का विषय ऐसा होता है कि रङ्क से ले कर राजा तक सब उसमें आनन्द ले सकते हैं और उस से लाभ उठा सकते हैं। प्रत्येक जीवन के लिए अधिक से अधिक उपयोगी सामग्री से अपनी रचना को सज्जित करना प्रत्येक महाकवि का धर्म है। इसी कारण महाकाव्य की अभिव्यक्ति सामाजिक चेतना के रूप में हमारे सामने विशेष रूप में आती है।

भारतीय साहित्य में बाल्मीकि की रामायण और व्यास का महाभारत यथार्थ महाकाव्य के सुन्दर उदाहरण हैं। महाभारत में अपेक्षाकृत काव्यीय गुणों की न्यूनता तथा ऐतिहासिक अंश की अधिकता है अतः इसे इतिहास आख्यान नाम से भी स्मरण किया जाता है। मानव जीवन के कल्याण की कोई ऐसी समस्या नहीं जिसका रामायण और महाभारत में उल्लेख न हो। ये दोनों महाकाव्य हजारों वर्षों से न केवल भारतीय जीवन को, अपितु मनुष्य मात्र के जीवन को अनेक विधाओं से प्रेरित और प्रभावित करते चल आ रहे हैं, अनेक प्रकार से उसे स्फूर्ति प्रदान करते रहे हैं। इनका 'सर्व भूत हिते रत.' (प्राणी मात्र का कल्याण हो) का स्वर्ण सूत्र विश्व शान्ति के लिए आज भी इतना ही उपयोगी है जितना कि हजारों वर्ष पूर्व। विश्व की अनेक भाषाओं उपभाषाओं में इनके अनुवाद

हो चुके हैं। इनकी शिक्षाएं देश और काल के भेद से ऊपर हैं। अत यह कहने की जरा भी आवश्यकता नहीं कि मानव जीवन में सामाजिक चेतना उत्पन्न करने के लिए जितना काम इन दो महाकाव्यों ने किया है उतना और किसी ने नहीं।

इन दो महाकाव्यों के आधार पर संस्कृत साहित्य के शिरोमणि, *महाकवि कविकुलगुरु कालिदास* ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्यों रघुवंश और कुमारसम्भव की रचना की। महाकवि भारवि ने किरातार्जुनीयम् की, माघ ने शिशुपाल वध की, भट्टि ने रावण वध की और श्री हर्ष ने नैषधीय की। संस्कृत साहित्य में इन सभी महाकाव्यों का विशेष महत्त्व है। बौद्ध महाकवि अश्वघोष ने महात्मा बुद्ध के जीवन का आधार बना कर बुद्धचरित और सौन्दरानन्द इन दो महाकाव्यों की रचना संस्कृत में की। संस्कृत साहित्य में इन सभी महाकाव्यों का विशेष महत्त्व है।

रामायण महाभारत यथार्थ महाकाव्य हैं, उनमें मानव के प्राकृतिक गुणों का परिचय प्रचुर मात्रा में मिलता है, अत. उन्हें प्राकृतिक महाकाव्य भी कहते हैं। रघुवंश, शिशुपाल आदि उनके अनुकरण में लिखे गये हैं। अत ये आनुकारिक महाकाव्य कहलाते हैं। ये आनुकारिक महाकाव्य प्राकृतिक महाकाव्यों की अपेक्षा आकार प्रकार में छोटे हैं। विशेष भेद यह है कि ये महाकाव्य वस्तुतत्व में भी उनसे सर्वथा भिन्न हैं। रामायण और महाभारत में इनके रचयिताओं का व्यक्तित्व दृष्टिगोचर नहीं होता, परन्तु कालिदास, भारवि और माघ आदि की कृतियों में यह हमें विशेष रूप से प्रभावित करता है। इसी प्रकार हिन्दी के महाकाव्यों 'प्रियप्रवास' 'साकेत' और 'कामायनी' में हमें इनके रचयिताओं हरिऔध, गुप्त और प्रसाद के दर्शन स्थान स्थान पर होते हैं।

भारतीय काव्य मर्मज्ञों तथा पश्चिमीय काव्या लोचकों ने महाकाव्य के भिन्न भिन्न लक्षण दिये हैं। परन्तु यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से उन पर विचार करते हैं तो हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि दोनों के आदर्शों में विशेष अन्तर नहीं। प्रायः सभी को यह मान्य है कि महाकाव्य एक बृहदाकार वर्णन प्रधान काव्य है। इसमें व्यक्ति की अपेक्षा जातीय भावनाओं की प्रधानता होती है। इसका विषय परम्परा से आहृत और लोकप्रिय होता है। इसका नायक उच्च कुलीनोत्पन्न और धीरोदात्त प्रकृति का होता है। इसके प्रमुख पात्रों में शौर्य गुण की प्रधानता होती है। महाकाव्य के इन गुणों की जब अभिव्यक्ति होती है तो स्वभावतः वे मानव जीवन में चेतना का प्रमुख कारण बनते हैं। इस पृष्ठ भूमि के साथ हम हिन्दी के महाकाव्यों को विशेष रूप से लेते हैं।

हिन्दी के आदि-काल में हमें चन्द बरदाई के 'पृथ्वीराज रासो' के दर्शन होते हैं। निश्चय ही दोनों भारतीय और पाश्चात्य आचार्यों के लक्षणों के अनुसार 'पृथ्वीराज रासो' महाकाव्य की श्रेणी में रखे जाने के उपयुक्त है। यह ६९ समयों सर्गों में विभक्त है। इसका नायक पृथ्वीराज भारत के इतिहास में विख्यात वीर महापुरुष और अभिजात उच्चकुलोत्पन्न है। यह धीरोदात्त है। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने में हमें इसमें जातीय सभ्यता तथा संस्कृति की अभिव्यक्ति का अभाव दृष्टिगोचर होता है, इसकी घटनाओं का वर्णन भी असम्बद्ध है। इसके कथानक में सुसंगठितता भी नहीं है। इन्हीं कारणों से डा० श्यामसुन्दर दास ने इसे महाकाव्य न कह कर विशाल काय वीर काव्य कहना उचित समझा है।

भक्ति काल में हमें जायसी का 'पद्मावत' मिलता है और गोस्वामी तुलसीदास का रामचरित मानस। रामचरित मानस बृहदाकार होते हुए भी केवल सात काण्डों में विभक्त है, कुछ बहुत बड़े। इसमें अनेक रसों का सम्मिश्रण होते हुए भी यह शान्त रस प्रधान है। भारतीय काव्य मीमांसकों द्वारा दिये गए महाकाव्य के लक्षणों की इसमें काफी उपेक्षा की गई है। महाकवि को स्वयं अपने कवि होने पर कोई गर्व नहीं है। यह सब कुछ होने पर भी रामचरित मानस हिन्दी साहित्य

का सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य माना जाता है। महाकवि ने रामभक्ति से आच्छादित हो कर 'स्वान्तः' सुखाय लिखा है। कवि को इस बात का अच्छी प्रकार आभास है कि

जो प्रबन्ध बुध नहीं आदरहीं।
सो श्रम बादि बाल कवि करहीं॥

अतः उनने इसे सर्वांग सुन्दर और अधिकाधिक सरस बनाने का भरसक प्रयत्न किया है। स्त्री पुरुष, बाल वृद्ध अमीर गरीब, साधु असाधु, सब के कल्याण और लाभ के लिए इसमें पर्याप्त सामग्री मौजूद है। पिछली बत्तीस-तैंतीस दशाब्दियों से यह जन जन के हृदय को झंकृत करता चला आ रहा है। कौन ऐसा हिन्दी का विद्यार्थी होगा जिसे मानस की पाँच सात चौपाइयाँ कण्ठस्थ न हों और जो इन्हें झूम झूम कर पाठ करते हुए आनन्दविभोर न हो जाता हो। मानस की सर्वोत्कृष्टता को ध्यान में रखते हुए कुछ एक आलोचकों ने यह सुझाव दिया है कि हिन्दी में महाकाव्य के लक्षण का पुनर्निमाण रामचरित मानस के आधार पर होना चाहिए।

आधुनिक युग में महाकाव्य के लक्षणों का अनुसरण करते हुए हरिऔध ने प्रिय प्रवास की रचना की। इसका कथानक पुराणों से लिया गया है। यह भिन्न तुकान्त है और खड़ी बोली में हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है। इसमें १७ सर्ग हैं। इसकी बड़ी विशेषता है कि आधुनिक युग की परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार हरिऔध जी ने भगवान् कृष्ण जी के दिव्य अवतारी जीवन को लोकनायक और लोक रक्षक के रूप में चित्रित किया है और उनमें लोकसेवा की भावना को प्रदर्शित किया है। उदाहरणार्थ महावृष्टि के कारण जब ब्रज में प्रलय का-सा दृश्य उपस्थित हो जाता है, चारों ओर पीड़ित जनता त्राहि-त्राहि पुकारती है तब श्री कृष्ण स्वयं सेवकों के रूप में दीन हीन विधवाओं, निःसहाय वृद्धों और निर्बल ग्वालों की निस्स्वार्थ सेवा में जुट जाते हैं। हरिऔध जी लिखते हैं—

परम सिक्त हुआ वपु वस्त्र था
गिर रहा सिर ऊपर वारि था।
लग रहा अति उग्र समीर था।
पर विराम न था ब्रज बन्धु को॥
पहुँचते वह थे शर वेग से
विपद संकुल आकुल ओक में॥
तुरत थे करते वह नाश भी
प्रथित वीर समान विपत्ति का॥

'साकेत' में श्री मैथलीशरण गुप्त ने रामायण की कथा को कुछ भिन्न रूप में प्रस्तुत किया है। इसमें कवि ने काव्य की उपेक्षिता उर्मिला के त्याग को विशेष रूप से चित्रित किया है। कैकेयी कलंकित जीवन को इसमें काफी उठा दिया गया है। चित्रकूट में कैकेयी का पश्चाताप सौ सौ धाराओं में फूट कर द्रवित होता है, अतः वह हमारी हार्दिक सहानुभूति की पात्र बन जाती है, इसलिए कैकेयी की आत्म-ग्लानि का एक उदाहरण—

युग-युग तक चलती रहे कठोर कहानी—
रघुकुल में थी एक अभागी रानी।
निज जन्म जन्मे में सुने जीव यह मेरा—
धिक्कार उसे था महा स्वार्थ ने घेरा॥

गुप्त जी ने भगवान् राम के मुख से कैकेयी के सम्बन्ध में निम्न शब्द कहलवा कर राम और कैकेयी दोनों को चरित्र को कितना ऊँचा कर दिया है—

सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।
जिस जननी ने है जना भरत सा भाई॥

गुप्त जी के राम तुलसीदास जी के राम से भिन्न हैं, तुलसी के राम मनुष्य रूप में भी ब्रह्म हैं और गुप्त जी के राम ब्रह्म होकर भी मनुष्य हैं। संसार में उनके अवतरण का कारण देवताओं का हित साधन इतना नहीं था, जितना कि मानवता का प्रसार है। वह इस मर्त्य लोक को ही स्वर्ग बनाने आये हैं।

मैं आया उनके हेतु कि जो तापित हैं,
जो विवश, विकल, बलहीन, दीन, शापित हैं।
सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।

भगवान राम के जीवन का मुख्य उद्देश्य है भारतीय संस्कृति के महान आदर्शों का प्रचार प्रसार। वे स्पष्ट करते हैं।

मैं आर्यों का आदर्श बतलाने आया।

राष्ट्रीय एकता की महत्ता को गुप्त जी साकेत में इन शब्दों में व्यक्त करते हैं।

एक राष्ट्र न हो, बहुत से हों जहाँ,
राष्ट्र का बल बिखर जाता है वहाँ।
बहुत तारे थे अन्धेरा कब मिटा,
सूर्य का जाना सुना जब तब मिटा॥

ऐसा प्रतीत होता है कि उर्मिला के चरित्र से ही गुप्त जी को यशोधरा लिखने की प्रेरणा हुई। यशोधरा करुणरस प्रधान काव्य है। यशोधरा की वेदना का कारण यह नहीं कि वह त्याग दी गई है, अपितु यह कि स्वामी ने उसे अपने मार्ग में बाधक समझा। नारी की महत्ता को इस महाकाव्य में गुप्त जी ने अच्छा चित्रित किया है। स्वयं भगवान बुद्ध उसके द्वार पर जाकर उससे क्षमा याचना करते हैं और नारी की महत्ता को स्वीकार करते हैं।

माना, दुर्बल ही था गौतम छिप कर गया निदान,
किन्तु शुभे परिणाम भला ही हुआ, सुधा सन्धान।
क्षमा करो, सिद्धार्थ शाक्य की निर्दयता प्रिय जान,
मैत्री-करुणापूर्ण आज वह शुद्ध बुद्ध भगवान।
दीन न हो गोपे, सुनो, हीन नहीं नारी कभी,
भूत दया-मूर्ति वह मन से, शरीर से॥

आधुनिक युग में नूरजहां (गुरु भक्त सिंह) नल नरेश, 'हल्दी घाटी और' 'सिद्धार्थ' आदि कुछ सुन्दर महाकाव्यों की रचना हुई है। परन्तु जयशंकर प्रसाद का कामायनी महाकाव्य हमारे विशेष उल्लेख का अधिकारी है। इसका कथानक प्राचीनतम होने के कारण मानव मात्र से सम्बन्ध रखता है। इसमें हमें विराट् कल्पना, अगाध दार्शनिकता तथा अत्यन्त सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता के दर्शन होते हैं। इसमें महाकवि ने जीवन की भावनाओं का विशद विश्लेषण कर मानव जीवन की एक निश्चित मर्यादा को स्थापित करने का प्रयत्न किया है। चित्तवृत्तियों के वर्णन की सूक्ष्मता, आलंकारिक विधान और रस चित्रण में यह महाकाव्य अद्वितीय है परन्तु चिन्ता, आशा काम आदि सूक्ष्म भावनाओं के विवेचन के कारण यथा प्रवाह में शिथिलता आ गई है तथा रहस्यवादी प्रवृत्तियों के कारण अनेक स्थानों पर अस्पष्टता भी आ गई। कामायनी महाकाव्य न केवल भारतीय साहित्य में, अपितु विश्व साहित्य में भी एक विशिष्ट स्थान रखता है। सामाजिक चेतना को जागृत करने में जितना काम किसी महाकाव्य ने अधिक किया है, साहित्य में अपेक्षाकृत उतना ही उसका स्थान अधिक ऊँचा हो गया है।

तुलसीदास जी का दार्शनिक आधार

[श्री राजेन्द्र प्रसाद तिवारी, एम० ए०]

गोस्वामी तुलसीदास जी कवि ही नहीं थे, वे महान धार्मिक नेता भी थे। उत्कृष्ट तत्ववेता थे। उन्होंने धर्म के व्यापक रूप को पहचाना था और परपरागत दार्शनिक मत वादों का गहरा अध्ययन किया था। उनका काव्य धर्म और दर्शन से पुष्ट है और उनकी रचना ओं म धर्म और दर्शन के महान सिद्धान्तों को काव्य का रूप मिला है

विनय पत्रिका भक्ति काव्य का एक परमोत्कृष्ट ग्रन्थ है जिसमें हमारे हृदय के तारों को झकझोर देने वाले कितने ही अनूठे और अनुपम गीतों (पदों) का समावेश है। भक्तों के सरस हृदय को तो यह ग्रन्थ जीवन सवस्व हैं। भक्ति वाटिका के सौरभ-सवारी इन विभिन्न पुष्पों का रसास्वाद करते करते ही भक्त-भ्रमर बद्ध हो गये हैं। भक्ति रस की इस सरस-धारा में ज्ञानियों का भी ज्ञान बह जाता है। अत हमें अब देखना है कि भक्ति रस स सराबोर इस उत्कृष्ट ग्रन्थ में नि किन प्रचलित दर्शन तत्वों का प्रभाव पड़ा है।

इस सम्बन्ध में हमें प्रथम यह जान लेना चाहिये कि गोस्वामी जी मूलत भक्त हैं, दार्शनिक नहीं। परन्तु उन्होंने दर्शन सिद्धान्तों की शुष्क सूखी सरिताओं को अपने भक्ति की पावन गगा में इस प्रकार मिला लिया है कि उन शुष्क सूखी सरिताओं का अस्तित्व भक्ति गगा के विराट पाट म विलीन हो गया है। अत किसी के मत से वे विशिष्टाद्वैतवादी और किसी की सम्मति से अद्वैतवादी सिद्ध किये गये हैं। यह एक अत्यन्त मार्मिक दार्शनिक विषय है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तो उन्हें विशिष्टाद्वैत वादी घोषित करते हुए निम्न लिखित पद उद्धृत किया।

'सिया राम मय सब जग जानी। करौ प्रनाम जोरि जुग पानी"

जगत को केवल राममय न कह कर उन्होंने सिया राम मय कहा है। सीता प्रकृति स्वरूप है और ब्रह्म है, प्रकृति अचित पक्ष है और ब्रह्म चित पक्ष। अत पारमार्थिक चिदचिद्विशिष्ट है, यह स्पष्ट झलकता है। चित और अचित वस्तुत एक ही हैं, इसका निर्देश उन्होंने "गिरा अर्थ, जल बीच सम कहियत भिन्न, न भिन्न बन्दौं सीता राम-पद जनहिं परम प्रिय खिन्न॥ "कहकर किया है।

इसी वाद को रामानुजाचार्य और निम्बार्क ने परमेश्वरा द्वैतवाद भी कहा है। डा० रामरतन भट नागर ने गोस्वामी जी को मूलत शकरा द्वैतवादी माना है यद्यपि कई दृष्टि कोणों से गोस्वामी जी अद्वैतवादी विचारों से भिन्न हो जाते हैं। तुलसीदास जी ने शकर के ब्रह्म सत्य जगमिथ्या में से तो सत्य को माना है। परन्तु "जगमिथ्या' को नहीं माना है। तुलसीदास जी माया को भ्रम नहीं मानते। वे उसकी सत्ता को यथार्थ समझते हैं। माया का अपना अस्तित्व है। वह भगवान की शक्ति है। शकराद्वैत में माया की सत्ता भ्रम मूलक है। ब्रह्म से उसका कोई सबध नहीं है। तुलसीदास जी शकराद्वैत के केवल भेद-बुद्धि वाले ज्ञान को ही मानते हैं। तुलसीदासजी ज्ञान से इस भेद-बुद्धि का नाश उसी तरह से मानते हैं जिस तरह शकर ज्ञान से व्यावहारिक दशा का बोध हो कर मोक्ष प्राप्त स्वीकार करते हैं। परन्तु वे ज्ञान को ब्रह्म की अनुकम्पा (पुष्टि मार्ग) से जोड़ देते हैं। जाति के प्रयत्न से यह ज्ञान नहीं मिलता। यह तो आत्मानुभव है जो ईश्वर की कृपा बिना असभव है। इस प्रकार तुलसी का यह ज्ञान शकर के 'ज्ञान' से भिन्न है। अतएव शकर के "विवर्त वाद" के एक तत्वांश के आधार पर तुलसीदास जी को अद्वैतवादी कहना उतना ही भ्रममूलक है जितना कि शकर का मायावाद का सिद्धान्त विशिष्टद्वैतवादी या पुष्टवादी के लिये। अत तुलसीदास जी ज्ञान मार्गी नहीं, भक्तिमार्गी थे। इसलिये उन्होंने ज्ञान और भक्ति

इसकी तीसरी विशेषता है प्रतिकूल विषयों के लिए पर्याप्त मनोबल। गोस्वामी जी के हृदयवाद की पहली विशेषताएँ अनुराग के विवेचन में और तीसरी विशेषता वैराग्य के विवेचन में स्पष्ट ही परिलक्षित हो रही है।

इस प्रकार गोस्वामी जी बुद्धिवाद और हृदयवाद के विशुद्धतम रूप को ही प्रगट करके नहीं रह गये, वरन् उन्होंने उन दोनों का सुन्दर सामञ्जस्य भी किया है। तर्क और श्रद्धा का तथा विरक्ति और आसक्ति का उन्होंने बहुत ही अच्छा समन्वय किया है। यह उन्हीं की खूबी है कि उन्होंने जहाँ एक ओर सर्वोत्कृष्ट हृदयवाद को विवेक के सुदृढ़ आसन पर सम्थापित कर रखा है वहाँ दूसरी ओर चरम सीमा पर पहुँचे हुए बुद्धि वाद को वे वैराग्य की अचल अटल नींव से हिलने नहीं देते।

(४) वह सनातन हिन्दु धर्म का विशिष्ट रूप है। सनातन हिन्दु धर्म में भारतीय संस्कृति और मानव धर्म दोनों का मेल है। भारतीय संस्कृति के कारण तो वह हिन्दु राष्ट्रीयता स्थापित किए हुये है और मानव धर्म के सिद्धान्तों के कारण अनेक आघात सहकर भी अमर बना हुआ है। संसार के आगे इसकी वास्तविक महत्ता भारतीय संस्कृति के कारण नहीं किन्तु मानव धर्म के कारण है। वह मानव धर्म जिस खूबी और गहराई के साथ सनातन हिन्दु धर्म में व्यक्त हुआ है वह देखने और समझने की वस्तु है। गोस्वामी तुलसी दास जी कहते हैं —

सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमन्त।
मै सेवकु सचराचर रूप स्वामी भगवन्त॥

इतना ही नहीं वे इस निश्चय के अनुसार अखिल संसार के जड़ चेतन सभी पदार्थों को सम्मान देते हुए कह कहते हैं —

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
बन्दउँ सबके पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥

आकर चार लाख चौरासी। जाति जीव नभ जल थल वासी॥ "राम मय सब जग जानी। करउँ प्रणाम जोरि जुग पानी॥" इन विचारों वाला व्यक्ति निश्चय ही सचराचर रूप भगवान की सेवा में प्रवृत्त होकर यदि एक ओर 'सरल स्वभाव न मन कुटिलाई। यथा लाभ सन्तोष सदाई।" धारण करेगा तो दूसरी ओर —
'रमे ते राम चरन रत, विगत काम मद क्रोध।"

निज प्रभुमय देखहि जगत केहि सन करहि विरोध के तत्व को समझता हुआ मानवेतर जीवों को भी अपने स्वार्थ के लिए उत्पीड़ित न करना चाहेगा और सादगी वाले जीवन के साथ त्याग पूर्ण मार्ग में अभिरुचि रखेगा। यह हिन्दु धर्म का परम महत्वपूर्ण सिद्धान्त है।

(५) वह नकद धर्म है—

स्वामी रामतीर्थ ने अपने एक व्याख्यान में नकद धर्म और उधारी धर्म की सुन्दर विवेचना की है। जिस धर्म का प्रत्यक्ष फल इसी जन्म में न मिले उधार धर्म है। अज्ञात स्वर्ग के सुखों की आशा में इस लोक के कर्तव्यों को भुला बैठना बुद्धिमानी नहीं वह उदार धर्म की बात है। गोस्वामी जी ने इसलिए स्वर्ग के लालच को कभी प्रधान्य नहीं दिया उनका धर्म एक दम नकद धर्म है, क्योंकि वह न केवल सदाचार मूलक है वरन् उसमें साधुमत और लोकमत का सुन्दर सम्मेलन भी है। उसका प्रचार लोकहित की दृष्टि से किया गया है आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही कहा है कि — गोस्वामी जी की अभिमत हरिभक्ति वही है जिसका लक्षण शील है। और "शील" हृदय की स्थायी स्थिति है जो सदाचार की प्रेरणा आप से आप करती है।

संक्षेप में यह कह सकते हैं कि गोस्वामी जी न निरे अद्वैत वादी थे और न निरे विशिष्टाद्वैतवादी, और न उन्होंने उपयुक्त विषय के ग्रहण और अनुपयुक्त विषय को त्याग और असमान्य प्रयास ही अपनी अध्यात्मिक मान्यताओं के विषय में किया है।

यदि कोई सूर के श्याम, मीरा के गिरधर-गोपाल और कबीर के 'साहब' को पहिचानना चाहे तो मैं मुक्त कंठ से तुलसी के 'राम' का ही नाम लूँगा। यदि कोई सतियों में सीता, नदियों में गंगा, और मन्त्रों में गायत्री को मानता है तो मैं इस भक्ति मुक्तक काव्य में "विनय पत्रिका" को ही मानने को कहूँगा।

मीरा की भक्ति-भावना और उसकी प्रेरक-शक्तियाँ

[श्री सियाराम शरण प्रसाद, एम० ए०, साहित्य रत्न]

मीरा प्रेम का साक्षात अवतार थी। उसकी साधना "माधुर्य" भाव की थी क्योंकि उसे विश्वास था कि प्रभु प्रेमाधीन है "नीच कुल ओछी जात, अति ही कुचीलणी, जूठे फल लीन्हें राम, प्रेम की प्रतीत जान" और 'मीरा के प्रभु गहिर गंभीरा, सदा रहोजी धीरा। आधी रात प्रभु दरशण दे हैं, प्रेम नदी के तीरा।" नारद की दी हुई प्रेम की परिभाषा भी इसी प्रकार की है—"अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूपम्।" और "गुण रहित कामना रहित प्रतिक्षण वर्द्धमान विच्छिन्न सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्।"

आलवार कवयित्री गोदा की तरह यह स्पष्ट कहा करती थी 'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई। जाके सिर मोर मुकुट, मेरो पति सोई। क्योंकि उसे ज्ञान था 'माता पिता और कुटुम कबीलों, सब मतलब के गरजी। 'विद्यापति ने भी अन्तरावस्था में इसी तथ्य का अनुभव किया था 'तातल सैकत वारिबिन्दु सम सुतमित रमनि समाजे। तोहे बिसारि मन तोहे समरपिनु अब मझु हब कौन काजे।'

सचमुच मीरा और श्याम जैसा अन्योन्याश्रय सम्बन्ध भक्ति साहित्य में अलभ्य है। मीरा प्रेम का प्याला पीकर मात्र यही आकांक्षा रखती है" मैं तो गिरधर के आगे नाचूँगी।" प्रियतम श्याम की प्यास ने उन्मत्तावस्था कर दी है, उसे "पिया बिनि रह्यौ न जाई।" यह स्पष्ट शब्दों में कहता है "रमैया बिन नींद न आवै।" और "लगी मोहि राम खुमारी हो।" उसे नींद भी नहीं आती—

"सखी मेरी नींद नसानी हो।
पिय को पथ निहारते, सिगरी रैण बिहानी हो।
सब सखियन मिलि सीख दई, मन एक न मानी हो।
बिनि देख्यॉं कल नाहि पड़त, जिय ऐसी ठानी हो।
अंगिअंगि व्याकुल भई, मुखि पिय पिय बानी हो।
अन्तर वेदन विरह की वह पीड़ा न जानी हो।
ज्यूँ चातक घन कूँ रटै, मछरी जिमि पानी हो।
मीरा व्याकुल बिहरणी, सुध बुध बिसरानी हो।"

वह अपने प्रियतम की पुकार, पपीहे को करते सुनना नहीं चाहती क्योंकि प्रियतम उसका है, प्रियतम और अपने बीच दूसरों को आने देना नहीं चाहती—

"पपइया रे पिव की वाणी न बोल।
सुणि पावेली बिरहणी रे, थारी रालैली आँख मरोड़।
चाँच कटाऊँ पपइया रे, ऊपरि कालर लूण।
पिव मेरा मैं पीव की रे, तू पीव कहै सकूण।"

प्रियतम के दर्शन के अभाव में आँखें उसकी दुखने लगी हैं—"दरस बिन दूखण लागे नैन। जब के तुम बिछुरे प्रभु, मोरे, कबहुँ न पायो चैन।" सचमुच, विरह में बड़ा मार्मिक अवस्था है। वह प्रियतम को निमन्त्रण देता है—"गगन मंडल पै सेज पिया की" और "त्रिकुटी महल में बना है झरोखा, तहाँ से झाँकी लगाऊँगी। सुन्न महल में सुरत जमाऊँ, सुख की सेज बिछाऊँगी। मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, बार बार बलि जाऊँगी।" जब वह अपने प्रियतम को पत्र लिखने बैठती है तो उसकी विचित्र अवस्था हो जाती है—

"पतियाँ मैं कैसे लिखूँ, लिखही न जाइ।
कलम धरत मेरो कर कम्पत, हिरदो रह्यो घराँई।
बात कहूँ मोहि बात न आवै, नैन रहे झराई।"

और उसी श्याम के अभाव में पावस ऋतु उसके लिए, गोपियों की तरह, अत्यधिक कष्टप्रद हो जाती है—

मतवारो बादर आये रे, हरि को सनेसो कबहुँ न लाए रे।
दादुर मोर पपइया बोलें, कोयल सबद सुणाए रे।

(इक कारा अंधियारा बिजरी चमकै, बिरहणि अति डरपावे रे।
(इक) गाजै बाज पवन मधुरिया, मेहा अति झड़ लावे रे।
(इक) कारी नाग बिरह अति जारी, मीरां मन हरि भावे रे।"

वह प्रेम की ही पीर को ईसाई टेरेसा की तरह निरन्तर सहती रहती है। वह अपने प्रियतम के प्रेम की बात को किसी भी भय से छिपाना नहीं चाहती 'मैं अपणे सैंया सँग साँची। अब काहे का लाज सजनी, परगट ह्वै नाची।" गिरधर के संग नाचने में, उसे जरा भी संकोच या भय नहीं—

"पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे।
मैं तो मेरे नारायण की, आपहि हो गई दासी रे।
लोग कहै मीरां भई बावरी, न्यात कहै कुलनासी, रे।
विष का प्याला राणाजी भेज्या पीवत मीराँ हाँसी, रे।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, सहज मिले अविनासी रे।

उपर्युक्त उद्धृत पदों में चित्रित एवं व्यंजित अवस्था से प्रत्येक पाठक को यह भली भाँति विदित हो गया होगा कि भक्ति-काल की मीरा की भक्ति कृष्ण शाखान्तर्गत सगुण कोटि की उसमें 'मूल्य' आदि की भी चर्चा मिलती है जिससे निर्गुण का भी प्रभाव समझा जा सकता है। इस तथ्य पर पूर्णतया प्रकाश हम आगे डालेंगे। मीरा के कृष्ण है, मूर्त हैं, सगुण हैं—

"हमरो प्रणाम बाँके बिहारी को।
मोर मुकुट माथे तिलक बिराजै, कुंडल अलकारी को।
× × × ×
मोहनी मूरति साँवरी सूरति, नैणा बने बिसाल।
अधर सुधारस मुरली राजति, उर बैजन्ती माल।
छुद्र घंटिका कटि तट सोभित, नूपुर शब्द रसाल।
मीरा के प्रभु सन्तन सुखदाई, भक्त बछल गोपाल।"

सूर और बिहारी ने भी कृष्ण को कुछ इसी रूप में चित्रित किया है। परन्तु, मीरा ने कृष्ण को अपने आराध्य को, पति भाव से ग्रहण किया है और नारी होने के कारण, प्रतारित और दुखवाली होने के कारण अभावग्रस्त नारी होने के कारण, उपासना में भावना की तीव्रता है, उसकी निश्छल वाणी में आत्मा की झंकार है, विरहावस्था में अनुभूति का तारतम्य एवं पीड़ा का मनोवैज्ञानिक कसमसाहट है, मिलन की आकंठ-प्यास की सचाई है, कहीं पर स्वकीया का पति मिलन की आतुरता है तो कहीं परकीया की चिन्ता, परन्तु संयम साधित स्वर। नरसिंह की तरह संयम की उपेक्षा नहीं। मीरा में कहीं संयोग-सुख है तो कहीं विरह का अथाह सागर। 'पर यह आध्यात्मिक है, सांसारिक नहीं।'— डा० रामकुमार हि० सा० का आ० इति०)।

भक्तिकाल में जायसी का एकेश्वरवाद, कबीर का निर्गुणवाद, सूर की कृष्ण-भक्ति तथा तुलसी का मर्यादित सगुणवाद समवेत रूप में एक व्यापक भक्ति काल एवं भावना की स्थापना कर रहे थे। उसी भक्ति काल की मध्याह्न बेला में मीरा की तन्मया साधना-युक्त प्रेमपूरित उपासना से भक्ति की मंदाकिनी और ऊर्जस्वी बनी रही। अवेष्टन, परिवेश, संस्कार प्रियजनों की मृत्यु और उपेक्षा एवं वैधव्यता ने उसे स्वभावतः एकमात्र भक्ति की ओर आकृष्ट किया। बाल्यकाल में कृष्ण की मूर्ति के लिए अड़ना बाल सुलभ प्रकृति ही हो, परन्तु वैधव्यता में एवं उपेक्षित जीवन में एकमात्र यही मार्ग था उसके लिए। वह झूठे जगत से नाता सम्बन्ध तोड़कर शाश्वत आनन्द युक्त भूमा की उपासना के निमित्त, संतों के सहयोग से कंटकाकीर्ण-पथ पर अग्रसर हो गई। उसकी उपासना में निम्न तत्वों का सन्निवेश है। प्रेम का प्राबल्य (ख) वाणी की निश्छलता, (ग) मिलन की तीव्राकांक्षा, (घ) परम-तत्व रहस्यवादी, निर्गुणवादी प्रवृत्ति, (ङ) वेदना की मार्मिक अभिव्यक्ति, (च) सामाजिकता से अधिक वैयक्तिक, एकान्तिक साधना, (छ) पत्नीरूप में उपासना; (ज) कबीर की तरह निर्भीक उपासना, (झ) भक्ति भावना में गहराई, (ञ) भक्ति परक गाथा में कलात्मकता का अभाव वरन् प्रत्युत् आत्मानुभूति का सचाई जैसे 'हेरी मैं तो प्रेम दिवाणी होई, दरद न जाणै मेरो कोई।' भारतेन्दु की, मर्म का परि न जाने

कोई और ठउर की लगो ग्रतर में करें बाहिर को बिन जाहिर कोउ न मानतु है' तथा कबीर की कैसोजाने जिनि यह लाइ, कै जिनि चोट सहारी' पक्तियों में कुछ मीरा की तरह वेदना व्याधिक्य परिलक्षित होता है, (ट) अन्त शुद्धि पर ध्यान, (ठ) माधुर्य भावना की उपासना, जिसे देखकर डा० रामकुमार मीरा को चैतन्य महा प्रभु से प्रभावित समझते हैं।

अब हम उसकी भक्ति की प्रेरक शक्तियों पर विचार करेंगे। जीवन के प्रत्येक तत्व कार्यकारण शृंखला बद्ध हैं। पृष्ठभूमि का मनोवैज्ञानिक महत्व है जिस पर भविष्य की क्रिया प्रक्रिया, अविच्छिन्न रूप से, विनिर्मुक्त नहीं, अबाध गति से होती रहती हैं। (१) मीरा ने बाल्यकाल से सगुण भक्ति का संस्कार ग्रहण किया था। संस्कार किस प्रकार समुचित अवसर प्राप्त कर प्रबल रूप से कार्य करता है यह प्रत्येक व्यक्ति निश्चित रूप से जानता है। Thorndike, Holzingor, Galtan Dugdell, Shabrok Karl Pierson ने विभिन्न परिवारों का व्यावहारिक अध्ययन कर यही निष्कर्ष निकाला कि संस्कार वंशानुक्रम (Heredily) का प्रभाव बड़ा व्यापक होता है। किंवदंतियाँ है (क) एक समय एक साधु जो उसके पिता के यहाँ आकर ठहरा, तो बाल्यावस्था में ही मीरा साधु के पास गिरधर गोपाल की मूर्ति देख कर मचलने लगी। पहले तो मूर्ति देने से इन्कार कर साधु चला गया, परन्तु यह स्वप्न देखकर 'मूर्ति मीरा को देने में ही उसका कल्याण है, वह मूर्ति मीरा को दे गया और मीरा प्रसन्नचित उसे अपने पास रखने लगी। (ख) यह भी कहा जाता है कि पड़ौस में किसी के यहाँ शादी देख मीरा ने मा से पूछा कि मेरा वह कौन है? और उसके उत्तर में माँ ने मूर्ति की ओर इंगित कर दिया। इसी प्रकार की अनेक कहावतें हैं जिससे प्रकाश पड़ता है कि मीरा का कृष्ण के प्रति बाल्यकाल से ही झुकाव था (ग) साथ ही पितामह राव दूदाजी की देख रेख में रहने से भी धार्मिक संस्कार का मीरा पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। हरिविलासजी शारदा और गौरीचंद ओझा इसी मत से सहमत हैं कि दूदाजी उसके पितामह थे, जो वैष्णव थे। (घ) यह भी कहा जाता है कि शादी के पश्चात् मीरा ससुराल में अपने साथ गिरधर लाल की मूर्ति गयी थी। जिसे पति की जीवितावस्था से ही विधिवत् पूजती थी। वैधव्य होने पर वह लौकिक बन्धनों को विस्मरण कर उनकी ओर दृढता से अनुरक्त हो गयी। इसी प्रकार की बहुत सी किंवदंतियाँ हैं जिन पर विस्तारपूर्वक विचारना संभव नहीं है।

आज यह प्रमाणित सत्य है कि किंवदंतियों की नींव में सत्यशिला का कुछ योगदान रहता है। किंवदन्तियाँ, लोकगीत तथा लोककथा का महत्व स्वीकृत हो चुका है। अतः वे उपेक्षणीय नहीं है। इसीलिए मैंने पाठकों के सन्मुख मीरा सम्बन्धित कुछ अति प्रचलित किंवदंतियों को रखा है जनश्रुतियों तथा इस प्रकार के अन्य तत्वों को पूर्णतया सत्य स्वीकार करना भी भ्रान्ति मूलक धारणा को प्रश्रय देना है।

(२) परम्परा के विकास में (डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के मतानुसार) या दलित हिन्दू राष्ट्र ने त्राण के निमित्त आश्रय स्वरूप भगवान को ढूंढ लिया (पं० रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार) मीरा की भक्ति भावना का प्रभाव युग की जागरूक चेतना पर पड़ना स्वाभाविक ही था। मीरा यदि दूसरे युग में (रीतिकाल या अन्य काल में होती तो सम्भवत उसकी भक्ति पद्धति एवं भावना का अन्तर्लीन कुछ भिन्न होता। रूप कुछ विभिन्न होता। अवेष्ठन का प्रभाव मीरा के दुखी दिल पर पड़ना अस्वाभाविक नहीं था।

(३) जीवन की करुणा एवं दारुण परिस्थितियों में मीरा का एकमात्र भगवान की ओर आकर्षित होना नैसर्गिक सत्य था। वैधव्यता की करुणावस्था में नारीयोचित यही था।

(४) यह भी मनोवैज्ञानिक सत्य है कि दबाव से मानवीय चेतना अधिक विद्रोह कर उठती है और यही कारण है कि राणा (पति) के और उसके परिवार वालों के प्रबल विरोध से वह भक्ति भावना से और निकट होता गई। राणा के अत्याचार और क्रूर व्यवहारों की तो मीरा ने स्वयं कई स्थलों पर

चर्चा की है" साँप पिटारो राणा जी भेज्यो, द्यो मेड़तणी गल डार ।' और 'विष का प्यालो राणा जी मेल्यो, द्यो मेड़तणी ने पाय । कर चरणामृत पी गई रे, गुण गोविंद रा गाय । परन्तु, यहीं पर मैं यह भी अवश्य कहूँगा कि बारम्बार ऐसे प्रसंगों को उठाना, जो मेरे विचार से वस्तुतः आत्मश्लाघा ही है, हमारे हृदय को शंकित कर देता है। मुझे तो मालूम पड़ता है कि एक भक्त-हृदयानारी बारम्बार ऐसे विषय की चर्चा नहीं करती। इससे इसी सत्यांश का बोध होता है कि इस प्रकार के कुछ पद किसी अन्य रचित हैं, जो कालान्तर से मीरा के नाम पर प्रचलित हो गए हैं या कोई दूसरी भी मीरां थी। महावीर सिंह गहलौत ने तो मीरा समकालीन एक अन्य मीरा की चर्चा की है। उनका विश्वास है कि उस काल राव मालदेव की पांचवीं पुत्री का नाम भी वही था। परन्तु वैसे पद मालदेव की पुत्री मीरा के ही हो, यह निश्चय नहीं। सम्भव है, इन दिनों के अतिरिक्त और भी कोई दूसरी मीरा की कृति हो या से पकमात्र हो। परन्तु उपर्युक्त घटना (विष प्रसंग) भ्रामक सिद्ध नहीं होती क्योंकि स्व० मुं० देवी प्रसाद मुंसिफ ने लिखा है। मीराबाई को राणा विक्रमजीत के दीवान कौम महाजन बीजवर्गी ने जहर दिया था।"...... मीराबाई का श्राप बीजवर्गी कौम पर अब तक लगा हुआ है और वे मानते हैं कि उस श्राप से हमारी औलाद में तरक्की नहीं होती।"

(५) उस काल ज्ञानयोग की धारा मनशुद्धि एव चितवृत्तियों के निरोध द्वारा परम तत्व का ज्ञानानुभव करनी, प्रेमानुबध धारा नैसर्गिक आत्मीयता का भाव हृदयगम करती परम शक्ति के साथ और भक्ति रसधारा से अभिषिक्त करने के लिए गुरु प्रेम आवश्यक समझती। निर्गुण रूप के यदाकदा दिग्दर्शन से सम्भवतः आवेष्ठनगत भाव धाराओं का ही प्रनीत होता है। संस्कार आदि की सम्मिलित दृष्टि से मीरा की भक्ति-पद्धति स्वाभाविक थी। क्योंकि वह एक भावविह्वलता, अनुभूति प्रवण नारी थी। नारी के लिए यही मार्ग अधिक सहज और आकर्षक था, ऐसा मैं मानता हूँ। ऐसा भी विश्वास किया जाता है कि मीरा के गुरू रैदास थे, जो कबीर पंथी थे, निर्गुण उपासक संत थे क्योंकि कई पदों में उनकी चर्चा मिलती है। गुरू मिलिया रैदास जी, दीन्ही ग्यान की गुटकी' और मीरा ने गोविन्द मिलया जी, गुरू मिलिया रैदास।' परन्तु इतिहास इसके पक्ष में नहीं बैठता। मीरा ने संतों की तरह 'सुन्न महल' आदि की चर्चा की है, कबीर आदि ने भी कहा है 'सुन्न महल में दियरावार के आसन से मत डोल रे।' मीरा ने भी संतों की तरह गुरू की महत्ता स्वीकार की है। 'सतगुरू भेद बताइया, खोली भरम किवारी हो।' कुछ लोगों ने अनुमान किया है कि मीरा ने 'पुष्टि मार्ग' अपनाया था। कुछ लोगों ने उसे जीवगोस्वामी की शिष्या स्वीकार की है। और वियोगी हरि का विश्वास है कि मीरा के 'सिद्ध गुरू जीव गोस्वामी ही थे।' (मीराबाई सहजोबाई दयाबाई का पद्य संग्रह) परन्तु अन्तसाक्ष्य और बहिसाक्ष्य प्रमाणों से ये सिद्ध नहीं होते। अधिकतर पदों पर दृष्टिपात करने से वह सगुण धर्मावलम्बी मालूम पड़ती है। यह भी सम्भावना है कि कोई अन्य मीरा होगी जिस पर सन्तमत का प्रभाव हो, उसकी रचनाएँ बाद में आलोच्य मीरा की समझी जाने लगी हो। सचमुच, यह पूर्ण विवादास्पद विषय है जिस पर पूर्ण खोज की जरूरत है क्योंकि मीरा की ऐसी पंक्तियाँ भी पायी जाती हैं।

तेरो मरम नहिं पायौ रे योगी।
आसण माडि गुफा मे बैठो, ध्यान हरि का लगायो।
गल बिच सेली हाथ हाजरियो, अंग भभूत रमायो।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी, भाग लिख्यो सो ही पायो।

(६) नारी होने के कारण माधुर्य-भाव की उपासना में गोपी-भाव की आराधना में अत्यधिक ऊंचाई और गहराई है। एक भक्त हृदया नारी के लिए इस प्रकार की साधना ही स्वाभाविक और सरल थी। परशुराम चतुर्वेदी ने मीराबाई की पदावली में ठीक ही कहा है—"माधुर्य भाव या परमभाव की पदरचना करते समय मीराबाई को, इसी कारण, पुरुष-भक्त

(शेष पृष्ठ ३१ पर)

प्रेमचन्द युग के उपन्यास : वैचारिक पृष्ठभूमि

[श्री प्रतापनारायण टंडन एम० ए०]

साहित्य, कला और समाज

प्रेमचन्द ने साहित्य का उद्देश्य बताते हुये लिखा है—"जब साहित्य की रचना किसी सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिये की जाती है, तो वह अपने ऊँचे पद से गिर जाता है—इसमें कोई सन्देह नहीं, लेकिन आजकल परिस्थितियाँ इतनी तीव्र गति से बदल रही हैं, इतने नये विचार पैदा हो रहे हैं, कि कदाचित् अब कोई लेखक साहित्य के आदर्श को ध्यान में रख ही नहीं सकता यह बहुत मुश्किल है कि लेखक पर इन परिस्थितियों का असर न पड़े—वह उसे आंदोलित न हो।'

उपयुक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि यों तो साहित्यिक का उद्देश्य किसी भी प्रकार से प्रचार अथवा दलबन्दी से निश्चय ही ऊपर उठकर है, लेकिन चूँकि आज हमारे सामने परिस्थिति कुछ असाधारण सी है, अत साहित्यकार अपने कर्तव्य से विमुख भी हो सकता है, अपने उद्देश्य से डिग भी सकता है। एक और स्थान पर उन्होंने लिखा है—"साहित्य का जन्म उपयोगिता की भावना का ऋणी है। जो चतुर कलाकार है, वह उपदेशक बन जाता है और अपनी हसी उड़वाता है।" और 'मेरा पक्का मत है कि परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सभी कला उपयोगिता के सामने घुटना टेकती है। प्रोपेगंडा बदनाम शब्द है, लेकिन आज का विचारोत्पादक, बलदायक, स्वास्थ्यवर्द्धक साहित्य प्रोपेगेंडा के सिवा न कुछ है, न हो सकता है, न होना चाहिये और इस तरह के प्रोपेगेंडा के लिये साहित्य से प्रभावशाली कोई साधन ब्रह्मा ने नहीं बनाया न रचा।"

उपर्युक्त वक्तव्य देखने से यह जान पड़ता है कि शायद प्रेमचन्द जी ने किसी ऐसे समय पर ये शब्द कहे हैं, जब उन्हें साहित्य में प्रोपेगेंडा के अतिरिक्त कुछ न देख पड़ता होगा। उस समय उन्होंने यह अनुभव किया होगा कि जब साहित्य प्रोपेगेंडा का इतना प्रबल साधन है, तो अवश्य ही दलगत साहित्य अथवा प्रचार साहित्य का रचना काफी मात्रा में होगी। प्रेमचन्द के अनुसार "साहित्य का सबसे ऊँचा आदर्श यह है कि उसका रचना केवल कला की पूर्ति के लिये की जाय। "कला कला के लिये" के सिद्धान्त पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। वह साहित्य चिरायु हो सकता है जो मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों पर अवलंबित हो। ईर्ष्या और प्रेम, क्रोध और लोभ, भक्ति और विराग, दुख और लज्जा—ये सभी हमारी मौलिक प्रवृत्तियाँ हैं, इन्हीं की छटा दिखाना साहित्य का परम उद्देश्य है और बिना उद्देश्य के तो कोई रचना हो ही नहीं सकती।"

साहित्य की परिभाषा बताते हुये प्रेमचन्द जी ने लिखा है "साहित्य की बहुत सी परिभाषायें की गई हैं, पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा "जीवन की आलोचना" है। चाहे वह निबंध के रूप में हो, चाहे कहानियों के, या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिये।"

इसी प्रकार अपने एक निबंध में प्रेमचन्द ने उपन्यास के सबंध में अपने विचार प्रकट करते हुये लिखा है "मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है। वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं, जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप "आदर्शोन्मुख यथार्थवाद" कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने के लिये यथार्थ का उपयोग होना चाहिये और एक अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है। उपन्यासकार की सबसे बड़ी विभूति ऐसे चरित्रों की सृष्टि है जो अपने सद्व्यवहार और सद् विचार से

पाठक को मोहित कर लें। जिस उपन्यास के चरित्रों में गुण नहीं है, वह दो कौड़ी का है।"

प्रेमचंद कला को मानव जीवन का अंतरंग साधना नहीं, विश्व में चमत्कार पूर्ण जीवन की निर्लेपणात्मक क्रिया मानते हैं। उनके विचार से उससे हमारी आँखों में चमक पैदा होती है, हमारे प्राणों को स्फूर्ति होती है, लेकिन वह प्राण कभी नहीं हो सकती और भारतेंदु युग के साहित्य का इसी दृष्टि से मूल्यांकन करते हुए वह लिखते हैं "हमने जिस युग को अभी पार किया है, उस जीवन से कोई मतलब न था। हमारे साहित्यकार कल्पना की सृष्टि खड़ी कर उसमें मनमाने तिलिस्म बाँधा करते थे, कहीं "फिसानाए अजायब" की दास्तान थी, कहीं "बोस्ताने ख्याल" की और कहीं 'चंद्रकांता सन्तति' की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुत रस प्रेम की तृप्ति। साहित्य का जीवन से कोई लगाव है यह कल्पनातीत था। कहानी कहानी है, जीवन जीवन। दोनों परस्पर विरोधी वस्तुयें समझी जाती थीं।

उपर्युक्त उद्धरण कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। प्रेमचंद ने अपने पूर्ववर्ती उपन्यास साहित्य का सही मूल्यांकन किया है। चूँकि वह साहित्य को जीवन की व्याख्या करनी चाहिये उन्होंने इस बात की आवश्यकता समझी कि अब ऐसे उपन्यास लिखे जाने चाहिये जो जीवन की व्याख्या करें, उन्होंने अपने उपन्यासों में तो ऐसा किया ही, उनकी प्रेरणा तथा प्रभाव से फलस्वरूप यथार्थवादी उपन्यास भी लिखे गये और उपन्यासों में मानव जीवन की अनेक मौलिक समस्याओं का उद्घाटन करने का प्रयत्न किया गया। हमारी सम्मति में इसका सारा श्रेय प्रेमचन्द को है

एक स्थान पर प्रेमचंदजी ने लिखा है 'मेरे जीवन का क्या आदर्श है आपको यह बतला देने का मोह मुझसे नहीं रुक सकता। मैं प्रकृति का पुजारी हूँ और मनुष्य को उसके प्राकृतिक रूप में देखना चाहता हूँ, जो प्रसन्न होकर हंसता है, दुःखी होकर रोता है और क्रोध में आकर मार डालता है। जो दुःख और सुख दोनों का दमन करते हैं, जो रोने को कमजोरी और हंसने को हल्कापन समझते हैं, उनसे मेरा कोई मेल नहीं। जीवन मेरे लिये आनंदमय क्रीड़ा है, प्रेम से सरल, स्वच्छंद जहाँ कुत्सा, ईर्ष्या और जलन के लिये कोई स्थान नहीं जहाँ जीवन है, क्रीड़ा है, चहक है, प्रेम है, वहीं ईश्वर है और जीवन को सुखी बनाना ही उपासना है और एक मोक्ष है। ज्ञानी कहता है ओठों पर मुस्कराहट न आये, आँखों में आँसू न आवे। मैं कहता हूँ अगर तुम हंस नहीं सकते और रो नहीं सकते तो तुम मनुष्य नहीं पत्थर हो।" प्रेमचन्द के इन उद्गारों को देखने से यह ज्ञात होता है कि वह भारतीयता के पुजारी, राष्ट्रीयता के पुजारी, राष्ट्रीयता के प्रेमी और सहज मानवीय भावनाओं के अनुभवी थे, उन्होंने भारतीय समाज का अध्ययन किया, उसे विविध दृष्टियों से देखा, उसके भिन्न भिन्न पहलुओं पर विचार किया। अंत में उन्होंने उसमें जो कमियाँ देखीं, उन्हें दूर करने का आजीवन प्रयत्न किया।

सामाजिक समस्यायें :—

(क) स्त्री समाज—यहाँ हम केवल उन समस्याओं में से कुछ को लेंगे, जो प्रेमचंद युग में रही हैं, और ऐसी समस्यायें, जिन पर इस युग के उपन्यासकारों ने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से विचार किया है। प्रेमचन्द युग सामान्यतः प्रथम विश्व युद्ध के बाद से लेकर द्वितीय विश्व युद्ध से पहले तक का समय समझा जाता है, अतः इसमें वे सभी समस्यायें आ जाती हैं, जो इस काल में रही हैं। हमारा भारतीय नारी समाज अपेक्षाकृत काफी पीछे रहा है, जिसका कारण उसमें प्रचलित अनेक कुप्रथायें तथा विचारों की संकीर्णता है।

श्री इलाचन्द्र जोशी ने अपने उपन्यास "निर्वासित" में लिखा है—"वर्तमान युग में सारी मानव जाति को मोटे तौर पर दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—एक पुरुष वर्ग और दूसरा स्त्री वर्ग। ये दोनों शोषक और शोषित वर्ग के ही पर्यायवाची हैं। जिस अल्पसंख्यक सबल वर्ग ने राजनीतिक, आर्थिक और

सामाजिक दासता ने सारे विश्व के दुर्बल राष्ट्रों या वर्गों को गुलामी का जंजीर में जकड़ रखा है वह पुरुष वर्ग है और सभी दलित वर्ग—निम्न मध्यवर्ग, मजदूर, किसान, अछूत नारी समाज आदि स्त्री वर्ग के ही अंतर्गत आ जाते हैं। सबल पुरुषों द्वारा अबला नारियों का शोषण, पूँजीपतियों तथा सामंतवादियों द्वारा मजदूरों और किसानों का शोषण—इन तीनों में केवल रूपक की दृष्टि से ही साम्य नहीं है, बल्कि वास्तविक दृष्टि से ही साम्य नहीं है बल्कि वास्तविक दृष्टि से—राजनीतिक अर्थशास्त्र की दृष्टि से भी ये तीनों एक दूसरे से मूलगत संबंध रखते हैं, इसलिये सभी शोषित नारियों के निर्यातनों की व्यक्तिगत कहानियाँ सुदूर भविष्य की क्रांति के मूल उपादान जुटा रही हैं, इस चरम तथ्य की अवहेलना करना क्रांति के असली बीजों को ही ठुकराना है।'

प्रेमचन्द भी नारी समाज की समस्याओं से अनभिज्ञ अथवा उसके प्रति उदासीन नहीं रहे। 'रंगभूमि" में उन्होंने घोषणा की है "स्वदेश की अभी तक किसी ने व्याख्या नहीं की, पर नारियों की मान रक्षा उसका प्रधान अंग है और होना चाहिये।" प्रेमचंद स्त्री को पुरुष की सहचरी मानते हैं, अनुचरी नहीं, हां अपनी सेवा भक्ति और अनुपम त्याग के कारण भारतीय नारि स्वयं अपने को पति की अनुचरी समझती। 'गोदान" में मातृ-स्वरूपा नारी के संबंध में प्रेमचन्द ने लिखा है—'मैं समझता हूँ कि नारी केवल माता है और इसके उपरान्त वह जो कुछ है, वह सब मातृत्व का उपक्रम मात्र है। मातृत्व संसार की सबसे बड़ी तपस्या, सबसे बड़ा त्याग और सबसे महान विजय है। एक शब्द में उसे लक्ष्य कहूँगा, जीवन का, व्यक्तित्व का और नारी का भी।'

राजनैतिक विचारधारा

'शायद कुछ अनुभव के बाद प्रेमचन्द को सहानुभूति साम्यवादियों के साथ हो गई थी, जैसा कि नीचे लिखी पंक्तियों को देखने से ज्ञात होता है—'कम्यूनिज्म का प्रचार हो या न हो, पर समाज का आदर्श बन गया है। भारत जैसे रूढ़ियों के गुलाम देश में दस बीस साल और परलोक चिंतन में पड़े रहें, लेकिन संसार समष्टि की ओर जा रहा है और सच पूछो, तो समष्टिवाद की अनीश्वरता जो हर आदमी के लिये समान अवसर की व्यवस्था करती है, जो किसी का जन्म सिद्ध या परंपरागत अधिकार नहीं मानती, ईश्वरता के अधिक निकट है।"

श्री मन्मथनाथ गुप्त ने अपने एक उपन्यास "दो दुनिया" में एक पात्र से कहलाया है—"देखो वीरेंद्र, मैं तो इस मामले में यही चाहती हूँ कि हमारी सरकार रूसी सरकार के ढंग पर चले तभी यह समस्या सुलझ सकती है।"

श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी ने 'पनदार" में लिखा है—'मेरी यह धारणा अब धीरे धीरे दृढ़ हो गई है कि एक स्थायी विश्व शांति और मनुष्य मात्र का कल्याण सत्य और अहिंसा द्वारा ही संभव है।"

श्री वृन्दावनलाल वर्मा का विचार है कि "लोकतंत्र और समाजवाद का मेल नहीं हो सकता।"

(—"अमरबेल")

स्वराज्य की समस्या

बीसवीं शताब्दी के प्रथम अर्धभाग में जो सबसे बड़ी समस्या हमारे देशवासियों के सामने रही है, वह है स्वराज्य की समस्या—देश की आजादी का सवाल, चूंकि यह एक राष्ट्रीय प्रश्न है, यथा, अतः इसने जन जीवन के सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया। साहित्य के क्षेत्र में भी इसका स्वाभाविक रूप से प्रभाव पड़ा है। हमारे साहित्यकारों ने भी आजादी की मांग को बुलन्द बनाने में योग दिया है। श्री राहुल सांकृत्यायन ने "जीने के लिये" में लिखा है—"मेरे दिल में छात्र जीवन से ही देश सेवा की कितनी उमंगें हैं, तुम यह भी जानते हो कि देश की स्वतंत्रता के लिये मेरा चित्त कितना उत्तेजित हो जाता है और यदि इक्के दुक्के बम और पिस्तौल चलाने पर मुझे विश्वास होता तो मैं कबका उसमें लग गया होता।"

श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने 'बयालीस" में

लिखा है- "इस समय भारतीय युवक जाति के लिये बिलकुल तैयार हैं। समय और परिस्थिति ने वे सब साधन स्वयं पैदा कर दिये हैं। हमें ऐसा व्यक्ति चाहिये उनका नेतृत्व करें। अतएव आप लोग वह नेतृत्व ग्रहण करें और भारत के एक सिरे से दूसरे सिरे तक वह अग्नि प्रज्वलित करें जिसमें ब्रिटिश साम्राज्य जलकर नष्ट हो जाय, जिन सींगों से वह हम कुचल रहा है, वे सींग हमेशा के लिये कुचल दिये जायें।"

प्रेमचंद का एक पात्र "कर्मभूमि" में कहता है—"महात्मा जी सठिया गये हैं। जुलूस निकालने से स्वराज्य मिल जाता, तो अब तक कब का मिल गया होता और जुलूस में है कौन लोग, देखो—लौंडे, लफंगे, सिर फिरे, शहर का कोई बड़ा आदमी नहीं" "बड़े आदमी क्यों जुलूस में आने लगे, उन्हें इस राज में कौन आराम नहीं है। मरे तो हम लोग रहे हैं, जिन्हें रोटियों का ठिकाना नहीं, इस वक्त कोई ग्रामोफोन लिये गाना सुनता होगा कोई पार्क की सैर करता होगा। यहाँ आयें पुलिस के कोड़े खाने के लिये, तुमने भी खूब कही।"

शोषण—

प्रेमचंद युग में सामाजिक अशान्ति का जो कारण रहे हैं, उनमें मुख्य वर्गगत समस्यायें हैं, श्री इलाचन्द्र जोशी ने "निर्वासित" उपन्यास की एक पात्री कहती है—" मैंने अपने दृष्टिकोण से देश के लगभग समग्र समाज को मोटे तौर पर पाँच वर्गों में विभाजित किया—पहला है साम्राज्यवादी अधिकारी वर्ग, जिसके लिये इस देश की जनता का कोई अस्तित्व ही नहीं है और जो व्यापक रूप से सुसंगठित सामूहिक उपायों से, देश का मूल सत्व हरण करके अपने साम्राज्य की जड़ों को पुष्ट करना ही अपना एकमात्र ध्येय समझता है, दूसरा है पूँजीपति जमींदार वर्ग, जो देश के उस रक्त और मांसपिंड के संचय में व्यस्त रहता है और साम्राज्यवादी शोषण के बाद शेष रहता है, तीसरा है उच्च मध्य वर्ग, जो पिछले दोनों वर्गों से इतने टुकड़े पा लेता है जिनसे से वह अपने 'लौकिक सम्मान" की रक्षा कर सके और साथ ही फैशनेबुल दुनिया की चहारदीवारी में बंद रहकर एक ऐसी सामाजिकता का रंगीन पर्दा अपने चारों ओर डाल सके जो संसार की निपट वास्तविकता से उसे अंधा बनाने में समर्थ हो। "बूर्जुवा" शब्द की ध्वनि से जो बदबू—जो सड़ायन—निकलती है वह सब इस तीसरे वर्ग में कूटकूट कर भरी हुई है। चौथा है मध्यवर्ग। वास्तव में यही वर्ग है समग्र समाज का अन्तर्केन्द्र—"न्यूक्लस"। वास्तव में शोषकों के अत्याचारों से यह वर्ग निम्नतम वर्ग से कुछ कम पीड़ित नहीं है। पर निम्नतम वर्ग से उसमें अन्तर यह है कि वह बहुत अनुभूतिशील और साथ ही बुद्धिवादी है। इसलिये क्रान्ति के मूल बीज केवल इसी वर्ग में पनप सकते हैं।" पाचवां और अन्तिम वर्ग है जनसाधारण का—किसानों, मजदूरों, भिखारियों, नंगों और भूखों का—वर्ग। यह वर्ग सदियों के राजनीतिक तथा सामाजिक पीड़नों से इस कदर निर्जीव बन चुका है कि उसमें प्राण शक्ति भरने विद्रोह के इन्जेक्शन द्वारा नयी स्फूर्ति और नव जीवन का संचार करने की आवश्यकता ने विकट रूप धारण कर रखा है। पर इस आवश्यकता की पूर्ति केवल निम्न वर्ग ही कर सकता है।"

राहुल जी ने जातीय एकता को असंभव माना है, लेकिन जातीय सहयोग उनके विचार से एक बड़ा लाभदायक बात है" "उन्होंने लिखा है—शोषण हानिकारक है। लेकिन जातियों का सहयोग बड़ी लाभदायक चीज है। उस सहयोग से दोनों देशों को बहुत से राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक फायदे हो सकते हैं, हमारे देशवासी अब कभी कभी दबी जबान से सहयोग का जिक्र करने लगे हैं, तो भी वे शोषण ही को दूसरा नाम रखना चाहते हैं।

आर्थिक संघर्ष —

अपने अंतिम काल में प्रेमचन्द ने विविध संघर्षों में—जो विभिन्न वर्गों में परस्पर होते हैं—में आर्थिक संघर्ष को ही प्रधान मान लिया था। प्रेमचंद के हृदय में कृषक वर्ग और श्रमिक वर्ग के प्रति अगाध सहानुभूति थी। उनका विचार था कि आधुनिक युग में वर्ग-

संघर्ष की इतनी व्यापकता का कारण नया व्यवसाय है। वह वर्ग सघर्ष का मूल कारण धन ही मानते थे।

ऊपर कुछ दृष्टियों स इस बात पर विचार किया गया है और यह जानने की चेष्टा की गई है कि प्रेमचन्द युग के कुछ प्रमुख उपन्यासकारों—विशेष रूप से प्रेमचद के विभिन्न समस्याओं पर क्या विचार थे और उनके विचार के मूल आधार क्या थे। इस निबध में उद्धरणों की अधिकता का भी कारण यही है कि हमारा उद्देश्य केवल उपन्यासकारों के विचारों को ज्यों का त्यों यहा लिखना मात्र था उन पर किसी प्रकार की टीका टिप्पणी या उनकी आलोचना करना नहीं और हमारा अनुमान है कि इससे लेखकों का मौलिक दृष्टिकोण अपेक्षाकृत स्पष्ट रूप से सामने आया है।

(शेष पृष्ठ २६ का)

कवियों की भाँति, कृष्ण के प्रति उनकी प्रेमिका व्रज सुन्दरियों द्वारा प्रदर्शित विविध भावों का वर्णन करना नहीं है और न अधिक स अधिक अपने ऊपर स्त्री भाव का कोई काल्पनिक आरोप कर तद्वत चेष्टाओं का प्रदर्शन ही करना है। वे स्त्री हैं और अपने इष्ट देव श्री गिरिधर लाल को पति रूप में स्वीकार भी कर चुकी है, अतएव उन्हें अपने को किसी अवस्था विशेष में रखने का प्रयत्न नहीं करना है" यद्यपि आज कुछ मनोवैज्ञानिक आलोचक जीवन की अतृप्त इच्छाओं को ही आधार भूत कारण ढूंढ सकते हैं जैसे महादेवी में ढूंढा जा रहा है यद्यपि हम डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों म उतना ही कहेंगे। "मीरा एक कोकिला सी बैठकर अपने गिरिधर गोपाल का गीत गाती है। वह धरती पर नहीं है, वृक्ष की सबसे ऊँची डाल पर, स्वर्ग के कुछ पास है।"

निश्चय ही मीरा की रचनाओं का सच्चा पाठक उसमें भक्ति भाव के पावन-स्रोत का दर्शन करेगा, उसकी विह्वलता में परमतत्व के विरह की कसमसाहट का अनुभव करेगा, जिसमें लौकिक प्रेम नहीं अलौकिक प्रेम व्यक्त हुआ है। साहित्यिक पक्ष का महत्व कदापि नहीं स्वीकार किया जायगा।

आँसू :— (काव्यानुशीलन)

(लेखक प्रो० कमला कान्त पाठक, एम० ए०)

'आँसू' का प्रथम सस्करण सन्' २५ में और दूसरा सस्करण सन' ३३ में प्रकाशित हुआ था। द्वितीय सस्करण में कतिपय परिवर्तन, परिवर्द्धन और सशोधन हुए हैं। यह प्रसादजी की प्रथम प्रौढ़ और विशिष्ट रचना है। यह एक प्रगीत पद्धति का सुसबद्ध और सुविन्यस्त *विरह काव्य* है। इसमें एक *आख्यान-धारा* भी सूत्रात्मा की भांति परिव्याप्त है, अतएव यह प्रगीतात्मक मुक्तक रचना न होकर प्रगीतात्मक प्रबन्ध रचना है।

'आँसू' की वियोगानुभूति न प्रलापपूर्ण है न आध्यात्मिक भावसत्ता स समन्वित, उसम सासारिक सुख-दुख, हर्ष विषाद, सयोग का सकलन ही अपूर्व है। कवि सयोग क विलासमय जीवन की स्मृति क कारण विपरीत और आर्द्र हो उठता है। सम्मिलन सुख के नष्ट हो जाने पर उसके शोक का वार पार नहीं रहते हैं। हर्ष, विस्मय, उल्लास, औत्सुक्य आदि की विभिन्न मनस्थितियाँ भी इस शोक महासागर में पूर्व स्मृति बनकर उठ आया करती हैं और अत म कवि अपनी वेदना से सधि कर लेता है। यह सधि ही 'आँसू' का अभिप्रेत और कवि की मनोव्यथा का निष्कर्ष है। कहना न होगा कि यह निष्कर्ष जीवन क लिये मगलमय और जगत के लिये कल्याणप्रद है। प्रसादजी का स्वस्थ चिन्तना आदर्श की ऊँचाइयों और मन की गहराइयों में ऐसा रमणीय सम्बन्ध स्थापित करती है कि वह आध्यात्मिक दीप्ति स उद्भासित प्रतीत होती है। लौकिक प्रणय व्यापार इतना गहन और तल्लीनताकारी हो *गया है कि उसकी स्मृति अलौकिक-आध्यात्मिक प्रणयानुभूति* से अभिन्न जान पड़ती है। यही प्रसादजी की शृ गारिकता पिछले खेवे क कवियों की स्थूल वर्णना से अलग और द्विवेदी युगीन कवियों की नीतिमत्ता स असपृक्त हो गइ है। उन्होंने अव्यक्त की गतियों को को पकड़ने का उपक्रम नहीं किया। व मानव जीवन का प्रकृत भाव स्थिति की अभिव्यक्ति करने में तन्मय रहे। अवश्य ही उन्होंने अपनी वियोग की प्रगल्भ आत्मानुभूति को प्रकृति और मानव जीवन की विराट् कल्पना असाधारण सौंदर्यमयी मूर्तिमत्ता माधुर्य की वैभवशील और विलासमयी सृष्टि तथा तत्त्वदर्शन की प्राणवान *आशा रश्मि से सम्पन्न और प्रभावपूर्ण बनाया है।* इस विरह वेदना की अतिरजना का कारण उनकी निर्दिष्ट भूमि का अभाव नहीं है, वरन् अतिशयोक्ति है, जो प्राय प्रत्येक श्रेष्ठ और कल्पना विशिष्ट काव्य के मूल में रहता है। 'आँसू' में प्रमावान्विति की न्यूनता का प्राय उल्लेख किया जाता है, परन्तु इस प्रकार का दोष दर्शन वे ही करते हैं जिन्हें काव्य के स्थूल आधार के अभाव म भाव-सकलन त्रुटिपूर्ण दिखाई पड़ता है। 'आँसू' का भावानुबन्ध श्रेष्ठ है। उसे अन्य किसी कविता में प्रसार पाने की न आवश्यकता पड़ी न विशृ खल होकर नीति क दोहों की तरह मुक्तक शृ गारिक काव्य बनने की जरूरत। पतजी के 'आँसू' और 'उच्छ्वास' क साथ इसकी तुलना करने पर विरह-वेदना के समन्वित प्रभाव का वैशिष्ट्य प्रत्यक्ष हो जाता है।

छायावाद-काल की प्रसादजी की आत्माभिव्यजक प्रगीत रचनाओं में सवत्र जिस विरहानुभूति का अभिव्यक्ति हुई है, वह सर्वांशत रहस्यमयी तो नहीं ही है। कवि के जीवन में असफल प्रेम का चिरस्थायी आघात अवश्य रहा होगा। यहां हमें व्यक्तिगत जीवन की घटनाओं के भीतर से उनके काव्य को नहीं देखना है। *हमारा काम तो, इसका उल्टा उनके काव्य के भीतर* से कवि के व्यक्तित्व को देखना है। मैं समझता हूँ कि असफल प्रेम की विरह-वेदना कवि के मानस म इतनी प्रगाढ़ और निगूढ़ हो गई है कि वह उनकी आत्मा की मनन प्रक्रिया का एक प्रमुख अग बनकर उपस्थित हुई है। कवि की दार्शनिक प्रवृत्तियाँ थीं जो छायावादी

काव्य भी स्थूल वर्णन के स्थान पर सूक्ष्म अतींद्रिय अभिव्यंजना को प्रधानता देता था। अतएव प्रसादजी ने वास्तविकता को विराट् महत् और व्यापक रूप देने का सफल चेष्टा की। इसी कारण मानवीय अनुभूति परोक्षानुभूत भासित होने लगी। कवि की आध्यात्मिकता के दो रूप हैं—प्रथम, उसका दार्शनिक जीवनदृष्टि तथा द्वितीय, मानवीय अनुभूति का आध्यात्मिक आवरण। द्वितीय रूप को प्रकृत आध्यात्म कहा जाता है। इस प्रयत्न को परोक्ष को रंग में रंग कर देखना भी कह सकते हैं और भाव-साधना का विकास सूचित करने के लिए मानवीय सौंदर्यानुभूत का आध्यात्मिकता में (उदात्तीकरण के द्वारा) पर्यवसान भी मान सकते हैं। कवि की दार्शनिक जीवन दृष्टि आध्यात्मिक जगत की वस्तु नहीं है। वरन् बहुमुखी, व्यक्ति एवं गतिशील जीवन से संबद्ध है। इसे कवि का अद्भुत उद्दाम और आत्मविश्वास ही कहेंगे कि वह अपनी प्रत्यक्षानुभूति एवं स्पष्ट अभिव्यक्ति करता है। उसे पंतजी की तरह 'ग्रंथि' के कथानक का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं पड़ी। उसने आत्मकथा ही कही। कहा भी गया है कि मानवीय प्रेम अपने उत्कर्ष में एक अलौकिक आध्यात्मिक छाया से संपन्न हो गया है और यही 'आँसू' का छायावाद है। कवि ने सर्वत्र जो दृष्टि डाली है, उसके स्पर्श से प्रकृति भी मानवीय चेतना से स्पंदित और परिचालित हुई है। प्रसादजी की यही सर्वदनीय नवीनता है और छायावाद का उत्कर्ष भी।

'आँसू' की विरह-वेदना पर रहस्यात्मकता का आरोप किया जाता है। कतिपय विद्वानों ने उसे सूफियों के ढंग का रहस्यवाद भी कहा है। प्रियतम के 'हाल' की अवस्था में आने और होश आने पर चले जाने की मान्यता इस उद्धरण के द्वारा पुष्ट हुई है—

"मादकता से आए तुम, संज्ञा से चले गये थे।"

इसी प्रकार प्रियतमा के नूर (दिव्य ज्योति) के सामने आँख नहीं ठहर पाती है, अतएव उसे साधक सम्मुख आवरण में आना होता है, इसकी पुष्टि इन पंक्तियों के द्वारा हुई है—

"शशि-मुख पर घूँघट डाले, अंचल में दीप छिपाए,
जीवन की गोधूली में कौतूहल से तुम आए।"

परन्तु यह मानवीय आवरण नहीं है, जो परोक्ष ज्योति पर डाला गया है, वरन् आध्यात्मिक आवरण है जिसके द्वारा मानवीय सौंदर्य मर्मस्पर्शी हो उठा है। सूफियों का लक्ष्य- रहस्यवादियों की तरह—परोक्ष में प्रत्यक्ष का आभास पाना था, परन्तु प्रसादजी ने प्रत्यक्ष को ही अतींद्रिय रूप देने का यत्न किया है। बहुधा आलंबन के अनिर्दिष्ट होने तथा उसकी अतींद्रिय सौंदर्य-कल्पना एवं प्रेम चर्चा के कारण 'अनंत प्रियतम' को परब्रह्म बन जाना पड़ा है। 'आँसू' के आलंबन का जहाँ तहाँ लिंगविपर्यय भी सूफियों की रहस्य-कविता से इसे प्रभावित समझने का अवकाश देता है। प्रिय का आगमन उमंग और सौंदर्य की सृष्टि करता है—

"पतझड़ था, झाड़ खड़े थे सूखी सी फुलवारी में,
किसलय नव कुसुम बिछाकर आए तुम इस क्यारी में।।"

इस सम्मिलन-सुख का बड़ा ही प्रभावोत्पादक प्रस्तुतीकरण किया गया है। झरना, लहर और कामायनी में भी इसकी विशद कल्पना की गई है, परन्तु इसे रहस्य प्रतीक ही मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। अवश्य ही प्रतीक-योजना रहस्यात्मक हो सकती है और नहीं भी। प्रसादजी ने स्वयं कई स्थलों पर रहस्य संकेत दिए हैं। परन्तु वे मूलतः मानवीय जगत के कवि थे—उनके प्रेम, सौंदर्य, विलास, संघर्ष आदि थे—अतएव उनके काव्य में मानवीय अभिप्रेत योजना ही उपयोगी होगा। इसी में उनकी काव्यगत प्रकृत रमणीयता की माधुर्य सृष्टि अपूर्व जान पड़ेगी।

'आँसू' की कतिपय पंक्तियों में रहस्यमयी अनुभूति के संकेत मिल जाते हैं। जैसे—"कुछ शेष चिह्न हैं केवल मेरे उस महामिलन के," "गौरव था नीचे आए प्रियतम मिलने को मेरे," "तुम सत्य रहे, चिर सुन्दर मेरे इस मिथ्या जग के," "थे केवल जीवन संगी कल्याण कलित इस मग के," आदि। परन्तु इन्हें कवि की अतिशयोक्ति भी कहा जा सकता है, जिनमें उसकी आत्मस्वीकारोक्तियों को लोकोत्तर रूप देने का प्रयास

हुआ है। इस प्रकार की उक्तियाँ 'झरना' में भी हैं जैसे—

"बरसते हों तारों के फूल, छिपे तुम नील पटा में कौन?
उड़ रही है सौरभ की धूल, कोकिला कैसे रहती मौन?"

इस प्रकार प्रसाद जी ने प्राकृतिक रमणीय रूप चित्रों में लौकिक और आध्यात्मिक पक्ष की ऐसी मिली जुली व्यन्जना की है कि 'आँसू' में द्वयर्थक कला का निर्वाह देखा जा सकता है। परन्तु प्रसादजी ने रहस्य संकेतों की अपेक्षा लौकिक प्रणय व्यापार के संकेत ही अधिक रखे हैं आलंबन को अतीन्द्रिय रूप देने के कारण 'आँसू' में जो अध्यात्म धारा प्रवाहित हुई है, वह यद्यपि रहस्यात्मक नहीं है, फिर भी असाधारण सौंदर्य की सृष्टि करती है। प्रसाद जी ने जिस विशेष की अवतारणा की है वह अपरोक्ष है, परन्तु 'सामान्य' नहीं है।

स्वयं प्रसाद जी रहस्यात्मक काव्य धारा को ही आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा मानते हैं। उनका कथन है कि—"साहित्य में विश्व सुन्दरी प्रकृति में चेतनता का आरोप संस्कृत वाङमय में प्रचुरता से उपलब्ध होता है। यह प्रकृति अथवा शक्ति का रहस्यवाद सौंदर्य-लहरी के 'शरीरं त्वं शम्भो' का अनुकरण मात्र है वर्तमान हिन्दी में इस अद्वैत रहस्यवाद की जो सौंदर्य व्यंजना होने लगी है, वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इसमें अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौंदर्य के द्वारा अहं का इदम् से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है। हाँ, विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बन कर इसमें सम्मिलित है। वर्तमान रहस्यवाद की धारा भारत की निजी सम्पत्ति है, इसमें सन्देह नहीं।" प्रसाद जी ने नवीन काव्योत्थान की मूल चिन्तना को स्वच्छन्दतावाद अथवा अभिव्यंजनावाद की प्रेरणा या प्रभाव की धारणाओं से विमुक्त कर सांस्कृतिक पुनर्जागरण की प्रवृत्ति के रूप में उपस्थित किया है। उन्होंने अनात्मवादी दर्शन की अनुपयोगिता स्पष्ट करते हुए शैवागम और शाक्तागम का विवेचन किया है। वे स्वयं आत्मवादी थे भी, यद्यपि बौद्धदर्शन के दुःखवाद का प्रभाव भी उन पर पड़ा था जैसे—

"वेदना विकल फिर आई मेरी चौदहों भुवन में,
सुख कहीं न दिया दिखाई विश्राम कहाँ जीवन में।

तथा—

"तेरे प्रकाश में चेतन संसार वेदना वाला
मेरे समीप होता है पाकर कुछ करुण उजाला।"

इससे अर्थवाद माना जाय तो भी 'शृंगार चमकना उनका मेरी करुणा मिलने से' का स्वाभाविक परिणाम नियति वाद अदृष्ट की सर्वव्यापी नियन्त्रणकारी शक्ति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, जैसे—

'नचती है नियता नटी सी कंदुक-क्रीडा सी करती,
इस व्यथित विश्व आँगन में अपना अतृप्त मन भरती।'

अस्तु, प्रसाद जी ने शैवों की तरह जगत को आत्मा में पर्यवसित कर लेने की अपेक्षा आधुनिक कवियों की शाक्तों की तरह चेतनामय विश्व में आत्मा को विलीन कर देने का सैद्धान्तिक रहस्य दर्शन मुख्य किया है। अद्वैत के कारण प्रकृति आत्म-चेतना ग्रहण कर चिन्मय हो जाती है। यहाँ तक छायावादियों को आपत्ति नहीं है, परन्तु वे चेतना का सार्वत्रिक आरोप नहीं करते। इसलिए पं० नन्ददुलारे वाजपेयी जी को व्यष्टि सौंदर्य-दृष्टि और समष्टि सौंदर्य-दृष्टि में विभेद करने की आवश्यकता अनुभव हुई। उन्होंने छायावाद को व्यष्टि विशिष्ट और रहस्यवाद को समष्टि विशिष्ट माना है। अवश्य ही यह प्रकृति-परक रहस्यवाद की बात कही जा रही है। प्रसाद जी ने आधुनिक रहस्यवाद में अहं का इदम् में पर्यवसान न दिखा कर, समन्वय का भाव ही व्यक्त किया है। यह समन्वय प्रसाद जी के काव्य में भी उपलब्ध होता है। परन्तु 'आँसू' में वह प्रतिपाद्य न होकर औपचारिक है, यह निःसंकोच कहा जा सकता है। जैसे—

"सूखी सरिता की शय्या, वसुधा की करुण कहानी,
कूलों में लीन न देखी क्या तुमने मेरी रानी!"

यह केवल चेतनामयी प्रकृति पर भावारोप है, उसके साथ आत्मसमन्वय नहीं। वे जिस समरसता का उल्लेख करते हैं, वह मानवीय भावों की दार्शनिक

अनुबन्ध देना ही है सुख दुख का समझौता है। यह आत्मा की वह स्थिति भी है, जो जीवन के तूफानों में अविचलित और जगत की विषमताओं में निर्विकार रहता है। यह शिव की आनंदवादिनी उपासना है, परन्तु इसका स्वरूप 'कामायनी' में ही उद्घाटित हो सका है। 'आँसू' में जीवन की मधुकरता का भाव सर्वोपरि है, अतएव 'लज्जा' सर्ग के अधिकतर की तरह यहाँ भी—

'सब का निचोड़ लेकर तुम सुख से सूखे जीवन में,
बरसो प्रभात हिमकन सा आँसू इस विश्व सदन में"

समझौते का भाव ही प्रधान है। कवि सुख और दुःख हर्ष और विषाद मिलन और विरह में समरस रहना चाहता है। इस समरसता को विरह वेदना का उपचार माना जा सकता है। रहस्यानुभूति की समकक्षता 'आंसू' में तो इसे नहीं दी जा सकती। प्रसाद जी ने अपरोक्ष 'अनुभूति' का सतर्कता पूर्वक संकेत किया है, परन्तु यह वस्तुतः प्रत्यक्ष आलंबन विषयक मानवीय अनुभूति ही है जैसा कि पहले निवेदन किया जा चुका है, यह छायावाद के क्षेत्र की वस्तु ही है। वह परोक्ष होकर रहस्यात्मक चाहे हो जाय जैसे महादेवी जी या रामकुमार जी की कविताओं में, परन्तु अपरोक्ष रहते हुए उसे इस क्षेत्र में प्रवेश नहीं कराया जा सकता। अवश्य ही प्रसादजी की काव्य विवेचना से आधुनिक रहस्यवाद तथा छायावाद का सांस्कृतिक एवं दार्शनिक आधार स्पष्ट और पश्चिम के अनुकरण का जो सिद्धान्त खड़ा किया गया था, वह निराधार एवं भ्रामक सिद्ध होता है। महादेवी जी ने भी सर्वात्मवाद का इसी प्रकार सांस्कृतिक रूप उपस्थित किया है। ये प्रयत्न छायावाद को आध्यात्मिकता से विलग न होने देने की विचारणा के परिणाम थे। इन कवियों ने अपने कार्य काल में ही व्यक्ति निष्ठ सहयोगियों की शृंगार का मांसल चित्रण करते देखा था, अतएव सात्विकता और आध्यात्मिकता को लेकर इन्हें अपनी रक्षा के लिये सन्नद्ध होना पड़ा। जो हो, छायावाद में मानवीय भावना एँ ही सर्वोपरि थी। वे स्थूल विषयों से सम्बन्धित न होने के कारण आध्यात्मिकता का आवरण भी धारण कर लेती थीं। छायावाद का आध्यात्मिक से कोई विरोध नहीं है, वरन् मैं तो इसे इस काव्यधारा का आवश्यक और उपयोगी उपकरण मानता हूं। प्रसाद जी ने जिस काम भाव की अभिव्यक्ति 'आंसू' में की है, वह भी आदर्श एवं विशिष्ट है। कामायनी के 'काम' सर्ग में जिस मनोवृत्ति का स्वस्थ एवं उदात्त स्वरूप खड़ा किया गया है, उसी से साम्य रखता हुआ प्रसादजी का एतद् विषयक मान्यता ही है। उनके अनुसार "काम में जिस व्यापक भावना का समावेश है, वह इन सब भावों को आवृत कर लेता है।" यह काम ईश्वर की अभिव्यक्ति का सबसे बड़ा व्यापक रूप माना गया है। इसे परोक्ष साधना में सर्वप्रधानता भी कहा गया है। यह स्त्री पुरुष के सम्बन्ध का द्योतक ही रहा है। अस्तु, काम सम्बन्धी प्रसाद जी धारणा में रहस्यानुभूति के माधुर्यमयी होने तथा प्रायः इसी रूप में उसे ग्रहीत किए जाने के मतग हैं। 'आंसू' की विरह वेदना में शरीर पक्षों भी प्रधान नहीं है, परन्तु वह काम की रहस्यमयता से अस्पृश्य भी नहीं है। निश्चय ही काम की व्यापकता और अनादिकता उसमें समाविष्ट है वह प्रायः अशरीरी है परन्तु रहस्यमय नहीं है। स्वयं कवि की यही प्रवृत्ति थी, जो इन संशोधनों से स्पष्ट हो जाती है—

(१) "शशिमुख घूँघट डाले अंचल में दीप छिपाए।"

(प्रथम संस्करण)

'शशि मुख पर घूँघट डाले अंचल में दीप छिपाए।"

(द्वितीय-संस्करण)

(२) 'माना कि रूप सीमा है, यौवन में सुन्दर तेरे।
पर एक बार आए थे, निस्सीम हृदय में मेरे।

(प्रथमसंस्करण),

"माना कि रूप-सीमा है, सुन्दर, तव चिर यौवन में। पर समा गए थे, मेरे मन के निस्सीम गगन में।"

(द्वितीय संस्करण)

प्रसाद जी में वियोगानुभूत जितनी प्रगाढ है, पंतजी की उतनी ही तरल। दोनों की मानवीय वियोगानुभूति ही है, परन्तु प्रसाद जी तात्विक निष्कर्ष से उसे आशा समन्वित बना लेते हैं, और पंतजी अपने में ही उसे सीमित रखकर कल्पना विशिष्ट।

'आँसू' की करुण-कथा सुविन्यस्त है, यह कहा जा चुका है। उसमें विरह की आकुलता और उद्विग्नता का मंगलाचरण है।

"इस करुणा कलित हृदय में अब विकल रागिनी बजती क्यों हाहाकार स्वरों में वेदना असीम गरजती"

कवि ने विरह वेदना का वर्णन करते हुए 'आँसू' का आरम्भ किया है। सम्मिलन स्मृति उसके विरह को उद्दीप्त कर देती है। वह अपने प्रिय का प्रथम साक्षात्कार दर्शन करता है—

"मधु राका मुसक्याती थी पहले देखा जब तुमको,
परिचित-से जाने कब के तुम लगे उसी क्षण हमको।'

तत्पश्चात् वह अपने प्रिय के सौन्दर्य का चित्रण करता है—

"थी किसी अजग के धनु की वह शिथिल शिंजिनी दुहरी,
अलबेली बाहुलता या तनु-छवि सर की नव लहरी!
चचला स्नान कर आवे चंद्रिका पूर्व में जैसी,
उस पावन तन की शोभा आलोक मधुर थी ऐसी!"

कवि, ने मुख, वेणी, आँखें, बरौनी, कपोल, दाँत, हँसी, कान, अलकें, रूप आदि का नवीन ढंग से नखशिख वर्णन की परम्परा से थोडा अलग हटते हुए चित्रण किया है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा–

"घिर रही अतृप्ति जलधि में नीलम की नाव निराली,
काला-पानी बेला सा है अंजन रेखा काला।",

उसने 'काली आँखों में यौवन के मद की लाली' पर मानिक मदिरा से भरी हुइ नीलम की प्याली का आरोप करते हुए यौवन, उन्माद, विलास और सौन्दर्य की व्यंजना की है। सौन्दर्य की मधु मदिरा का पान कर कवि आत्मसमर्पण कर देता है, उस बंधन में उसका मुख बँध जाता है, परन्तु करुणा ऐंठी ही रहती है। यह प्रियतमा का मान है। प्रसादजी का रूप-वर्णन निश्चय ही शरीरी और मानवीय है। उसे रहस्य-प्रतीक समझकर चलना सार्थक भी नहीं है। कवि ने अपने संभोग-सुख का स्मरण किया है और बड़े कौशल से उसे व्यंजित भी कर दिया—

"परिरंभ कुम्भ की मदिरा, निश्वास-मलय के झोंके'
मुख-चन्द्र चाँदनी जल से मैं उठता था मुँह धोके!"

चुम्बन, आलिंगन, परिहास और समापण का वर्णन करते हुए उसे अपने प्रिय की निष्ठुरता का भान होता है, जिससे मानस का सब रस पीकर खाली प्याली लुढका दी है, फल स्वरूप कवि का विकसित स्वेन सरोज मानस में कुम्हला गया है। कवि का हीरे सा हृदय कोमल शिरीष पुष्प के द्वारा कुचल जाता है और–

"व्याकुल उस मधु सौरभ से मलयानिल धीरे धीरे,
निश्वास छोड जाता है अब विरह तरिङ्गिनि तीरे।"

प्रिय की स्मृति से कवि की हृदय-कली विकसित होती है और वह व्यर्थ प्रतीक्षा करता हुआ अंबर के तारे गिनने लगता है शीतल पवन प्रिय का स्पर्शानुभव करता है और वह सिहरता हुआ आँसू बहता है। कवि का विरह चिर-कालिक हो जाता है और उसकी वेदना सवव्यापी। उसकी घनीभूत पीडा आँसू बनकर बरस पड़ता है। कवि सामान्य विरह व्यक्ति की तरह घबराने लगता है। पहले 'हम लोग को' दुख होगा की अनुभूति होती है और फिर प्रत्याशा जाग उठती है। वह सम्मिलन सुख के लिये लालायित रहता है। वह धूल कणों में चमकता सा सौरभ होकर उड जाना चाहता है और प्रिय प्राप्ति के लिये ग्रह-पथ में टकराने का उत्कंठा भी दिखाता है। उसे इस विचार से कुछ सान्त्वना मिलती है कि संसार दुख-सुख में उठता गिरता तिरोहित हो जायगा। वह मानव जीवन वेदी पर विरहमिलन का परिणाम कराना चाहता है। शिक्षित आहों द्वारा सिंचकर आते हुए अपने प्रिय से वह तम मय अन्तर में सम्मिलन चाहता है। उसे मानव जीवन में दुख की अनिवार्यता का विश्वास हो जाता है, परन्तु वह अपने दुखों से बाद में छुटकारा भी पाना चाहता है। वह निशि से कहता भी है कि—

'तुम स्पर्शहीन अनुभव सी नन्दन तमाल के तल से'
जग छा दो श्याम-लता सी तन्द्रा पल्लव विह्वल से।"

कवि की अपनी वेदना की सहयोगिनी 'चिर दग्ध दुखी वसुधा' के रूप में मिल जाती है, यद्यपि विस्मृति में कल्याण की वर्षा होती है, नाम रूपों की पृथकता नष्ट हो जाती है, परन्तु लहर के न उठने म उसे जीवन की स्थिरता भी दिखाई देती है। वह जीवन के द्वन्द्वों से मुक्त होने की कामना नहीं करता, उसे तो वेदना ही कल्याणकारिणी प्रतीत होती है। उसकी आकांक्षा है कि जीवन सागर में पवित्र बडवाग्नि की तरह हृदय का सारा कलुष जलाकर उसकी वेदना अनल बाला सी जलती रहे, जो सदा सुहागिनी मानवता के सिर की रोली है। उसके कल्याणी और शीतल विशेषण हैं। वह निर्मम जगती को मंगलमय उज्वलता दे सके, यही कवि की वैयक्ति वेदना का सार्वजनिक महत्व तथा कवि की प्रेम-व्यथा और निराशा-मय-जीवन का लोक व्यापी समाधान है। प्रसादजी पलायनवादी हैं उक्त भ्रान्ति का निश्चय ही इस असफल प्रेम की लोक संवेदनकारी परिणति से निराकरण हो जाता है। यह निराशा हृदय के लिये आवश्यकता सान्त्वना है और मानव जीवन से विरह न होने का आयोजन। कवि को निराशा में आशा का अरुणोदय होता है और वह सुस्मित मे सोने वाले को अपनी आहों से जगाना चाहता है। वह अपनी अनामिका प्रेमिका को जीवन-पथ की चिर संगिनी बनाने का उपक्रम करता है, उसकी कामना है कि—

मेरी मानस-पूजा का पावन प्रतीक अविचल हो।,

तथा—

"जगती का कलुष अपावन तेरी विदग्धता पावे,
फिर निखर उठे निर्मलता, यह पाप पुण्य हो जावे।"

कवि की व्यथा उसके लिये ही कम प्रेरक नहीं है, उसका अनुरोध अपनी प्रिय वेदना से भी यही है कि क्या उसने निराश नयनों के 'आँसू' देखे हैं, क्या चिर-वंचित की प्रलय-दशा देखी है? अन्त में कवि की संवेदनशीलता अपने तक ही सीमित न रहकर विश्व के लिये भी सहृदय हो उठती है। इस कवि का वास्तविकता से उद्बुद्ध आदर्शवाद कहा जा सकता है अथवा निज निराशा लोकमंगलकारी रूप देने का आत्म विस्तार। उसने सौंदर्य और वेदना की मर्मस्पर्शी अभिव्यंजना करते हुए सुख और दुख को अपनाने का अद्भुत सामर्थ्य दिखाया है। कवि की वेदना जीवन निरपेक्ष न होकर, उसे परिष्कृत सहृदयता से सरस बनाती है। यही प्रसादजी की आधुनिकता है और इसी म उनका प्रसादत्व है। उन्होंने नवीन सभ्यता म स्नेह, सद्भाव का विकास तथा निराश जीवन म सक्रियता का प्रवर्द्धन करने का यत्न किया है। जिस विलास वैभव का वातावरण और प्रकृति का संवेदनीय सौंदर्य उन्होंने उपस्थित किया है, वह भारतीय संस्कृति व उपकरणों से निर्मित है। जिस एकान्त माधुर्य और प्रेम वैदग्ध की उन्होंने सृष्टि की है, वे जीवन की विषमताओं म उलझकर नहीं बिखरे हैं, परन्तु उन्होंने अपनी सीमाओं से ऊपर उठकर जिस शाश्वत मानवता का, करुणा का संदेश दिया है। वह निश्चय ही सर्वकालिक है। प्रेम की इतनी रमणीय व्यंजना, प्राकृतिक और मानवीय सौंदर्य की इतनी कल्पना, मनोविकारों की इतनी सुकुमार नियोजना तथा मार्मिक उक्तियों और व्यंजक चित्रों की इतनी प्रगल्भ सृष्टि हिन्दी के लिये अभिनव उपहार थी। 'आँसू' एक युगान्तरकारी कृति के रूप में उपस्थित हुआ। प्रसादजी की काव्य कला का इसमें पहली बार पूर्ण प्रकर्ष दिखाई पड़ा। उन्होंने 'आँसू' में जिस विधायक शक्ति का परिचय दिया, वह निरंतर उत्कर्षाभिमुख रही। इनकी जो विशिष्ट प्रवृत्तियाँ 'आँसू' में प्रकट हुईं, वे ही स्फुट रूप से 'लहर' में और समन्वित रूप से 'कामायनी' में क्रियाशील हुईं। अवश्य ही प्रसादजी का प्रिय आनन्दवाद "कामायनी" में ही प्रतिष्ठा पा सका। 'लहर' तक वे करुणवाद या दुःखवाद से भी प्रभावित रहे। यही नहीं, विषाद उनकी समस्त काव्य सृष्टि और जीवन दर्शन की प्रेरक शक्ति रहा। बौद्ध दर्शन का उनपर प्रभाव तो पड़ा— उनके नाटकों में भी वह स्पष्ट हुआ—परंतु वे

(शेष पृष्ठ ४२ पर)

हिन्दी का प्रारम्भिक गद्य और उसके आचार्य

[श्री व्रजभूषण सिंह 'आदर्श' एम० ए०]

हिन्दी के आधुनिक गद्य साहित्य का इतिहास अधिक प्राचीन नहीं है—यह अभी कोई सवासौ वर्ष पुराना है। यद्यपि गद्य का प्रारम्भ तो उसी दिन से हो जाता है जिस दिन से मनुष्य बोलने लगता है, और यद्यपि साहित्य के कामों के लिये हिंदी गद्य का प्रयोग कई शताब्दी पुराना मिलता है, पर उसको आधुनिक साहित्यिक रूप देने का काम कोई सवा सौ वर्ष पूर्व फोर्ट विलियम कालेज में किया गया था।

प्रारम्भिक गद्य हमें दो भाषाओं में दिखलाई देता है अवधी और व्रज। खड़ी बोली तो केवल बोल चाल की भाषा थी, साहित्य निर्माण का कार्य उसमें नाममात्र को ही हुआ है। प्राचीन गद्य जो कुछ मिलता है वह विशेषत व्रज-भाषा में ही लिखा मिलता है।

पहले तो तीनों अवधी, व्रज और खड़ी बोली बोल चाल की ही भाषायें थीं पर क्रमश अवधी और व्रज भाषा में साहित्य रचना होने लगी, खड़ी बोली प्राय बोल चाल में काम आती रही। किन्तु आश्चर्य का विषय है कि परिस्थिति आज ठीक विपरीत है। खड़ी बोली साहित्य रचना का विषय बन गई है और अवधी और व्रज भाषा प्राय लुप्त सी हो गई हैं।

आधुनिक हिन्दी गद्य को साहित्यिक रूप देने का श्रेय सैयद इंशा अल्लाह खां, सदल मिश्र, लल्लूलाल जी और सदासुखलाल को प्राप्त है। ये चारों प्राय समयकालीन थे। इंशाअल्लाह की मृत्यु १८७५ में हुई, लल्लूलालजी ने स० १८८१ में पेन्शन ली और सदल मिश्र संवत १८८८ के लगभग अपने घर लौट आए थे उपरोक्त कथन से उनका समकालीन होना स्पष्ट है। तीनों रचनाओं के काल में भी विशेष अन्तर नहीं है। लल्लूलालजी और सदल मिश्र ने तो ईस्टइन्डिया क० के अधीन जान गिलक्रिस्ट के तत्वावधान में ग्रंथों का निर्माण किया था। उनके ग्रंथों का मूल उद्देश्य कंपनी के नोकरों को हिन्दी सिखलाना मात्र था। परन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि • सदासुखलाल और इन्शाअल्लाह खां ने बिना किसी दबाव के साहित्य सृजन किया है। इनमें भी मौलिकता और गठन के दृष्टिकोण से इन्शा अल्लाह का स्थान सबसे ऊंचा है।

१—इन्शा अल्लाह खां

जिस समय इंशा ने "रानी केतकी की कहानी" लिखी उस समय हिन्दी गद्य अपने शैशवावस्था में था, इसलिए प्रारम्भ की रचनाओं में न तो हमें भाषा की बलिष्टता ही मिल सकती है और न लेखकों में व्यंजना शक्ति की प्रौढ़ता ही। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि इंशा का स्थान सबसे महत्वपूर्ण है।

इंशा ने अपने ग्रंथ के लिखने का कारण इस प्रकार बतलाया है, एक दिन बैठे २ यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिन्दवी छूट और किसी बोली का पुट न मिले। • 'बाहर की बोली और गवारी कुछ उसके बीच में न हो।

इधर यह उल्लेख करना अनुचित न होगा कि इस उद्देश्य की पूर्ति करने वाले इंशा अल्ला फारसी और अरबी भाषा के अच्छे विद्वान थे। उर्दू पर भी उनका अच्छा अधिकार था, और वे उर्दू में कविता भी किया करते थे। वे दिल्ली के शाह आलम के दरबार के कवि थे। वे केवल कविता ही नहीं करते थे वरन् विनोदमय कहानियाँ भी रचकर दरबार में सुनाया करते थे।

'रानी केतकी की कहानी' का रचना काल १८५६ से १८६६ के बीच का माना जाता है। यह शायद उस

समय लिखी गई होगी जब खाँ साहब लखनऊ में थे। कहानी लिखने का उद्देश्य इंशा के ही शब्दों में ऊपर बतलाया जा चुका है और कहना न होगा कि वे अपने प्रयास में सफल भी हुए। उद्भावना की दृष्टि से खाँ साहब का प्रयास नया था। पहले तो कहानी मौलिक है किसी की छाया नहीं। कहानी की मौलिकता से अभिप्राय यही होना चाहिए कि गद्य में इस प्रकार किसी लेखक ने पहले नहीं लिखा। कुछ विद्वान इस कहानी को सर्वथा मौलिक मानते हैं। पर एक वर्ग ऐसा भी है जो इसे लोक कथा मानता है। इस वर्ग का कहना है कि यह कहानी उत्तर प्रदेश की एक बहु प्रचलित लोक कथा है।

कहानी मौलिक हो अथवा लोक कथा पर आधारित उसमें कथा निर्वाह बहुत अच्छा बन पड़ा है। उसकी घटनायें सुसंगठित हैं। कहने का ढंग भी चित्ताकर्षक और मनोहर है। भाषा में चमत्कार का वर्णन शैली में आकर्षण है। शैली में चटक मटक और गढ़त शब्दों का अतिरेक हमें दिखलाई देता है। यह ढंग सर्वथा निराला है। यद्यपि इंशा ने प्रतिज्ञा तो यह की थी कि हिंदवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो, परन्तु इसमें उन्हें कहाँ तक सफलता मिली यह विचारणीय है। डा० श्यामसुन्दर दास ने हिंदवी से अर्थ लिया है हिन्दी शब्दों का प्रयोग और फारसी तथा अरबी आदि विदेशी भाषाओं का बहिष्कार भाखापन का अर्थ वे प्रान्तीय बोलियों (अवधी और ब्रज) का बहिष्कार लेते हैं। खड़ी बोली में गद्य की रचना अभी तक प्रारम्भ न हो पाई थी और लल्लूलाल तथा सदल मिश्र की रचनाओं से वे शायद अपरिचित थे।

इस प्रकार हिंदवी छुट से इंशा का अर्थ 'हिंदी मात्र' या ठेठ हिंदी से था। प्रस्तुत कहानी की शब्दावली केवल ठेठ और तद्भव शब्दों से बनी है। ब्रज अवधी और बुन्देली आदि प्रादेशिक भाषा के शब्दों को इसमें प्रयुक्त नहीं किया गया है। संस्कृत की तत्सम शब्दावली से युक्त भाषा का बहिष्कार भी इसमें हमें दिखाता है। अरबी फारसी और उर्दू के विद्वान होने पर भी उनके शब्दों को कोई स्थान न मिलना सचमुच ही रचना कौशल का ही प्रमाण है।

यद्यपि इंशा अल्लाह की भाषा शैली उर्दू ढंग की है। पर वह उनके समकालीन लेखकों की अपेक्षा अधिक पुष्ट और मनोहर है। इसमें उर्दू भाषा शैली की चपलता और चंचलता है।

इंशा ने विषयानुकूल भाषा का प्रयोग किया है। यद्यपि अधिकांश शब्द ठेठ हिंदी के हैं पर उर्दू मुहावरों का अधिकता से प्रयोग हुआ है। प्रांतीय बोली से वे परिचित थे। 'फाऊ मियां का मुई पटकिये धुमाय के' इसका परिचायक है।

किन्तु इसके अलावा गद्य में भी पद्य के समान तुक मिलाने की एक विचित्र धुन हम इस कहानी में पाते हैं। तुकबन्दियों ने बेतरह उसे घेर लिया है। ऐसी भाषा अपनी धीमी धीमी के कारण गूढ़ विषयों के उपयुक्त नहीं होती। इंशा में भी हम तुकबन्दी का प्रबल मोह पाते हैं।

'जब सूरज डूबा मेरा जीव बहुत ऊबा'

कहावतों और मुहावरों का बड़ा परिष्कृत रूप हम 'रानी केतकी की कहानी' में दिखलाई पड़ता है। पचीसों मुहावरों का सुन्दर प्रयोग किया गया है। इंशा की वाक्य योजना फारसी ढंग से प्रभावित है 'सिर झुका कर नाक रगड़ाकर हूँ अपने बनाने वाले के सामने।' इसमें अंग्रेजी वाक्य विन्यास की तरह क्रिया, कर्ता के बाद तथा कर्म के पूर्व रखी गई है। यद्यपि यह वाक्य विन्यास [वह बहुत प्रसन्न हो खोलकर लगा उसे सूँघने] सदल मिश्र में भी मिल सकता है पर उन्होंने व्यापक रूप में क्रिया को वाक्य के अन्त में ही रखा है। यह प्रयोग अधिक समीचीन भी है।

कथा के बीच बीच में पद्य का प्रयोग भी किया गया है, पर वह उच्च कोटि का नहीं है। तुक की जड़ मिलाने में अधिक चमत्कार आप उसमें नहीं पायेंगे। फिर भी खड़ी बोली के पद्य के इतिहास के निर्माण कालीन रूप हमें इन पंक्तियों में दिखलाई देता है। महत्वपूर्ण घटनाओं और अर्थों का उल्लेख अनेकशीर्ष द्वारा लेखक ने दिया है। इनका गठन भी अंग्रेजी वाक्यों

जैसा ही है टाठ करना गोसाईं महेंदर गिरी का, अच्छा पन घाटो का'।

इंशा अल्लाह की भाषा को एक विशेषता और है। आधुनिक हिन्दी और उर्दू में कृदन्त क्रियाओं और विशेषणों का प्रयोग होता है पर उनमें वाचक सूचक चिन्ह नहीं होते परन्तु पुरानी उर्दू में इन वाचक सूचक चिन्हों का प्रयोग होता था। इंशा ने भी ऐसे प्रयोग *किए हैं, आतियाँ जातियाँ जो सासें है। पललिदा* बहलातिया हैं आदि। श्याम सुन्दरदास इसे पंजाबी का प्रभाव मानते हैं जिसमें अभी भी ऐसे प्रयोग होते हैं।

कहानी—कहानी की कसौटी पर

तथ्य की दृष्टि से कहानी अनेक अस्वाभाविकताओं से ही युक्त है। चमत्कार प्रदर्शन ही लेखक का प्रधान लक्ष्य दिखलाई देता है। तिलस्मी और जादूभरा घटनाओं से वह स्वाभाविक और जीवन के निकट की नहीं रह गई है। विवाह के समय का ऐश्वर्य वैभव पूर्ण चित्रण 'अरेबियन नाइटस' के ईरानी वैभव का दृश्य उपस्थित करती है पर यह उतना प्रभावशाली नहीं है।

भाषा अपनी प्रयोगिकता के कारण वर्णन को हास्य पद बना डालती है। आतियाँ जातियाँ परिष्कृति मे बाधक है। *पर इसमें इंशा की भाषा का मूल्य घट* नहीं जाता। उसका तो उद्देश्य ही परिष्कृत तथा अन्य प्रभावों से मुक्त भाषा का प्रयोग करना था अनेक कठिनाइयों एवं निर्देशनाभाव होने पर भी वे सफल रहे। उनकी भाषा में उर्दूपन के प्रारम्भिक रूप के दर्शन होते हैं जब उर्दू हिन्दी से अलग नहीं हो पाई थी पर अलग होने के उद्योग में थी।

भाषा की दृष्टि से विवेचन करने पर इस 'चौकड़ी' में इंशा के बाद दूसरा स्थान सदा सुखलाल का आता है

मुंशी सदासुखलाल

प्रो० शिवनाथ तो सदासुखलाल को हिन्दी में निबन्ध रचना के प्रारम्भकर्ता मानते हैं, वे उनका उप नाम 'सुख सागर' कहते हैं।

हिन्दी खड़ी बोली गद्य को शक्ति प्रदान करने वालों में मुंशीजी का विशेष हाथ माना जाता है। उनके सम्बन्ध में जो अनुसन्धान कार्य चल रहा है, वह अधूरा है। उनकी दो चार रचनायें ही सबके सामने आई हैं यद्यपि भगवतदीन और रामदास गौड का कथन है कि इन्होंने बहुत से लेख लिखे।" मुन्शीजी *की प्राप्य रचनाओं में 'सुरासुर निर्णय' प्रधान है। यह एक निबन्ध है जो 'हिन्दी भाषासार' में संकलित है।* इस रचना का काल सं० १८३६ माना गया है। [रानी केतकी की कहानी से पूर्व] यह एक निबन्ध है और १६ वीं शदी के मध्य के कुछ पूर्व खड़ी बोली में हिन्दी में निबन्ध का प्रस्तुत होना एक घटना है।.........

...... इसमे विषय का आरम्भ करके उसका अन्त निबंध की छोटी सीमा के अन्तर्गत ही कर दिया गया है। यद्यपि इसमें निबंध के सभी तत्व नहीं हैं पर विवेचन पद्धति की शिष्टता के कारण यह निबंध की श्रेणी में आयेगा।

सदा सुखलाल की प्रवृति धर्मों मुख थी। उस समय देश में धर्म और भक्ति का प्रधान्य था अतः देशकाल की परिस्थिति के अनुकूल धार्मिक विषय का चयन लेखक की धर्मोन्मुख रुचि का परिचायक है।

यह एक विवेचानात्मक निबंध है—जिसमें लेखक ने अपने पक्ष का प्रतिपादन अनेक उदाहरणों द्वारा किया है। इसमें यदि कहीं अस्पष्टता का आभास है वह केवल भाषा के कारण क्योंकि वह आज का गद्य नहीं है सैकड़ों वर्ष पुराना है। भाषा और उसकी अभिव्यक्ति शैली प्राचीन है। इसमे पंडिताऊपन है। वाक्य योजना भी विशृंखल है। उनमें पुनरुक्ति दोष भी हैं। *ऐसे वाक्य जिनकी योजना में पंडिताऊपन* अधिक है अनेक हैं।

वाक्य संयोग को लोप करने की प्रवृति भी विशेष मिलती है। दुर्गासा ब्रह्म ऋषि हैं १—स्वभाव तमोगुणी है, २—उसे असुर जानना चाहिये। इनमें परन्तु या पर संयोजक तथा अतः या इसलिये संयोजकों का लोप है। जम न पावता उसे कहना चाहिये आदि प्राचीन एवं

पडिताऊ प्रयोग है। इसमें निर्णय का प्रयोग स्त्री लिंग में है। फारसी का भी एकाध प्रयोग है लज्जालोचना।

सदा सुखलाल को [१८०३–८१] श्यामसुन्दरदास आचार्यों की मूर्ति में स्थान नहीं देते क्योंकि इनके कुछ स्फुट लेख ही मिलते हैं। ग्रथ नहीं और लेख भी किसी क्रम से नहीं भक्ति की भावुकता में लिखे गये हैं।

वे इ शा के बाद दूसरा स्थान सदल मिश्र को देते है। जब अंग्रेजों को कम्पनी के कार्य को सुचारुता पूर्वक चलाने की आवश्यकता ज्ञात हुई तो उनका ध्यान हिन्दी गद्य निर्माण की ओर गया। सन् १८०३ में जान गिलक्रिस्ट ने हिन्दी में पुस्तकों को तैयार करने का काय सदल मिश्र और लल्लू लाल के हाथों में सौंपा। सदल मिश्र और लल्लू लाल ने इस क्षेत्र में विशेष काय भी किया। नलिनामोहन सन्याल ने तो लिखा है। हिन्दी अर्थात् खड़ी बोली लल्लू लाल और सदल मिश्र की देन मानी जा सकती है। ग्रीअज तथा कुछ अन्य विद्वान भी इसी मत को मानते हैं।

मिश्र जी की भाषा लल्लू लाल की अपेक्षा अधिक प्रौढ है। बिहार के आरा जिला में रहने के कारण मिश्र जी की भाषा बिहारी से प्रभावित है यों बगला भाषा की छाया से भी यह मुक्त न हो सकी है। गयों शब्द बिहारी भाषा का है जो बगला से आया है। कादती शब्द बगला का है। बिहार एक लम्बे अर्से तक मुसलमान शासक के आधीन रहा फलस्वरूप बिहारी पर उर्दू का प्रभाव भी दीख पड़ता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण सदल मिश्र की भाषा है। उनकी भाषा पर सबसे अधिक प्रभाव उर्दू का ही दीखता है। उन्होंने उर्दू के मुहावरों, वाक्यावली आदि की ओर विशेष ध्यान दिया। सुनते ही आग हो गये। सुग्गा सा पढाया 'हर्ष से दूने हो' उर्दूपन के प्रभाव से भाषा सजीव बन पड़ी है।

मिश्र जी की भाषा में हमें कि "वो" का प्रयोग बहुत मिलता है। विभक्ति के रूप में सा वा सारी का भी बाहुल्य दीखता है। "उठ के बैठी और लगी सोचने" म उर्दू रचना की छाप है। ऐसा लगता है कि मिश्र जी ने सम्मुख भाषा का कोई आदर्श नहीं रखा। इनकी भाषा में माधुर्य नहीं है। क्योंकि आरा जिला ब्रज भाषा के प्रभाव से दूर है। मिश्र जी ने यदि ब्रज भाषा के शब्दों का प्रयोग किया भी है तो परिवर्तित रूप में "बहुदिस साची होय आवते।'

उन्होंने एक स्वतन्त्र रूप की गद्य परिपाटी चलाना चाहा। भाषा की प्राढता की दृष्टि से मिश्र जी अपने समकालीन लेखकों में सर्व श्रेष्ठ ठहराते हैं। उसमें हमें सस्कृत शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। पूर्वी भाषा के "इहाँ जौन जौन" प्रभृति कई शब्द भी दिखलाई पड़ते हैं। इससे यह सोचा जा सकता है कि पडित जी ने शायद अवधी भाषा का अध्ययन भी किया होगा।

सदा सुखलाल की तरह मिश्र जी की भाषा में हमें पडिताऊपन के दर्शन होते हैं यह प्रभाव सकर्मक क्रियाओं के प्रयोग में देखा जा सकता है। बात को सुनते हैं पीड़ा को सहते हैं "सोई और फिर"। फिर मिश्र जी की भाषा गठीली है लल्लूलाल की भाषा का लचरपन उसमें नहीं है। मिश्र जी की भाषा में न तो शब्दों की तोड़ मरोड़ ही है और न शब्दों का व्यर्थ जाल ही। शैली सरस है, लम्बे लम्बे समासों का प्रयोग उन्होंने नहीं किया। उनकी भाषा सम्भवत कवि न होने के कारण अनुप्रास और तुकान्तहीन है। उन्होंने शब्दों को दुहरा कर, प्रयोग भी किया है, उथल पुथल, रोना व लपना। मुहावरों का भी प्रयोग है पर वह इ शा जैसा सुन्दर नहीं बन पड़ा।

मिश्र जी की भाषा में हमें व्याकरण सम्बन्धी भूलें भी बहुत मिलता हैं। वचन, सज्ञा आदि में शिथिलता के दर्शन होते हैं। उर्दू शब्द योजना की ओर इनका झुकाव इ शा की ओर अधिक है। सदल मिश्र की क्रिया प्रयोग विशेषताओं म यह उल्लेखनीय है कि उन्होंने क्रिया को वक्यात में रखा है—' सकल सिद्धि-दायक दो देवनन में नायक गणपति को प्रणाम करता हूं" पर इ शा के सदृश्य इनमें भी अ ग्रेजी वाक्य वियास के दर्शन होते हैं—वह बहुत प्रसन्न हो खोन कर लगा सूघने कुछ जगह क्रिया पदों का निमाण स्वतन्त्र रूप से भी किया है इनों की बतकही।

नासिकेतापाख्यान उनकी भाषा सम्बन्धी जानकारी का कोष है जिसकी रचना उन्होंने १८०३ म सस्कृति की नाचिकेत की कथा के आधार पर की है।

लल्लू लाल जी की गणना हिन्दी गद्य के प्रारंभिक आचार्यों म की जाती है किन्तु वे कोई बड़े विद्वान न थे। डा० श्यामसुन्दरदास तथा रत्नाकर) परन्तु जिस समय वे थे हिन्दी दुर्दशा ग्रस्त थी अत उनका योगदान अपना एक महत्व रखता है। न तो उनका कोई ग्रथ मौलिक ही है और न कोई सीधा सस्कृति से ही लिया गया है।

विभिन्न प्राप्त सामग्री के आधार पर रत्नाकर के मतानुसार तो औरों के रचित ब्रज भाषा के ग्रथ पर ही इनका नर्तन है। लल्लूलाल जी के सामने यद्यपि चतुर्भुजदास का भागवत आधार स्व प था फिर भी उनमें प्रौढ़ता का अभाव है। रत्नाकर का तो कथन है कि ये सस्कृत के विद्वान न थे क्योंकि उन्होंने जो जो सस्कृत के अनुवाद किये उन उनके ब्रज भाषानुवाद ही उनके सहायक थे। उनमें सस्कृत विद्या की दुर्बलता पद पद में भिन्न नहीं होती है। ब्रज भाषा से भी ये पूर्ण रूपेण भिन्न नहीं थे। उन्होंने अनेक सकारों को पुन शकार बना के शीन के कइयके झाड़े हैं।

यही कारण है कि उनकी भाषा में अस्थिरता है। न शब्दों का रूप ही निश्चित है और न व्याकरण सम्बन्धी नियमों का निर्धारण ही। तुकब दी अनुप्रास और कवितामय भाषा उनकी विशेषताए हैं। मिश्र जी की भाषा उनकी विशेषतायें (इनकी पूर्ववर्ती होने पर भी) अधिक प्रौढ़ और परिमार्जित हैं।

लल्लूलाल के 'प्रेम सागर' का रचनाकाल १८६० माना जाता है। यद्यपि प्रकाशित वह १८६६ में हुआ। "नासिकेतोपाख्यान" सवत १८६० में बना समकालीन होने पर भी मिश्र जी का स्थान लल्लूलाल की अपेक्षा ऊ चा है। डा० श्यामसुन्दरदास इस अन्तर का कारण देते हुये लिखते हैं मेरी समझ तो लल्लूलाल जी कोई बड़े विद्वान नहीं थे। लल्लूलाल में ,इस चतुर्भुजदास का गहरा अनुकरण दिखता है।

इसमें सन्देह नहीं कि लल्लूलाल ने हिंदी गद्य लिखने का अपने भविष्यद् विद्वानों को पथ दिखला दिया उस समय सिंहासन पर बैठाया जिस समय गुजर भाषा और बग भाषा बालिका थीं।

(शेष पृष्ठ ३६ का)

अनात्मवादी न हो सके, जिसको श्रेय कवि के शैवागम दर्शन को अद्वैत चिंताधारा अपना लेने को है। मैं समझता हूं कि कवि की करुणा ही कामायनी की श्रद्धा के रूप में अवतरित हुई है और उसका दुःख से सम झौता करने का भाव ही आनन्दवाद और समरसता के सिद्धान्त में पल्लवित हुआ है।

'आँसू' स्वच्छंदतावादी काव्य की अनुपम सृष्टि है। प्रेम और कल्पना, विलास और सौंदर्य, मादकता और विषाद तथा यौवन और प्रकृति भाव प्रगल्भ में उपस्थित हैं। प्रतीत योजना और लाक्षणिक चित्रण का कौशल या स्वानुभूति की निवृति को समुपातवाद है। पर 'आँसू' इन्हीं गुणों के कारण का य नहीं है। वियोग-कथा प्रलापपूर्ण हो जाय तो उसमें वैशिष्ट्य कहाँ है? 'आँसू' की महत्ता दार्शनिक काव्य कृति के रूप में देखी जा सकती है। प्रेम रहस्य का उद्घाटन ही उसका ध्येय है। अवश्य ही उसमें व्यक्तिगत वेदना और दार्शनिक जीवन दृष्टि का सम्यक् सतुलन सध नहीं पाया है। वह स्वच्छदतावादी काव्य प्रवृत्तियों की निदर्शक सुन्दर रचना है।

उद्धव शतक की व्यापकता

[श्री रामप्रकाश शर्मा एम० ए०]

प० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में कविता की व्याख्या यह है—"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। हृदय की उसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञान योग के समकक्ष रखते हैं।" इसी भावयोग के द्वारा कवि को पर-प्रत्यक्ष की अवस्था प्राप्त होती है और इसी के द्वारा वह सत्काव्य का सृजन करता है। पर प्रत्यक्ष की अवस्था से हमारा अर्थ उस भावदशा से है जहाँ शोचनीय अथवा अभिनन्दनीय सभी प्रकार की वस्तुएँ हमारे सुखात्मक भावों का आलम्बन बनकर उपस्थित होती हैं। उस अवस्था में कवि तथा सामाजिक को अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है। योगी जिस मधुमती भूमिका तक अपनी योग साधना के द्वारा पहुँचता है, शारदा पुत्र कवि उस अवस्था में भावयोग के द्वारा सहज में ही सचरण करता है। यही रसास्वाद की अवस्था कही गई है[1]। इस रस दशा का आस्वादन वही कवि या भावुक ले सकता है जिसका हृदय विश्व के कण-कण से आत्मीयता रखता हो और जो अपनी व्यष्टि की समष्टि के साथ, स्वायत्त सत्ता को लोक सत्ता के साथ अथवा अनेकत्व में एकत्व को लीन कर सकता हो। अस्तु, सत्काव्य की व्यापकता और स्थायित्व मूल रूप में उसके भावविधान पर निर्भर होता है। कवि इस भावयोग में जितनी ही तल्लीनता से अह की सत्ता का विसर्जन करके शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध का निर्वाह करेगा उतना ही वह सफल कवि कहा जायेगा।

उद्धव शतक की व्यापकता का मूल कारण उसकी भाव-व्यञ्जकता है। कृष्ण तथा गोपियों के वियोगजन्य प्रेम को प्रदर्शित करने के लिये जिन अनुभाव और सचारी भावों से स्थायी भाव की पुष्टि की गई है वह अलौकिक है। जब कोई व्यक्ति भावविह्वल होता है तब शब्द न्यून हो जाते हैं और उनका कार्य कायिक, मानसिक और सात्विक अनुभाव किया करते हैं। यह दशा भाव की परिपुष्ट अवस्था कहलाती है। श्रीकृष्ण जब अपने प्रिय सखा उद्धव जी को गोपिकाओं के पास सदेश लेकर भेजते हैं उस समय उनका हृदय गद्‌गद् हो जाता है, कठ भर आता है और अश्रुपात होने लगता है, वाणी का कार्य हिचकियाँ करती हैं —

> बिरह व्यथा की कथा अकथ अथाह महा,
> कहत बने न जो प्रवीन सुकवीन सौं।
> कहै 'रत्नाकर' बुझावन लगे ज्यों कान्ह,
> ऊधौ कों कहन हेतु ब्रज जुवतीन सौं॥
> गहबरि आयो गरो भभरि अचानक त्यों,
> प्रेम पर्‌यो चपल चुचाइ पुतरीन सौं।
> नैंकु कही बैनन अनेक कही नैनन सौं,
> रही सही सोऊ कहि दीनी हिचकीन सौं॥

निसदेह, रत्नाकरजी ने अनुभावों का इतना सजीव चित्रण किया है कि उसके द्वारा भाव व्यञ्जकता में अलौकिता आगई है।

हम पहले ही सकेत कर चुके हैं कि सत्काव्य की प्रेरणा हृदय की गहन, अनुभूति के द्वारा होती है। जब यह अनुभूति शोचनीय व अभिनन्दनीय दशा के धरातल से उच उठकर शुद्ध रस दशा में पहुँच जाती है तभी सत्काव्य का सृजन होता है। रत्नाकर जी का उद्धव शतक भी उसी रसदशा का प्रतीक है। इसके द्वारा हम हृदय की सामान्य भावभूमि तक पहुँच जाते हैं और कुछ क्षण को भाव विभोर होकर सोचने लग जाते हैं कि वास्तव में हमारे मन की बात कह दी। हमारा अहभाव तिरोहित हो जाता है और हम कवि

१—साहित्या लोचन, बाबू श्यामसुन्दरदास।

की पवित्र भाव भूमि में सचरण करने लगते हैं।

जब प्रियतम का सदेश प्रेमी को मिलता है तो उसे सुनने की उत्कठा, उत्सुकता और विह्वलता जन्य आतुरी उत्पन्न हो जाती है। उद्धव के ब्रज में आगमन का समाचार जब गोपियों ने सुना तो झुड के झुड नद को पौरी पर एकत्र होने लगीं और उद्धव से पूछने लगीं कि हमको क्या लिखा है, हमको क्या लिखा है, हमको क्या लिखा है? जैसे कि उनके प्रियतम कृष्ण ने सबको व्यक्तिगत रूप से सदेश भेजे हों।

'भेजे मन भावन के उद्धव के आवन की,
सुधि ब्रज गावनि में पावन जबै लगीं।
कहे 'रत्नाकर' गुवालिनि की झौरि झौरि,
दौरि दौरि नद पौरि आवन तबै लगी॥
उझकि उझकि पदकजनि के पजनि पै,
पेखि पेखि पाती छाती छोहनि छबै लगीं।
हमको लिख्यो है कहा, हमको लिख्यो है कहा,
हमको लिख्यो है कहा, कहन सबै लगीं॥

जो कवि अपने पाठकों में भावों का जितना ही अधिक उद्रेककर सके, वह अपने काव्य में उतना ही सफल कहा जायगा। रत्नाकर जी के सजीव अनुभाव और चित्रा मकता हमारे हृदय के सुप्त भावों को जागरित कर देते हैं।

उद्धव शतक की व्यापकता का दूसरा कारण यह है कि रत्नाकर जी को लोक हृदय की अद्भुत पहिचान थी वे भली भाति जानते थे कि मानव हृदय सुख को अकेले ही उपभोग करता है और दुख को बाँटकर खाना चाहता है। तभी तो आदि कवि के भीषण शाप से हमारे हृदय को तुष्टि होती है, तभी तो भौंरे और काग को सदेसड़ा सुनाते हुए हम नागमती की विरह वेदना से व्याकुल हो जाते हैं। राम का विलाप, मीरा की पीर, महादेवी की करुणा और उर्मिला की वेदना से हमारा हृदय क्यों सहयोग करता है? वास्तव में दुःख से मानव-हृदय बहुत शीघ्र प्रभावित होता है क्योंकि इस विश्व म दुःख का प्रसार व्यापक रूप से है। यहाँ अग्रेजी की उक्ति स्मरण हो आती है कि हमारे मधुरतम गीत वही हैं जो हमें दुख पूर्ण गाथाए सुनाते हैं'। रत्नाकर जी का उद्धवशतक प्रेम की वही पीर नवीन रूप म प्रस्तुत करता है जो सूर, तुलसी, जायसी, मीरा, महादेवी ने सुनाई थी। दुःख में मानवमन अपना कोमलतम भावनाओं का प्रक्षालन कर लेता है इसीलिए उन दुःखपूर्ण गाथाओं को हम हृदय से चिपटाये रहते हैं। उद्धवजी का ज्ञान क्या निरर्थक वस्तु है? क्या हम सब उसी विराट पुरुष क अश नहीं हैं और क्या हम सबमें उसी की सत्ता भासमान नहीं है? फिर भी हमारा मन उनसे सहानुभूति नहीं रखता इसका एकमात्र कारण यही है कि गोपियों का प्रम लोक सामान्य की भावभूमि पर प्रतिष्ठित हो गया है और उसके रागात्मक सम्बन्ध का निर्वाह शेप सृष्टि से हो गया है। दूसरे शब्दों में गोपियों का प्रेम साधारणीकरण की भूमि पर प्रतिष्ठित हो चुका है। अत उससे प्रत्येक प्राणी का लगाव होना स्वाभाविक है। इसी लोक हृदय की सच्चा पहिचान ने उद्धव शतक को अत्यन्त व्यापक बना दिया है।

उद्धव शतक जीवन की सरस अनुभूति का कौशल पूर्ण ढग स स्पष्टीकरण करता है। अनुभूति के द्वारा तो हृदयोदधि तरगित हो जाता है और कला मकता के द्वारा उसमें अनूठापन आजाता है। कला जीवन को उत्तम रूप से प्रस्तुत करने का साधनमात्र है और कलाकार अपनी आत्मा को उसके माध्यम से प्रकट किया करता है। बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने कला को दो पक्षों म विभाजित किया है —

अनुभूति पक्ष और रूप पक्ष। वास्तविक कला का सृजन इन दोनों की पूर्णता म ही है। जिस कवि म अनुभूति की न्यूनता हो और वह अपने दाव पच शब्द शक्ति आदि म दिखाता हो तो वह न तो लोकोपयोगी काव्य का सृजन कर सकेगा और न वह काव्य व्यापक ही बन सकेगा। जब कवि के हृदय में अनुभूति

१—Our Sweetest Songs are those which tell of saddest thought'

प्राञ्जल होती है और उसे व्यक्त करने की अभिव्यञ्जना-शक्ति भी प्राञ्जल होती है तभी स्थायी व व्यापक काव्य का सृजन होता है। इसके अनुसार बाबूजी ने कई विभाग किये हैं—

(१) अनुभूति की न्यूनता और रूप की विशेषता।

(२) अनुभूति की तीव्रता और रूप की न्यूनता।

(३) अनुभूति और रूप दोनों की न्यूनता।

(४) अनुभूति और रूप दोनों का समन्वय।

उद्धवशतक की व्यापकता का एक प्रमुख कारण यह भी है कि उसमें अनुभूति तथा रूप-पक्ष का समन्वय पाया जाता है। कला की नैसर्गिक छटा से नव रस का उद्रेक होता है, उसी भूमि पर पाठकों की भावतुष्टि हुआ करती है। कवि वर्ण्य विषय को अपने आत्म सादृश्य के आधार पर ही रचता है। सौंदर्य को आत्मसात करना महान बात है परन्तु उस सौंदर्य को उत्तमता से प्रकट करना उससे भी महान बात है। इसी में कलाकार की महानता और कला का परिचय मिलता है। उद्धव शतक में भी कवि ने सौंदर्यानुभूति को सुन्दरतम रूप से प्रस्तुत किया है। उसमें जीवन को अनुप्राणित करने वाले भाव, लोकानुभूति और व्यञ्जनाशक्ति का पूर्ण समन्वय पाया जाता है। उसमें भाषा का भूमि अत्यंत सामान्य होते हुए भी सार्वभौमिक है। उनकी सर्वभौमिकता अभिव्यञ्जनाशक्ति तथा शब्दशक्ति से और भी गूढ़ तथा स्थायी होगई है।

केशव भाषा के पंडित थे और 'अलंकार शास्त्र' के महान ज्ञाता। तब भी उनका रामचन्द्रिका काव्य उतना व्यापक नहीं हो सका जितना कि तुलसीदास का रामचरित मानस। जहाँ तक वर्ण्य विषय का सम्बन्ध है वह लगभग समान है परन्तु न तो उसमें उतना रमणीयता है और न उतना गहन अनुभूति की छटा अतः उनको हम (१) वर्गीकरण की कोटि में रखते हैं। उनमें रूप पक्ष की विशेषता है परन्तु अनुभूति की कमी। रत्नाकर के उद्धवशतक में भाषा की प्रौढ़ता, अलंकारों की रूपता, छंदों की सुगठनता, व्यञ्जनाशक्ति की गूढ़ता और अनुभूति की सम्यक् छटा पाई जाती है। इसमें कवि ने यत्र तत्र नवीन कल्पना को अपने जीवन अनुभव से मिश्रित करके इस काव्य को उत्तम बनाने का सफल प्रयास किया है।

उद्धवशतक के व्यापक होने का एक कारण यह भी है कि कवि ने वर्ण्य विषय को लोकप्रिय ही चुना है। श्रीमद्भागवत के कृष्ण, गोप, गोपी, यशोदानंद हमारे रक्त में मिश्रित हो चुके हैं। इसके उपरांत नंददास सूरदास आदि कवियों ने इन्हें और भी लोकप्रिय बना दिया। रत्नाकर ने भी उसी मनमोहन, की पवित्र गाथा को गाया जिससे उनका उद्धव शतक तुरंत ग्राह्य हो गया। रत्नाकर जी ने गंगावतरण प्रबन्ध काव्य के रूप में लिखा है परन्तु वह उद्धवशतक की भाँति प्रसिद्ध नहीं हो सका। हमें रत्नाकर जी का वास्तविक परिचय उद्धवशतक में ही मिलता है।

उद्धवशतक की व्यापकता के मूल तत्व वास्तव में कवि की सत्य अनुभूति में ही निहित हैं। कवि का सत्य अनुभूति से मेरा अर्थ यह है कि उसमें कृतिमता नहीं तथा वह मानव भावनाओं को प्रस्तुत करता हो। उसमें जो अनुभूति हो, उसे वह सच्चाई से प्रकट करने की क्षमता रखता हो। उद्धवशतक का कलाकार अत्यंत व्यापक सौंदर्य में अभिभूत था। अतः वह सौंदर्य कलाकार की वाणी से निःसृत होकर अत्यन्त लोकप्रिय होगया। उसमें अलौकिक सच्चाई, सश्लिष्ट अर्थ ध्वनि, एवं जीवन को एक निश्चित दिशा में प्रेरित करने की वेगवती इच्छा पाई जाती है। कवि का सत्य लौकिक सत्य से भिन्न होते हुए भी लोक हृदय से पूर्ण सामञ्जस्य रखता है। लौकिक व्यवहार में वह जगत मिथ्या है, स्वप्न है और उसी विराट पुरुष का अंश है। पिता, माता, सखा प्रिय आदि सभी नश्वर और क्षणिक हैं परन्तु कवि ने अपने हृदय की सत्य अनुभूति के आधार पर उसी सत्यज्ञान की खिल्ली उड़ाई है और वह उसमें पूर्ण सफल हुआ है।

उद्धव शतक पर इस प्रकार विहंगम दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि उसकी व्यापकता, मुक्त भाव व्यञ्जना, लोकहृदय की पहिचान और अनुभूति तथा रूप का समन्वय आदि पर निर्भर है।

"आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की निबंधशैली

[श्री सरोजिनी मिश्रा एम० ए० "साहित्य रत्न" "हिन्दी आनर्स"]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध क्षेत्र में पदार्पण करने से हिन्दी साहित्य में एक नया जीवन आया। शुक्ल जी ने निबन्धों को अपनी मौलिक रचनाओं द्वारा समृद्ध किया, नूतन विषयों तथा विधान पद्धतियों का उत्तम सन्निवेश किया। हिन्दी में निबन्ध के साहित्यिक और सत्स्वरूप पर जिन दो चार निबन्धकारों की दृष्टि गई उसमें आचार्य शुक्ल को अग्रणी समझना चाहिए। हिन्दी साहित्य को उनके निबन्धों द्वारा जो समृद्धि प्राप्त हुई उसका अनुमान केवल इसी बात से किया जा सकता है कि यदि उनमें से उनके निबन्ध निकाल दिये जायें तो उनका एक भाग ही सूना हो जाय।

साहित्यिक दृष्टि से विचार करने पर आचार्य शुक्ल के निबन्धों में व सभी विशेषताएँ मिल जाती हैं जो उत्तम निबन्ध के आवश्यक तत्व माने जाते हैं। निबन्ध में सगठित विचारों की अभिव्यक्ति उत्तम व्यक्तित्व की निहिति सन्निहता आदि जो निबन्ध के आवश्यक तत्व माने जाते हैं, सभी आचार्य शुक्ल के निबन्धों में विद्यमान हैं। उनकी निबन्ध शैली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनके निबन्धों में विचार शृंखला बद्ध रहते हैं और उनकी परम्परा कहीं टूटती हुई सी लक्षित नहीं होती इस कारण निबन्धों में कसावट स्वतः ही आगई है। निबन्ध की यह विशेषता आचार्य शुक्ल के "भाव या मनोविकार" पर लिखे निबन्धों में प्राप्त होती है।

विचारों की पूर्ण गुम्फित परम्परा उनके निबन्धों की एक प्रिय विशेषता है। वे प्रस्तुत विषय पर विचार करते समय अन्य प्रासंगिक विषयों पर भी विचार करते चलते हैं। जैसे "भय" पर विचार करते समय "आशंका" पर विचार।

आचार्य शुक्ल के निबन्धों में हास्य, व्यंग और विनोद की भी प्रसंगानुकूल अच्छी झलक मिलती है। इस प्रकार के व्यंग्यात्मक छींटा के लिए उन्होंने उर्दू के शब्दों और मुहावरों का प्रायः आश्रय लिया है। इन उर्दू शब्दों का प्रयोग सदैव तत्सम रूप में ही हुआ है।

शुक्ल जी की निबन्ध शैली की सर्वश्रेष्ठ विशेषता यह है कि उनकी भाषा संयत, परिष्कृत, प्रौढ़ तथा विशुद्ध होती है। उसमें एक प्रकार का सौष्ठव विशेष है। उसमें गम्भीर विवेचना गवेषणात्मक चिन्तन एवं निर्भ्रान्ति अनुभूति की पुष्ट व्यंजना सर्वथा वर्तमान रहती है। निबन्धों में भाषा सदैव भाव प्रदर्शन के अनुरूप हुई है। जितना प्रौढ़ उत्कर्ष भाषा और भाव दोनों का—हमें उनमें मिलता है उतना अन्य किसी लेखक में नहीं मिलता।

चिन्तामणि में संग्रहीत निबन्धों को हम दो प्रकारों अथवा श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं :—

(१) प्रथम श्रेणी में तो मनोविकारों अथवा मनोवैज्ञानिक विषयों पर लिखे गये निबन्ध आते हैं जिनमें श्रद्धा भक्ति 'लज्जा और ग्लानि' 'लोभ और प्रीति' 'घृणा', 'ईर्ष्या,' 'भय,' 'क्रोध' आदि हैं।

(२) दूसरी श्रेणी में हम विवेचनात्मक अथवा समीक्षात्मक निबन्धों को रख सकते हैं। इन समीक्षात्मक निबन्धों के भी स्पष्ट ही दो निभेद लक्षित होते हैं

(१) सैद्धान्तिक समीक्षा—जैसे कविता क्या है ! 'काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था' 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्य वाद' 'मानस की धर्मभूमि।

(२) व्यक्ति विषयक समीक्षा :— भारतेन्दु हरिश्चन्द्र 'तुलसी का भक्ति मार्ग'।

इस प्रकार 'चिन्तामणि' में स्पष्ट ही तीन प्रकार के—मनोवैज्ञानिक, सैद्धान्तिक आलोचना सम्बन्धी अथवा समीक्षात्मक एवं व्यक्ति विषयक निबन्ध मिलते हैं। इन सब निबन्धों के आधार पर हम शुक्ल जी की कुछ निबन्धगत विशेषताओं का उल्लेख कर सकते हैं। जिनमें प्रमुख ये हैं —

मनोवैज्ञानिक निबन्धों का जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध —आचार्य शुक्ल ने हिन्दी में सर्व प्रथम इस विषय पर उत्कृष्ट कोटि के निबन्ध तो लिखे ही साथ ही इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है, कि उन्होंने इन भारतीय भावों अथवा मनोविकारों प्रेम, लोभ, ईर्ष्या, करुणा, भय, क्रोध आदि वृत्तियों को शुद्ध मन शास्त्र के रूप में देखा है। साहित्य का जीवन से अभिन्न सम्बन्ध है। फलत इन निबन्धों को लिखते समय उनकी दृष्टि बराबर जीवन पर ही केन्द्रित रही—मनोविज्ञान के ग्रन्थों पर नहीं उन्होंने इन वृत्तियों का अपने प्रत्यक्ष जीवन में ही अनुभव किया। एवं उसी अनुभव के आधार पर ही इन वृत्तियों की मीमांसा की है। यही कारण है कि इनमें हम अन्तः निरीक्षण एवं बाह्य निरीक्षण का सुन्दर समन्वय मिलता है। उनके मनोभावों अथवा मनोविकारों का उद्गम स्थान मन शास्त्र के विस्तृत ग्रन्थ नहीं—प्रत्युत प्रत्यक्ष जीवन का कर्म क्षेत्र है। एवं जीवन के इसी विशाल वाङ्मय में कण सौन्दर्य के बीच बिखरे हुए सूक्ष्म भाव तन्तुओं को लेकर उन्हों ने जीवन के ही समष्टि रूप कलेवर के समझने का प्रयास किया है। यही कारण है कि हम इनके मनोवैज्ञानिक निबन्धों को एकान्तिन मन शास्त्र की वस्तु कहकर टाल नहीं सकते शुक्ल जी के निबन्धों की यह एक बड़ी भारी विशेषता है। इनके निबन्धत्व की कमी सन्दिग्ध नहीं होने देगी।

(२) भारतीय-शास्त्र के प्रति अनन्य आस्था — वस्तुत शुक्ल जी ने निबन्ध उनके गम्भीर अध्ययन गहन मनन एवं मौलिक आत्म चिन्तन के परिणाम हैं। उन्होंने अपने स्वतन्त्र दृष्टि कोण से ही विविध विषयों की मीमांसा की है। तथापि उनके सैद्धान्तिक आलोचना सम्बन्धी निबन्धों को—जिसमें उन्होंने काव्य शास्त्र की दृष्टि से विचार किया है— सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशिष्टता यह है कि उन्होंने इन निबन्धों में जो आदर्श प्रतिष्ठित किया है वह सर्वथा भारतीय शास्त्र से सम्मत एवं भारतीय आदर्श भावना पर निर्धारित है। भारतीय शास्त्र के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा रही है। फलत उनके समीक्षात्मक निबन्धों—साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद,' 'रसात्मक बोध के विविध रूप, 'काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था' 'मानस की धर्म भूमि' आदि में जो उन्होंने अपना मत अभिव्यक्त किया है, आदर्श स्थापित किया है—उसका सम्बन्ध भारतीय-शास्त्र से ही है। इस प्रकार प्राचीन भारतीय दृष्टि कोण के आधार पर अपने प्रतिपाद्य विषयों का आधुनिक ढंग से नवीन रूप में प्रतिपादन कर आचार्य ने समीक्षा पद्धति के क्षेत्र में एक पथ प्रदर्शक अथवा नियामक का कार्य किया है।

विषय और व्यक्तित्व का अपूर्व सामञ्जस्य — शुक्ल जी ने चिन्तामणि की भूमिका में ही कहा है "इस बात का निर्णय मैं विज्ञ पाठकों पर ही छोड़ता हूँ कि ये निबन्ध विषय प्रधान हैं अथवा व्यक्ति प्रधान ?" वस्तुत इस कथन से उन्होंने ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट किया है कि इन निबन्धों में विषय एवं व्यक्ति के अपूर्व सामञ्जस्य का प्रयास किया गया है। उनके निबन्धों में उनके व्यक्तित्व की पूरी छाप है। अन्यथा उनके मनोवैज्ञानिक लेख मनोविज्ञान के विषय होने से केवल विषय प्रधान कहलाते किन्तु शुक्ल जी ने उनमें यत्र-तत्र अपने व्यक्तित्व की अतीव सुन्दर झलक दिखाकर विषय और व्यक्ति का अनूठा सामञ्जस्य स्थापित किया है। विषय के झीने अवगुण्ठन में से उनका व्यक्तित्व स्पष्ट झलक रहा है। इस लिए न तो वे एकान्ततः विषय प्रधान ही कहे जा सकते हैं और न एकान्ततः व्यक्ति प्रधान ही। बल्कि वे दोनों का सुन्दर समन्वय हैं।

(४) एक प्रकार की प्रबल प्रेरक शक्ति अथवा भाव-प्रेषणीयता —शुक्ल जी के इन निबन्धों में एक ऐसी प्रेरक शक्ति है कि हम उनके सिद्धान्तों को स्वीकार करने के लिए सहसा प्रवृत्त हो जाते हैं—इसी में निबन्धकार की सफलता है। अपने मनोवैज्ञानिक

निबन्धों को भी अपनी अपूर्व व्यजना शैली द्वारा उन्होंने अत्यन्त सरल सुबोध एव सहज ग्रह्य बना दिया है। दुरुह विषयों की विवेचना करते समय उन्होंने बहुत थोड़े एव सारगर्भित सूक्ति वाक्यों का प्रयोग किया है। जैसे—

'भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है।"
"वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है।"

अत भाव प्रेषणीयता की दृष्टि स इन निबन्धों की शैली अत्यन्त सफल है। इनकी इसी प्रेरणा-शक्ति क कारण इनका स्थान निबन्ध साहित्य में सर्वोपरि रहेगा। उनकी शैली अत्यन्त प्रभावशाली एव विश्व सनीय तो है ही साथ ही उसमें एक प्रकार की अशेष शालीनता भी है।

(५) वैयक्तिक तत्व एव मानवीय तत्व —चिन्तामणि क निबन्धों में यह दोनों तत्व मिलते हैं। साहित्य के स्थायी भावों अथवा व्यक्तिमात्र की शाश्वत वृत्तियों (लोभ, प्र म, क्रोध, प्रीत आदि) को वर्ण्य विषय मानकर चलने के कारण इनके मनोवैज्ञानिक निबन्धों म मानवीय तत्व तो हैं ही पर बीच २ में वैयक्तिक तत्व के भी यत्र तत्र अतीव सु दर उदाहरण मिलते हैं। ऐसे वैयक्तिक त व के उदाहरणों में शुक्ल जी क व्यग बड़े मार्मिक हैं। जैसे —

"मोटे आदमियों! तुम अगर जरा-सा दुबला हो जाते अपने अन्देशे से ही सही—तो न जाने कितने ठठरियों पर मास चढ जाता।'

चिन्तामणि के निबन्धों की इन कतिपय विशेषताओं का अवलोकन करके हम कह सकते हैं कि हिन्दी निब ध साहित्य में क्या ऐतिहासिक एवम् क्या गवप णात्मक दोनों दृष्टियों से आचार्य शुक्ल का स्थान अद्वितीय है। "चिन्तामणि" में सगृहीत इन निबन्धों म हम निबन्ध के सभी अनिवार्य तत्व विचारशीलता, सक्षिप्तता, वैयक्तिकता प्रभाव प्रेषणीयता आदि मिल जाते हैं। अत इन्हें हम यथार्थ निबन्ध कह सकते हैं। हाँ एक केवल 'कविता क्या है'। शीर्षक निबन्ध अवश्य अपनी परिमिति का अतिक्रमण करता सा प्रतीत होता है। अन्यथा शेष सभी निबन्ध प्राय सन्तुर म ही हैं।

इस प्रकार के अनेक प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है कि इनके 'चिन्तामणि म सगृहीत निबन्ध' यथार्थ निब ध हैं। और गहन विश्लेषण करने पर भी उनके निबन्धों का महत्व कम नहीं हो सकता। कारण उनमें शुक्ल जी का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व ही सन्निहित है—एव साहित्य में व्यक्तित्व का स्थानापन्न होना कदाचित् सभव नहीं। अपनी निबन्ध शैली की उपरोक्त विशेषताओं के कारण ही आचार्य शुक्ल को निबन्धकारों में महत्पूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है उन्होंने अपने लिए निबन्ध का जो क्षेत्र चुना है, उसके वे एक मात्र अधिपति हैं। हिन्दी निबन्ध क्षेत्र में जो उन्होंने कार्य किया वह किसी भी देशी विदेशी साहित्य द्वारा स्पृहणीय है। जो स्थान उपन्यास साहित्य में मु शी प्रेमचन्द्र का है वही स्थान निब ध साहित्य में आचार्य शुक्ल का है।

———

'निराला' जी की दार्शनिकता

[प्रो॰ सुरेशचन्द गुप्त एम॰ ए॰]

'दर्शन' से हमारा तात्पर्य अध्यात्म तत्व से है। भारतीय साहित्य में प्राचीन युग स ही दार्शनिक विचारों का प्राधान्य रहा है। 'निराला' जी ने काव्य म भी आध्यात्म-तत्व का व्यापक प्रतिपादन हुआ है। उन्होंने अपने दार्शनिक काव्य की रचना करते समय निम्नलिखित भाव और कला विषयक विशेषताओं से सहयोग लिया है—

(१) कल्पना तत्व—यद्यपि यह सत्य है कि दर्शन जैसे शुष्क विषय में कल्पना और रसावेग के लिए अधिक स्थान नहीं है तथापि 'निराला' जी ने अपनी तत्सम्बद्ध कविताओं में कल्पना के उपयुक्त समावेश द्वारा भावों की गहनता, सरसता और सहजता प्रदान की है। वास्तव मे उन्होंने अपने दार्शनिक काव्य में विचार, भावना और कल्पना का सुन्दर सम्मिश्रित रूप उपस्थित किया है। इस दृष्टि से उन्होंने अपनी 'तुम और मैं' शीर्षक कविता में आत्मा और परमात्मा के विभिन्न पारस्परिक सम्भाव्य सम्बन्धों के कल्पना के आधार पर रम्य अभिव्यक्ति प्रदान की है।

(२) प्रकृति तत्व—'निराला' जी ने नवीन छाया वादी भाव धारा से प्रेरणा ग्रहण कर अपने काव्य के इतर विषयों में प्रकृति का समावेश करने क साथ साथ महादेवी जी की भाँति उसकी छबि को दार्शनिक जगत् में सचरित करते हुए विभिन्न प्राकृतिक तत्वों के सहयोग से अनेक दार्शनिक जटिलताओं को आकर्षक रीति से स्पष्ट कर दिया है। वास्तव में उन्होंने मानव जगत् के साथ साथ प्राकृतिक जगत् में भी विभिन्न दार्शनिक व्यवस्थाओं का सुन्दर समावेश किया है। इस दृष्टि से उन्होंने प्रकृति को दार्शनिक चिन्तन में मग्न दिखा कर मानवीकरण की एक मौलिक परम्परा को जन्म दिया है। उदाहरणार्थ उनके निम्नलिखित कवितांश में आध्यात्मिकता की सूक्ष्म व्यंजना देखिए—

सोचती अपलक आप खड़ी।
खिली हुई वह विरह वृन्त की,
कोमल कुन्द कली।
चमका हीरक हार हृदय का,
पाया अमर प्रसाद प्रणय का,
मिला तत्व निर्मल परिणय का,
लौटी स्नेह भरी॥

(३) कला तत्व—'निराला' जी ने अपने सशक्त क्रान्तिकारी व्यक्तित्व के अनुकूल अपने काव्य मे दर्शन शास्त्र की रूढ़ शब्दावली का परित्याग कर नवीन आकर्षक उपमानों का विधान करते हुए अपनी भाषा को विशेष प्रौढ़ता तथा चित्रात्मकता प्रदान की है। उन्होंने प्रतीक शैली के सहयोग से भी दार्शनिक विवेचन उपस्थित किया है। इन प्रतीकों का सम्बन्ध आकाश, बादल, समुद्र आदि प्रकृति के विराट् तत्वों से अधिक मात्रा म रहा है और कवि ने इन सभी तत्वों को दुर्दम उत्साह के साथ ईश्वर प्राप्ति के संघर्ष में भाग लेते हुए दिखाया है। सन्तोष का विषय है कि उन्होंने अबोध्य प्रतीकों की कल्पना के स्थान पर अपने प्रतीकों का सक्लन हमारे व्यवहार क्षेत्र से ही किया है।

(४) संगीत-तत्व—सहज प्रसारण की शक्ति से युक्त होने के कारण संगीत मानव चेतना को तुरन्त प्रभावित करता है। 'निराला' जी ने उसके इस गुण को ध्यान म रख कर अपने दार्शनिक चिन्तन को स्पष्ट करने के लिए प्रगति शैली का सफल प्रयोग किया है। 'गीतिका' के अनेक गीतों में उन्होंने गहन दार्शनिक सिद्धान्तों को सरस अभिव्यक्ति प्रदान की है।

'निराला' जी के दार्शनिक विचारों का अध्ययन करने से पूर्व उनके जीव, जगत्, ब्रह्म और मोक्ष सबधी विचारों को हृदयङ्गम करना आवश्यक है। उन्होंने जीव को सामान्य सिद्धान्त के विश्वासी व्यक्ति के रूप में

उपस्थित किया है। इसी कारण वह जीव को समाज कल्याण द्वारा आत्मबोध और ईश-प्राप्ति की ओर उन्मुख होते हुए देखना चाहते हैं।

कवि ने जगत् को मायाबद्ध मानते हुए व्यक्ति को उसके प्रतिकरण का सम भाव प्रदर्शित करने का संदेश दिया है। उन्होंने माया को अध्यात्म-तत्व की अनुभूति म स्पष्टत बाधक तत्व न मान कर इस दिशा में उसके उपकारी तथा अनुपकारी, दोनों ही रूपों का अध्ययन उपस्थित किया है। उदाहरणार्थ माया के विषय में निम्नलिखित विचार देखिये—

तू किसी भूले हुए की भ्रान्ति है
शान्ति-पथ पर या किसी की गम्यता?
शीत की नीरस निठुर तू यामिनी
या वसन्त-विभावरी की रम्यता?

कवि ने ब्रह्म के स्वरूप को निर्धारित करते समय वेदों और उपनिषदों में प्रतिपादित विचार धारा का अनुगमन किया है और ईश्वर को सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त माना है। यथा—

व्यष्टि औ समष्टि में समाया वही एक रूप
चिद्घन आनन्द कन्द।
(पचवटी–प्रसग)

कवि ने आत्मा और परमात्मा के मध्य अनेक रमणीय सम्बन्धों की स्थापना की है। इस दृष्टि से साधक और साध्य के सामान्य सम्बन्ध के अतिरिक्त उन्होंने एक ओर तो पुत्र (साधक) और जननी (साध्य) के सम्बन्ध को स्थापित किया है और दूसरी ओर परमात्म शक्ति की विश्वप्रिया के रूप में कल्पना करते हुए उसमें नारी की सम्पूर्ण दिव्यता और गौरव का समावेश किया है। 'परिमल' की 'सन्ध्या सुन्दरी' और 'वासन्ती' शीर्षक कविताएं इसी प्रकार की हैं।

'निराला' जी ने पुनर्जन्म अथवा आवागमन के अन्त को ही मोक्ष अथवा मुक्ति की संज्ञा प्रदान की है। उनके अनुसार साधक को मुक्ति, आत्यन्तिक सुख अथवा ब्रह्म में तन्मयता की स्थिति उस समय सहर्ष भाव से प्राप्त हो जाती है जब वह सांसारिक दुखों को माता के रूप में ग्रहण कर उनका त्याग करने की अपेक्षा उनके प्रति करुणा के भाव का अनुभव कर उनके शमन की ओर प्रवृत्त होता है।

'निराला' जी ने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों को स्वय अभिव्यक्त करने के साथ-साथ उन्हें पात्रों द्वारा भी उपस्थित कराया है। आत्माभिव्यक्ति का अवकाश प्राय उनकी गेय कविताओं में रहा है तथापि अपनी कतिपय छन्दोबद्ध कविताओं में भी उन्होंने दार्शनिक सिद्धान्तों को स्पष्ट और सकेतात्मक, दोनों प्रकार की अभिव्यक्ति प्रदान की है। इस दृष्टि से जहाँ उन्होंने अपनी 'जागरण' शीर्षक कविता में ससार की नश्वरता और मायाबद्धता की स्पष्ट रूप से विस्तार पूर्वक चर्चा की है वहाँ 'जुही की कली' में उन्होंने अपने विचारों को सकेतात्मक व्यंजना प्रदान की है।

'निराला' जी के काव्य में दार्शनिक विचारों का पात्रों द्वारा अधिक कथन नहीं हुआ है। तथापि अपनी 'पचवटी'–प्रसङ्ग' शीर्षक कविता में उन्होंने राम के मुख से अनेकों दार्शनिक तथ्यों को स्पष्ट अभिव्यक्ति प्रदान कराई है। इसी प्रकार उन्होंने इसमें लक्ष्मन को दार्शनिक चिन्तन म रत दिखाया है। राम द्वारा माया के स्वरूप का निम्नलिखित चित्रण देखिए —

व्यष्टि और, समष्टि में नहीं है भेद,
भेद उपजाता भ्रम—
माया जिसे कहते हैं।

निराला' जी के काव्य में हमें दार्शनिक विचार धारा के विकास के निम्नलिखित रूप उपलब्ध होते हैं—

(१) अद्वैतवाद —कवि ने श्री युत शंकराचार्य के अद्वैतवाद के ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर' नामक सिद्धान्त को मानते हुए ब्रह्म को सत्य और जगत् को मिथ्या मान कर उन दोनों के शाश्वत सम्बन्ध को ग्राह्य माना है, किन्तु इसके साथ ही सामाजिक विषमताओं की ओर भी वह पूर्णत. सजग रहे हैं। उन्होंने अपनी 'परिमल', 'गीतिका' और 'अनामिका' आदि रचनाओं की अनेक कविताओं में अद्वैत वादी विचार धारा के प्रति गहन विश्वास प्रकट किया है। उन्होंने स्वामी रामतीर्थ और स्वामी विवेकानन्द

के आध्यात्मिक विचारों से प्रेरणा ग्रहण कर एक ओर तो वैयक्तिक साधना का समर्थन किया है और दूसरी ओर अध्यात्म अनुभूति को केवल आत्म विकास की अपेक्षा समान विकास, देश विकास और विश्व-कल्याण के लिए उपयोगी बनाने पर बल दिया है।

निराला' जी के अद्वैतवादी काव्य में पलायन वृत्ति का अभाव है और उन्होंने उसे जीवन शक्ति प्रदान करने वाला माना है। वास्तव में उन्होंने आत्मा की ब्रह्म विषयक तन्मयता का प्रतिपादन करने के साथ साथ जीव को सांसारिक वेदनाओं से भी सम्पृक्त रखा है। उनके अनुसार जब जीव को साधना द्वारा ब्रह्म से अद्वैत का अनुभूति हो जाती है तब वह आत्म दर्शन के कारण जन-सेवा की ओर अधिक सजगता के साथ प्रवृत्त हो सकता है। अपनी 'अधिवास' शीर्षक कविता में उन्होंने मानवीय संवेदना और ब्रह्म के प्रति अनुराग भावना का व्यापक चित्रण किया है। यथा—

कहाँ ?—
मेरा अधिवास कहाँ ?
क्या कहा ? रुकती है गति जहाँ ?
भला इस गति का शेष
सम्भव है क्या
करुण स्वर का जब तक मुझमें रहता है आवेश ?
यहाँ 'करुण स्वर' पीड़ित मानवता का प्रतीक है।

(२) रहस्यवाद —जब व्यक्ति विराट् के साथ तदाकार होने की भावना को व्यक्त करता है तब उसकी इसी आकांक्षा को 'रहस्यवाद' कहते हैं इस रहस्य भावना का प्रारम्भ विस्मय और जिज्ञासा से होता है और मध्य में विरह स्थिति रहने के उपरान्त अंत में आत्मा परमात्मा से संयुक्त हो जाती है। स्वरूप भेद से रहस्यवाद के भाव प्रधान, साधना प्रधान और चिंतन प्रधान रहस्यवाद नामक तीन रूप सम्भव हैं।

'निराला' जी के दार्शनिक विचारों में रहस्यवाद का सुन्दर सामंजस्य उपलब्ध होता है। उन्होंने मधुर भाव सम्पन्न चिन्तन प्रधान रहस्यवाद का प्रतिपादन किया है अर्थात् उन्होंने ईश्वरीय विभूति का चित्रण करते हुए उसम एकीकरण की मधुर भावना को व्यक्त किया है। उनके रहस्यवादी काव्य में साधक का साध्य विषयक जिज्ञासा, साधक की विरह स्थिति और साधक साध्य के मौन मिलन की आकर्षक अभिव्यक्ति हुई है। उदाहरणार्थ साधक की विरहावस्था से सम्बद्ध उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए

प्राणधन को स्मरण करते।
नयन झरते, नयन झरते॥

× × × ×

कितना बार पुकारा, खोल दो द्वारा बेचारा॥

(३) मानवतावाद —निराला' जी ने जीवन और जगत् की श्रेयात्मक प्रगति को मुख्य मानते हुए मानव हित का आदर्शवादी प्रणाली से समर्थन किया है। विश्व में मानव-सुहृदता पर बल देते हुए उन्होंने अनेक श्रेष्ठ कविताएँ उपस्थित की हैं। उन्होंने अपने काव्य में प्रगतिवादी अथवा जनवादी विचार धारा का प्रतिपादन इसी मानव हित की कामना के फलस्वरूप किया है।

(४) इतर सिद्धान्त —'निराला' जी ने विश्व व्यापी परमात्म सत्ता के साथ तादात्म्य भाव का चित्रण करते समय एक ओर तो ओजगुण-मयी विराट् भावना से सम्बद्ध महान् चित्र अंकित किए हैं और दूसरी ओर मधुर दिव्य चित्र उपस्थित किए हैं। इन चित्रों के अङ्कन में उपर्युक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त उन्होंने द्वैत वाद का भी आश्रय लिया है और 'तुम और मैं' शीर्षक कविता में उनके सिद्धान्तों का सुन्दर समावेश किया है। इसी प्रकार उन्होंने सांख्य दर्शन के सिद्धान्तों के अनुकूल त्रिगुणात्मक प्रकृति के सहयोग से सृष्टि विकास का चित्रण किया है। उपनिषद् युग की भारतीय ज्ञान-गरिमा का वर्णन करते हुए भी उन्होंने परोक्षतः तत्कालीन दार्शनिक वैभव का मुखर गान किया है। भक्ति व वेदान्त को परस्पर सम्बद्ध मान कर कवि ने लक्ष्मण द्वारा आद्या शक्ति 'माता' की भक्ति का उल्लेख कराया है। इसी प्रकार उन्होंने अपने 'तुलसीदास' नामक महाकाव्य में 'रत्नावली' के ऐहिक रूप को

(शेष पृष्ठ ५५ पर)

रोमान्टिसिज़्म और छायावाद

(प्रो० शान्तिस्वरूप गुप्त एम० ए०)

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे अंग्रेजी कवियों में एक अद्भुत उन्मुक्त भावधारा प्रबल होकर प्रकट हुई। इसमें परिपाटी विहित और परम्परा-भुक्त रस दृष्टि के स्थान पर कवि की आत्मानुभूति आवेगधारा और कल्पना का प्राधान्य था। छायावादी उत्थान के समय भी इस प्रकार की उन्मुक्त आवेग प्रधान और कल्पना प्रवण अन्तर्दृष्टि दिखलाई पड़ी। जिस प्रकार यूरोप में Romantic काव्यधारा Classical Age की प्रतिक्रिया का परिणाम थी उसी प्रकार छायावादी कविता द्विवेदीयुग की जड़ता, इतिवृत्तात्मकता, नैतिकता एव स्थूलता (विषय क्षेत्र में) और छंद बन्धन, अलकार परम्परा, अतिशय नियमबद्धता एव साहित्यिक पाडित्य प्रदर्शन (कला पक्ष में) के प्रति विद्रोह का प्रतिफल। Johnson और Pope के युग की बहुत सी विशेषतायें स्थूल दृष्टि अति नैतिकता, नगर जीवन से मोह, बौद्धिकता आदि द्विवेदयुग में भी मिलती हैं फिर भी दोनों म पर्याप्त अन्तर है क्योंकि यदि Pope का युग सामन्ती विलास का युग था तो द्विवेदी युग में जागरण का पाचजन्य गूंज रहा था। कुछ तो समान परिस्थितियों के प्रति विद्रोह के कारण और अशत अङ्ग्रेजी साहित्य के अध्ययन के परिणाम स्वरूप छायावादी कविता पर अंग्रेजी Romantic काव्य का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है तथापि भिन्न देशकाल में जन्म लेने के कारण हम छायावादी काव्य को Romantic काव्य की अनुकृति मात्र नहीं कह सकते दोनों काव्यों की समान विशेषताओं और विषमताओं का सिंहावलोकन करना ही प्रस्तुत लेख का विषय है।

Romantic काव्य धारा के तीन प्रमुख कवियों का इस धारा पर प्रभाव पड़ा। Wordsworth का प्रकृति में चेतना का दृष्टिकोण Keats की वासनात्मक सौंदर्योपासना तथा Shelley की 'गगन विहारी प्रवृत्ति' ने छायावादी कवियों को अत्यन्त प्रभावित किया। फलस्वरूप प्रकृति के प्रति रहस्यभावना कल्पनात्मक अनुभूति शुष्कता और परम्परागत रूढ़ियों के प्रति विद्रोह गीतिमयता, उच्च कल्पना विधान, वैयक्तिकता, प्रकृति के प्रति उत्कट प्रेम और कलात्मकता जो Romantic काव्यधारा की विशेषतायें हैं, वे ही छायावाद में प्रकट हुई।

फ्रास की राज्यक्रांति से प्रभावित 'स्वतन्त्रता, बधुत्व एव समानता' का दम भरने वाले Shelley Keats और Byron ने जिस प्रकार जाति धर्म की सकीर्णता, आचार निष्ठा, रूढ़िबद्धता दृष्टिकोण का गतानुगतिकता आदि के प्रति विद्रोह के गीत गाये थे उसी प्रकार छायावादी कवियों ने भी उन्मुक्त भाव से लौकिक व अलौकिक प्रेम, करुणा, विश्व प्रेम के स्वर अपने काव्य में छेड़े। इन कवियों ने रीतिकालीन दृष्टिकोण के अनुरूप नारी को 'योनि मात्र' नहीं माना अपितु 'देवि, माँ, सहचरि, प्राण' के रूप में उसकी प्रतिष्ठा की। नारी का चित्रण मासल एव स्थूल न होकर वायवी एव अतीन्द्रिय रहा अत वे नारी को नग्न करने वाले दुःशासन के आरोप से बच गए Shelley और Byron के समान उग्र एव विद्रोही स्वभाव वाले कवि जिन्होंने तत्कालीन समाज के आचारा नीति नियमों एव अत्याचारों के विरुद्ध उद्घोष किया हमारे यहाँ केवल 'निराला' हुए। Shelley की Ode to the west wind तथा निराला के 'बादल राग' म बहुत कुछ साम्य है। 'Destroyer and preserver, hear oh hear तथा 'अरे वर्ष के हर्ष ... ए अट्टट टूट पर छूट पड़ने वाले उन्माद' में कितना भाव साम्य है। निराला के शरीर में भी वही उद्दाम, वेगवती और आत्माभिमानि आत्मा है जो Shelley मे इसीलिए 'Promethens unbound' और 'Revolt of Islam' में जो उत्क्रांति के स्फुलिंग हैं, वे ही निराला की 'भिक्षुक' विधवा' तथा 'इलाहाबाद

के पथ पर' आदि कविताओं मे।

प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण भी दोनों काव्यधाराओं के कवियों का समान रहा है क्योंकि पाश्चात्य म होने के कारण रोमांटिक कविता ने हमारे बहुत से कवियों को प्रेरणा प्रदान की, विशेष रूप मे पन्त को जो स्वय स्वीकार करते हैं। 'पल्लव काल मे म उन्नीसवीं सदी के अंग्रेजी कवियों मुख्यत Shelley, Wordsworth Keats और Tennyson से विशेष रूप से प्रभावित रहा हूं। Wordsworth ने प्रकृति के प्रति जो विस्मय कौतूहल तथा शिक्षा ग्रहण का दृष्टिकोण अपनाया था वही पतजी को कविता मे मिलता है। प्रकृति को जड न मानकर उसमें चेतना की अनुभूति करना दोनों काव्यों की विशेषता है। प्रकृति में सर्ववादी (Pantheistic) दृष्टिकोण भी दोनों ने अपनाया जिससे प्रकृति का तुच्छ से तुच्छ पदार्थ भी सजीव एव सप्राण चित्रित किया गया जिस प्रकार Wordsworth के लिए The meanest flower too deep for tears था उसी प्रकार पत के लिए 'धूल के कण' तथा निराला के लिए 'कुकुरमुत्ता'। दोनों ने प्रकृति मे सवेदित हृदय की खोज की और दोनों ने उससे तादात्म्य स्थापित किया। जिस प्रकार पत प्रकृति म हर्षभाव से दर्शन करते हैं वैसे ही Wordsworth इन्द्र धनुष को देख कह उठते हैं 'I leep up with joy when I behold the rainbow रोमांटिक कवि प्रकृति को शिक्षिका के रूप में देखते हैं। Wordsworth के अनुसार 'One impulse from vernal wood may teach you more of man' और Shelley प्रकृति से विनय करता है "Teach me half thy gladness' इसी प्रकार की भावना पत की निम्न पक्तियों म है

"सिखा दो ना हे मधुप कुमारि, मुझे भी अपना मधुमय गान',

रोमान्टिक कवियों की भाँति छायावादी कवियों ने भी प्रकृति के दोनों ही स्वरूपों में सौन्दर्य की स्थापना की, उसके सर्जक और विनाशक, सूक्ष्म और विराट पर्वतीय और मैदानी, शान्त और क्षुब्ध, प्रखर और रौद्र सभी स्वरूपों के प्रति आकर्षण का अनुभव किया।

नारी सौन्दर्य के चित्रण मे उनकी सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति में बहुत कुछ समानता मिलती है। जिस अस्पष्टता एव कल्पनाप्रवणता के कारण Shelley को 'Beautiful and ineffectual angel, beating in the void its luminous wings in vain, कहा गया है वह छायावादी कवियों के नारी-सौन्दर्य में भी द्रष्टव्य है। प्रसाद जी की निम्न पक्तियों मे 'तुम कनक किरन के अन्तराल में लुकछिप कर चलते हो क्यों,

"हे लाज भरे सौन्दर्य बतादो मौन बने रहते हो क्यों"

नारी की कोमल, मरम और दिव्य (Ethereal) रूपरेखा मिलती है। 'ग्रन्थि' तथा 'ज्योत्स्ना' में Shelley की 'Epipsychidion' का प्रभाव स्पष्ट है। Keats के ऐन्द्रिक चित्र La balle dam Sans Merci) पन्त की अप्सराओं और परियों के चित्रों म मिलते हैं।

छायावादी कवि भी Shelley, Keats और Byron की तरह अपने अश्रु हास अपनी अनुभूति और अपने भावों को व्यक्त करने में ही सलग्न रहे। उन की दृष्टि बहिर्मुखी न होकर अ तर्मुखी थी। राष्ट्र और समाज की समस्याओं के स्थान पर उनकी व्यक्तिगत आशा अभिलाषाओं ने कविता म स्थान पाया। ब्रिटिश अत्याचारों आर्थिक शोषण एव असफल आन्दोलनों ने उनके काव्य म विषाद के स्वर गूथ दिए। Romantic कवियों में भी हम विषाद एव निराशा के तन्तु पाते हैं 'I lie on the thorns of life, I bleed' परन्तु ऊपर से समान होते हुए भी विषाद का मूल कारण भिन्न था। Romantic कवियों का विषाद वैयक्तिक था जब कि छायावादियों का वैयक्तिक के साथ २ समाज की निराशा, वेदना एव पीड़ा का भी प्रतिनिधित्व करता था। प्रथम के पीछे फ्रांसीसी क्रांति की सफलता की शक्ति थी जबकि द्वितीय काव्यधारा के कवि असहयोग आन्दोलन की असफलता से बहुत निराश हो चुके थे। अत Shelley की निम्न उक्ति 'Smiling they live and call life pleasure, To me this cup has been dealt

with another measure या Keats की 'Ode of Melancholy' कविता में विषाद के स्वर देखकर हमें पन्त की 'परिवर्तन कविता म भावसाम्य ढूढ़ने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए क्योंकि 'परिवर्तन' का कवि Hardy की Imminent will स भी प्रभावित था और विश्व शक्ति को अधे पहिए के रूप म स्वीकार कर चुका था 'अहे निष्ठुर परिवर्तन, तुम्हारा ही ताण्डव नतन, विश्व का करुण विवर्तन' तथापि कहीं २ पंत और Shelley की पंक्तियों में पर्याप्त दृष्टि साम्य दृष्टिगोचर होता है जैसे 'Our sweetest songs are those that tell of saddest thought' तथा "कल्पना म है कसकता वेदना"

अश्रु में जीता सिसकता गान है"

Romantic कवियों जैसा विषाद सबसे अधिक 'बच्चन' में है जहाँ कवि बाह्य ससार से नाता तोड़ अपने रुदन और विषाद को ही 'वर्ण्य विषय' बना लेता है महादेवी भी 'मैं नीर भरी दुख की बदली' म अपना व्यक्तिगत दुख तथा आत्माका क्रन्दन स्वरित करती हैं। प्रसाद के हृदय म 'वेदना गरजती' है। कुछ के लिए तो पीड़ा साध्य ही बन गई तुमको पीड़ा म ढूढा, तुममें ढूढूगी पीड़ा'।

कला के क्षेत्र में भी हम Romantic काव्यधारा का प्रचुर प्रभाव पाते हैं। गीतिमयता लाक्षणिक पदावली, पाश्चात्य अलकार Onomatopoeia और personification छन्द बन्धन के प्रति विद्रोह, नवीन छद योजना, पाश्चात्य छन्दो Ode, Sonnet, शोकगीति का प्रयोग, चित्रात्मकता आदि विशेषताएँ छायावाद में Romantic काव्यधारा का ही प्रतिफल थीं।

उपर्युक्त विवेचन को पढकर इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जासकता कि हिन्दी कवियों ने रोमान्टिक काव्यधारा का अध्ययन किया था तथा वे उससे प्रभावित हुए थे। परन्तु यह भी स्पष्ट है कि उनका यह अध्ययन गहनगभीर न होकर ऊपरी ही था। हमारे कवियों ने उनकी Philosophy को समझने की चेष्टा नहीं की, फलत उन्होंने पाश्चात्य दर्शन की केवल नकल की जिससे उनके काव्य में केवल ऊपर की थोथी बातें ही आसकीं। बिना अच्छी तरह भाव समझे जब हम उन भावों को अपनी भाषा में लिखने का प्रयत्न करते हैं तो भाषा का क्लिष्ट हो जाना स्वाभाविक ही है। इसके अतिरिक्त हमारे यहाँ दर्शन के क्षेत्र में एक प्रौढ़ परम्परा सदा से रही है। छायावादी कवि भी अरविन्द, रामकृष्ण, विवेकानन्द, उपनिषद और गांधी जी की दार्शनिक विचार धारा से पूर्ण परिचित थे अत उनके काव्य में पाश्चात्य दर्शन की अपेक्षा पौरात्य दर्शन का ही प्रभाव अधिक पड़ा। पश्चिम के सर्ववाद (Pantheism) के साथ भी पूर्वी दर्शन का सम्मिश्रण होगया। प्रसाद ने शैवागम से महादेवी ने उपनिषदों से तथा निराला ने शाकरी अद्वैतवाद से प्रेरणा ग्रहण की। केवल पंत यूरोपीय 'सर्ववाद' स प्रभावित थे पर वहाँ भी भारतीय सर्ववाद से वह अछूते न रह सके। साराश यह कि छायावादी काव्य का दर्शन रोमान्टिक काव्य का ऋणी नहीं है।

रोमान्टिक काव्य व छायावाद के देशों की परिस्थितियों में भी अन्तर था। फ्रास की सफल राज्य क्रान्ति ने जहाँ Shelley आदि को अधिक उग्र, स्वप्नदर्शी, तथा उल्लासमय बना दिया था वहाँ हमारे यहा की राजनैतिक असफलताओं ने उसमें विषाद का तीखा रग भर दिया। हमारे यहाँ के कवि वास्तविक जीवन की कटु कठोरताओं से कुठित हो कल्पना लोक में विचरण करने लगे अथवा प्रकृति की कोमल क्रोड़ में मुँह छिपाने लगे। सौन्दर्यलोक की सृष्टि में तल्लीन इन कवियों ने कहीं अपनी भावनाओं को आध्यात्मिक रूप दिया तो कहीं 'काम्यवृत्तियों का प्रच्छन्न पोषण'। साराश यह है कि वे समाज के ज्वलत समस्याओं से मुख मोड़ प्रकृति के गीत गाने लगे अत "ले चल मुझे भुलावा देकर, मेरे नाविक धीरे २" आदि पंक्तियाँ लिखने वाले कवियों पर पलायनवाद का आरोप लगाया गया। यही पलायनवृत्ति और पराजित भोगवाद छायावाद के पतन का कारण बनें।

शैली की सादगी और सामान्य भाषा का प्रयोग Romantic कवियों की विशेषता थी। उन्होंने

Classical Age की Poetic diction के प्रति विद्रोह का झंडा खड़ा किया जिसमें moon के लिए refulent lamp of the night जैसे वाक्यांश प्रयुक्त होते थे। इसके विपरीत छायावादी कवियों ने कला की उपासना कला के लिए की। भाषा का अलंकरण और उसकी साजसज्जा इतनी अधिक हुई कि कविता न रहकर 'अप्राकृत संगीत मात्र' रह गई।

रोमान्टिक कविता का विद्रोह केवल सामन्तवाद के विरुद्ध था जबकि छायावाद का सामन्तवाद एवं साम्राज्यवाद दोनों के प्रति जिससे वह दोनों में से किसी पर भी केन्द्रित न रह सका। अतः उसने Romantic कविता जैसी शक्ति, वेग और तीव्रता न आ सकी। इसके साथ ही छायावादी कवियों ने रोमान्टिक कवियों के अतिरिक्त Swinburne, Browning, Arnold, Hardy, Whiteman, Teats आदि का भी अध्ययन किया था तथा उनसे प्रभाव ग्रहण किया था अतः उनकी कवितायें रोमान्टिक काव्य के अतिरिक्त अन्य प्रभाव भी परिलक्षित होते हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि छायावादी कविता का एक अपना विशिष्ट दृष्टिकोण था जिसकी प्रेरणा निस्सन्देह उसे यूरोप की रोमान्टिक काव्यधारा से मिली परन्तु भिन्न देश काल में जन्म लेने के कारण वह उसकी अनुकृति मात्र न थी।

(शेष पृष्ठ ५१ का)

'भारती' के रूप में परिवर्तित होते हुए दिखा कर एक नवीन दार्शनिक रूप को उपस्थित किया है। इन सब से भिन्न उन्होंने 'पंचवटी प्रसङ्ग' में राम के मुख से अध्यात्म जगत् के भक्ति, योग, कर्म और ज्ञान आदि विविध तत्वों में ऐक्य भाव का स्थापना कराई है और इस प्रकार व्यक्ति को दार्शनिक प्रपंच पृथक रह कर शुद्ध उपासना का सन्देश दिया है। यथा —

भक्ति-योग-कर्म ज्ञान एक ही है
यद्यपि अधिकारियों के निकट भिन्न दीखते हैं।
एक ही है, दूसरा नहीं कुछ
द्वैत भाव ही है भ्रम।

'निराला' जी के दार्शनिक काव्य के उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि जीवन संघर्षों से प्रभावित हो कर प्रारम्भ में वह व्यष्टि से समष्टि की ओर उन्मुख हुए और फिर उनका यह समष्टि सिद्धान्त ब्रह्म एकत्व की ओर प्रवृत्त हो गया। वास्तव में उनकी दार्शनिक विचार धारा पर प्रचीन परम्परा से भिन्न स्वामी रामतीर्थ स्वामी विवेकानन्द और कवीन्द्र रवीन्द्र का प्रभाव लक्षित होता है। इसी भिन्नता के फल स्वरूप उनके काव्य में शुद्ध दार्शनिक कवियों की रीति के अनुसार दार्शनिक धारणाओं का प्रचारात्मक तथा उपदेशात्मक रूप उपलब्ध नहीं होता।

'निराला' जी का दार्शनिक काव्य दर्शन शास्त्र की गहनताओं और सूक्ष्मताओं से पर्याप्त मात्रा में असम्पृक्त रह कर निरंतर भावना से समृद्ध रहा है। चिन्तन और बुद्धि तत्व के भार से युक्त होने पर भी उन्होंने दर्शन शास्त्रियों की भाँति गहन साधना नहीं की है और उनके दार्शनिक विचारों में कलाकार की कल्पना तथा भावुकता का सुन्दर समन्वय हुआ है। वास्तव में उन्होंने दार्शनिक जटिलताओं को भावना से पुष्टि प्रदान की है और इस प्रकार उनकी विचार धारा साधक की अपेक्षा कलाकार के हृदय से उद्भूत हो कर रह गई है और उसमें सांकेतिक अभिव्यक्ति को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है।

कामायनी का श्रद्धा-सर्ग

[प्रो० प्रेमचन्द एम० ए०]

'कामायनी' में कुल १५ सर्ग हैं। 'चिन्ता' और 'आशा' के उपरांत 'श्रद्धा' उसका तीसरा सर्ग है। श्रद्धा का ही नाम कामायनी है, जिस पर प्रसाद ने अपने इस महाकाव्य का नामकरण किया है। परन्तु प्रसाद ने किसी सर्ग का नाम कामायनी नहीं रखा, सम्भवतः इसलिए कि कामायनी की कथा जिस भाव-क्रम को लेकर चली है, उसमें भाव रूप से श्रद्धा नाम ही अधिक प्रचलित एवं उपयुक्त है, कामायनी नहीं। परन्तु कवि ने श्रद्धा के इस दूसरे नाम के आधार पर अपने महाकाव्य का नामकरण करके उसकी सार्थकता एवं प्रमाणिकता ही सिद्ध की है, क्योंकि श्रद्धा भाव-रूप में ही सत्य नहीं, 'कामायनी' रूप में इतिहास प्रसिद्ध भी है।

श्रद्धा का सर्व प्रथम उल्लेख हमें वेदों में मिलता है सायण ने श्रद्धा को काम-गोत्र से उत्पन्न ही माना है। तैत्तरीय ब्राह्मण में वह काम की माता कही गई है[1] और उसके पिता का नाम सूर्य बतलाया गया है[2]। मनु तथा श्रद्धा के पारस्परिक सम्बन्ध का पता शतपथ ब्राह्मण के 'श्रद्धादेवो वैमनु'[3] से ही लगता है। पर भागवत पुराण में श्रद्धा को मनु की पत्नी कहा गया है, जिससे दशपुत्र उत्पन्न हुये थे[4]।

प्रसाद ने भी श्रद्धा को काम की पुत्री तथा मनु की पत्नी के रूप में ही लिया है। प्रतीक रूप से श्रद्धा का भावात्मक जीवन शैवागमों से लिया गया है तथा कामायनी में चित्रित उसका व्यवहारिक और दैनिक जीवन कवि की कल्पना सृष्टि है।

कामायनी में श्रद्धा का सर्वप्रथम दर्शन हमें 'श्रद्धा' सर्ग में ही होता है। इससे पूर्व कामायनी का पाठक यही जानता है कि महाजलप्लावन में अवशिष्ट व्यक्ति एकमात्र मनु ही हैं जो 'चिन्ता' के पश्चात् क्रमशः 'आशा' के मनोलोक में पहुँच रहे हैं। यद्यपि रह रह कर मनु के मन में यह विचार आता है कि जैसे मैं बच गया हूँ, वैसे ही सम्भव है, कोई और बच गया हो इस लिए वे अग्निहोत्र का अवशिष्टान्न थोड़ी दूर पर उस सम्भाव्य अज्ञात अपरिचित के नाम पर रख आते थे। इधर श्रद्धा ने भी जब—

> यहाँ देखा कुछ बलि का अन्न,
> भूत हित रत किसका यह दान!

तो—

> इधर कोई है अभी सजीव,
> हुआ ऐसा मन में अनुमान!

मनु का यही बलि का अन्न श्रद्धा और मनु की भेंट का कारण बनता है। वैसे कवि ने श्रद्धा के इधर आने के अन्य कारण भी स्वयं श्रद्धा से ही कहलवाये हैं। अपने पिता की यह प्यारी संतान इधर गंधर्वों के देश में रहती थी।

तभी इस के—

> "भरा था मन में नव उत्साह
> सीख लूँ ललित कला का ज्ञान"

इसी के साथ—

> घूमने का मेरा अभ्यास
> बढ़ा था मुक्त व्योम-तल नित्य,

कुतूहल खोज रहा था व्यस्त
हृदय सत्ता का सुन्दर सत्य !
× × × ×
दृष्टि जब जाती हिमगिरि ओर,
प्रश्न करता मन अधिक अधीर।
धरा की यह सिकुड़न भयभीत,
आह कैसी है ? क्या है पीर।
× × × ×
मधुरिमा म अपनी ही मौन,
एक सोया संदेश महान,
सजग हो करता था संकेत,
चेतना मचल उठी अनजान।
और तभी सहसा उनका—
बढ़ा मन और चले ये पैर।
शैल मालाओं का शृंगार।
आँख की भूख मिटी यह देख।
आह कितना सुन्दर सम्भार।

श्रद्धा और मनु की भेंट की जिन परिस्थितियों का ऊपर उल्लेख हुआ है उससे एक बात स्पष्ट है और वह यह कि जहाँ मनु केवल किसी अन्य अवशेष प्राणी की संभावना मात्र करके रह जाते हैं, श्रद्धा अपने अनुमानित किसी 'सजीव' को खोजने के लिए चल भी देती है। उसका कारण है। श्रद्धा नारी और भाव दोनों हैं और यथार्थ यही है कि सदैव से नारी ही पुरुष को और श्रद्धा ही मन को अपने 'हृदय सत्ता के सुन्दर सत्य' के रूप में खोजती आई है। पुरुष और मन ने तो क्रमशः नारी और श्रद्धा को खोजना तो दूर पाकर भी केवल ठुकराया ही है। श्रद्धा—कामायनी—की भी यही तो कहानी है।

परन्तु श्रद्धा ने प्रथम बार मनु को जिज्ञासा पूर्ण दृष्टि से देखा तो संसृति के जलनिधि के तीर पर तरंगों से फेंकी गई उस मणि के समान जो प्रभा की धारा से चुपचाप निर्जन का अभिषेक कर रही हो। उसे लगा मानो मनु जगत के सुलझे हुए रहस्य हों उनका मौन भी करुणा और सौंदर्य से युक्त था, मानो कोई चंचल मन शांत होकर मौन हो गया हो।

प्रसाद ने मनु की मनः स्थिति का भी चित्रण किया है, परन्तु स्वयं मनु के ही शब्दों में क्योंकि प्रथम परिचय में ही श्रद्धा मनु की मानसिक स्थिति को जान भी कैसे सकती थी। अतः श्रद्धा द्वारा प्रस्तुत मनु के संबंध में जिज्ञासा का उत्तर देते हुए मनु स्वयं आत्म परिचय देते हुए कहते हैं कि उनका जीवन तो इस आकाश और धरती के बीच में एक निरुपाय रहस्य बना हुआ है। वे एक उल्कापिंड हैं जो असहाय सा शून्य में भटकता रहता है। एक शैल है जो निर्झर बन कर नहीं बह सका, एक हिमखंड है जो गल नहीं सका, एक पाषाण है जो दौड़ कर जल निधि के अंक में नहीं मिल सका। नील गगन के विवर में वायु की भटकी-सी एक तरंग हैं, और हैं शून्यता का उजड़ा सा राज। वे इस समय और कुछ नहीं केवल हैं अतीत की विस्मृति का एक अचेत स्तूप, दैव सृष्टि के वैभव का एक धुंधला सा प्रतिबिम्ब, जड़ता की सजीव राशि और जीवन की सफलताओं का एक संकलित विलम्ब। उन का जीवन पहेली सा—व्यस्त है और उसे सुलझाने का अभिमान ही उन्हें विस्मृति का एक मार्ग बताता है, जिस पर वे अनजान बनकर चले जा रहे हैं। सजल अभिलाषों से मलिन कलित अतीत उन्हें भूलता जाता रहा है और उनके दीन जीवन का संगीत नित्यप्रति अज्ञात दिशा की ओर बढ़ रहा है। इसीलिए तो इस समय मनु को श्रद्धा उनके जीवन के 'विश्व पतझड़' में 'बसन्त की दूत' 'घन तिमिर में चपला की रेख', तपन में 'शीतल मंद बयार' सौभाग्य की आशा किरण के समान तथा मानस की हलचल को शांत करने वाली कोमल कवि की कांत कल्पना-लहरी सी प्रतीत हुई।

श्रद्धा के इस मनुमानस प्रभावकारी रूप के अतिरिक्त प्रस्तुत सर्ग में उसका बाह्य चित्रण भी हुआ है, परन्तु स्वयं कवि के शब्दों में, मनु प्रथम परिचय में जिसके दर्शक मात्र हैं। श्रद्धा का वह सुंदर दृश्य, जो मनु के नयनों के लिए सुंदर इन्द्रजाल सिद्ध हुआ, ऐसा था मानों वह फूलों से लदी लता हो, मानों चन्द्रिका से लिपटा घनश्याम हो। प्रकृति के उस उन्मुक्त वातावरण में श्रद्धा की लम्बी काया उन्हें ऐसा

प्रतीत हुई मानो मधु पवन से पीड़ित सौरभ संयुक्त छोटा शालवृक्ष हो। उसने अपने सुंदर तन पर गांधार देश के मसृण नील रोम वाले मेषों के चर्म पहिन रखे थे। उसके उस नीले परिधान के बीच से उस का अधखुला मृदुल सुकुमार अंग ऐसा प्रतीत होता था मानों मेघवन में गुलाबी रंग का बिजली का फूल खिला हो। उस नील परिधान के बीच से उसका मुख ऐसा प्रतीत होता था मानों जब पश्चिम के आकाश में काले २ बादल घिर रहे हों तब उनको भेदकर सुंदर सूर्य-मंडल दिखाई दे रहा हो। अथवा मानों किसी वासंती रजनी में इन्द्रनील पर्वत की छोटी सी चोटी को फोड़ कर एक नन्हा ज्वालामुखी धधक रहा हो। उसके मुख के पास घिरते हुए उसके घुंघराले बाल ऐसे प्रतीत होते थे, मानों श्याम मेघखंड चाँद के पास अमृत-पान करने के लिए आए हों। और उसके रक्ताभ अधरों पर खेलती हुई वह मुस्कान सी ऐसी प्रतीत होती थी, मानों लाल किसलय पर सूर्य की एक निर्मल किरण अंगड़ाई ले रही हो।

श्रद्धा के इस रूप चित्रण में प्रसाद ने रूपकों, उपमाओं, एवं उत्प्रेक्षाओं की योजना के लिए जिन प्राकृतिक रूप-विधानों को प्रस्तुत किया है, वे परंपरा भुक्त न होकर नवीन हैं—कम से कम उनका प्रयोग अवश्य नवीन है। उस घोर छायावादी युग में, जो कुछ गिनेचुने आध्यात्मिक प्रतीकों को लाक्षणिक विधानों में ही बांधकर प्रस्तुत करता रहा, प्रसाद के यह रूप-चित्रण, अपने काव्य वैभव में, संस्कृत-साहित्य के गौरव की तुलना में रखे जा सकते हैं और फिर भी उन में संस्कृत की समास-पद्धति का उलझाव नहीं है एक २ लघु चित्र मानों एक फूल के समान अपनी ही सुरभि, सौंदर्य, सरसता एवं विकास की समष्टि में पूर्ण है। पर श्रद्धा का यह रूप चित्रण केवल रूप चित्रण मात्र नहीं है इस रूप विधायनी शैली में प्रयुक्त प्राकृतिक उपादानों से श्रद्धा की भावरूपणी समस्त कोमलता, सरसता, सरलता, शालीनता एवं सात्विक दिव्यता भी मूर्तिमान हो उठी है।

जैसे—

नित्य यौवन छवि से ही दीप्त,
विश्व की करुण कामना मूर्ति,
स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण,
प्रकट करती ज्यों जड़ में स्फूर्ति,
उषा की पहिली लेखा कांत।
माधुरी से भीगी भर मोद।
मद भरी जैसे उठे सलज्ज।
भोर की तारक द्युति की गोद।

निम्नोद्धृत सांग रूपक के उदाहरण में तो प्रसाद ने श्रद्धा के रूप सौंदर्य और भाव-सौंदर्य दोनों को मूर्तिमान कर दिया है—

कुसुम कानन अञ्चल में मन्द,
पवन प्रेरित सौरभ साकार।
रचित परमाणु पराग शरीर,
खड़ा हो ले मधु का आधार।
और पड़ती हो उस पर शुभ्र,
नवल मधुराका मन की साध।
हँसी का मद विह्वल प्रतिबिम्ब,
मधुरिमा खेला सदृश अबाध।

अमूर्त का मूर्तिकरण एवं मानवीकरण का सौंदर्य भी इन पंक्तियों में देखने को मिलेगा श्रद्धा के सम्मुख मनु ने जो अपना मानसिक स्थिति द्योतक आत्म विश्लेषण प्रस्तुत किया था उस में भी कवि ने रूपक विधायनी शैली का प्रयोग किया है, परन्तु प्रस्तुत सभी रूपकों में मौलिकता है जैसे—

एक उल्का सा जलता भ्रांत,
शून्य में फिरता हूँ असहाय।

तथा—

शैल निर्झर न बना हतभाग्य,
गल नहीं सका जो कि हिमखण्ड,
दौड़कर मिला न जलनिधि अंक,
आह वैसा ही हूँ पाषंड।

श्रद्धा और मनु के इस अन्तर्बहिर्चित्रण के अतिरिक्त प्रसाद ने अपने इन दोनों पात्रों को जो कि सर्व प्रथम एक साथ इस सर्ग में आए हैं, अपना अपना व्यक्तित्व भी प्रदान किया है। मनु में 'आशा' के उदय

के पश्चात् भी अभी तक एक निराशा, उद्भ्रांति, निःसहायता एवं निरीहता दिखलाई पड़ती है। जब कि श्रद्धा में जीवन के प्रति एक आशामय एवं प्रवृत्तिमय संदेश है। प्रभात कालीन वासंतिक समीकरण के एक शीतल सरस झोंके के सदृश वह मनु की जीवन लतिका को सहसा सिहर पुलक से भर जाती है। नारी में पुरुष के प्रति जो एक सहज संवेदन शीलता होती है। वह मनु का निरुपायता देखकर श्रद्धा में भी जाग्रत हो उठती है और वह मनु से कह उठती है—

> 'तपस्वी! क्यों इतने हो क्लान्त?
> वेदना का यह कैसा वेग?
> आह तुम कितने अधिक हताश?
> बताओ यह कैसा उद्वेग?

और उसमें जीवन की लालसा जाग्रत करती भी उसे सचेत करती है कि कहीं तुम त्याग के धोखे में उदासीनता तो नहीं अपनाये बैठे हो? कहीं अज्ञात दुःखों से डर कर और कठिनताओं का अनुमान कर भविष्य की उपेक्षा करके कर्म से तो नहीं झिझक रहे हो? क्योंकि वह मानती है कि कर्म का तिरस्कार ही जीवन की असफलता है। इस प्रकार वह मनु को कर्म का संदेश देती हुई, दुःख के समन्वय में निहित जीवन की समरसता की ओर निर्देश करती है और कहती है कि—

> दुःख की पिछली रजनी बीच,
> विकसता सुख का नवल प्रभात।

क्योंकि—

> एक परदा यह झीना नील,
> छिपाये है जिसमें सुख गात।

श्रद्धा दुःखों को अभिशाप नहीं ईश्वर का प्रच्छन्न वरदान मानती है और मनु को भी यही समझाती है—

> जिसे तुम समझे हो अभिशाप,
> जगत की ज्वालाओं का मूल।
> ईश का वह रहस्य वरदान,
> कभी मत इसको जाओ भूल।

यह सृष्टि विरोधी तत्वों से ही बनी है। वस्तुतः उसके विकास का रहस्य भी यही है। श्रद्धा कहती है—

> विषमता की पीड़ा से व्यस्त,
> हो रहा स्पंदित विश्व महान।
> यही दुखसुख विकास का सत्य,
> यही भूमा का मधुमय दान।

श्रद्धा मनु (मन) के जीवन का माधुर्य पक्ष होते हुए भी प्रारम्भ से ही यथार्थवादी रही। जब मनु जीवन को केवल निरुपाय मानते हैं, सफलता जिसमें कल्पना मात्र है तथा निराशा ही जिसका परिणाम है, तो श्रद्धा उन्हें जीवन के दाव पर उनकी इस हार पर झिड़कती भी है और कहती है—

> तप नहीं केवल जीवन सत्य,
> करुण यह क्षणिक दीन अवसाद।
> तरल आकांक्षा से है भरा,
> सो रहा आशा का आह्लाद।

जीवन की गति आगे बढ़ने में है, मुड़-मुड़ कर पीछे देखने में नहीं। अतीत कितना ही सुन्दर क्यों न हो भावी का सौंदर्य नहीं बन सकता। नवीनता सृष्टि का नियम है। प्रकृति के यौवन का शृङ्गार कभी बासी फूलों से नहीं होता। उनका अभिषेक केवल धूल करती है। श्रद्धा मनु के लिए यही नवीनता का संदेश लाई है। मनु के अकर्मण्यता-जनक प्रतीत प्रेम को वह प्रकृति की इसी पाठशाला में शिक्षा देती हुई कहती है—

> पुरातन का यह निर्मोक,
> सहन करती न प्रकृति पल एक।
> नित्य नूतनता का आनन्द
> किए हैं परिवर्तन में टेक।

इस प्रकार श्रद्धा के व्यक्तित्व की आधार शिला यहाँ इस सर्ग में हमें दिखलाई पड़ती है। बीज रूप से लगभग वे सभी तत्व यहाँ उपस्थित हैं जो आगे चलकर जीवन के कर्म क्षेत्र में श्रद्धा के व्यक्तित्व में विकसित होते हैं। परन्तु श्रद्धा और मनु के चरित्र चित्रण के लिए प्रसाद ने इस सर्ग में केवल कथोपकथनों का ही आधार लिया है जीवन के कर्म क्षेत्र में उनका चारित्रिक

(शेष पृष्ठ ६५ पर)

'प्रिय-प्रवास' में नारी-चित्रण

(श्री अरविन्द जोशी 'पुष्प')

यद्यपि आज हमारे सम्मुख कृष्ण और राधा को विषय बनाकर लिखे गये काव्यों और महा-काव्यों की की कमी नहीं है यही नहीं जो हैं, वे भी अत्यन्त उत्कृष्ट और ऊँचे सोपान पर पहुँचे हुए हैं। फिर भी इसी श्रेणी में हम 'प्रिय-प्रवास' को भी रखेंगे। क्योंकि इसका विषय भी कृष्ण राधा का ही है। यह बात दूसरी है कि कोई आलोचक इसे महाकाव्य माने अथवा न माने, जैसे आचार्य शुक्लजी इसे प्रबंध काव्य की श्रेणी में भी नहीं रखते। कुछ भी हो, इतना तो अवश्य ही मानना पड़ेगा कि 'प्रिय प्रवास' जैसे खड़ी बोली में अतुकान्त रूप में लिखे गये काव्य-ग्रन्थ ने अन्य महाकाव्यों से टक्कर ली है। किसी सीमाँ तक तो हरिऔधजी उनसे भी आगे बढ़ गये हैं।

जहाँ सम्पूर्ण शास्त्रों में पारगत कवि कुल शिरोमणि तुलसी, कविरत्न सूर, देव, बिहारी केशव, पद्माकर आदि ने अपने गद्गद् हृदय से जिस कान्त पादाम्बुजों म हृदय प्रसून अर्पित किए हैं। वहाँ 'प्रिय प्रवास' के लेखक हरिऔधजी भी अपनी श्रद्धा भक्ति से कृष्ण चरणों में 'प्रिय प्रवास' रूपी पुष्प, जिसकी सुगन्ध साहित्य लोक को सदा सुवासित करती रहेगी, को चढ़ाने आए और निस्सन्देह इस भक्ति का उन्होंने प्रसाद भी पा लिया।

'प्रिय-प्रवास'—में वर्णित विषय है श्रीकृष्ण चन्द्र की मथुरा यात्रा साथ ही साथ कथा-सूत्र में श्रीकृष्ण की ब्रजलीलाएँ भी यथास्थान परिलक्षित होती हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ की समीक्षा करने पर यही स्पष्ट होता है कि कवि ने द्वापरयुग के सर्व श्रेष्ठ व्यक्ति श्री कृष्ण का सम्पूर्ण जीवन वर्णन करने का प्रयास किया है। वस्तुत कवि अपने इस प्रयास में कृष्ण जीवन की पूर्ण झाँकी उतारने में सफल नहीं हो सका है। अत हम कृष्ण-जीवन के आंशिक चित्र का ही दर्शन कर पाते हैं।

नारी पात्रों में जिनका महत्वपूर्ण चित्रण हुआ है, वे दो चित्र हैं—ममतामयी माँ यशोदा और अनन्य प्रेमिका राधा के। जिन भाव धाराओं का प्रवाह इन चित्रों में हुआ है, वास्तव में उनसे काव्य में प्राण प्रतिष्ठित हो गये हैं। इन सजीव-चित्रों को रग रग भरकर अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए कवि ने जिस कुशल कलाकारिता का और अपनी पैनी दृष्टि का परिचय दिया है वह अनन्य है, अनुपम है। देखा जाए तो येनकेन प्रकारेण सभी पात्रों में वियोग-व्यथा अनुरंजित हो इसे हृदय दौर्बल्यता अथवा अत्यधिक भावुकता भी कह सकते हैं। इन्हीं हृदय दौर्बल्यता और भावनाओं से पूर्ण हम माँ यशोदा की ओर दृष्टिपात करते हैं।

श्री कृष्ण के व्रज आने का संदेश सुनकर वह अत्यन्त बेचैन है। वात्सल्य और स्नेह की साक्षात् मूर्ति माँ का हृदय द्रवित हो जाता है। पुत्र वियोग के कारण उसका हृदय अत्यधिक दुर्बल हो जाता है। उसके हृदय में अनेकानेक शकाएँ उठने लगती हैं, जो स्वाभाविक हैं। देखिए—

> "हृदय में उनके उठती रही,
> "भय भरी अति-कुत्सित भावना,
> विपुल व्याकुल वे इस काल थी,
> जटिलता-वश कौशल-जाल को।"

कितनी स्वाभाविकता है! माँ का हृदय कितना कोमल होता है!! यशोदा की कल्पना, अश्रु प्रवाह होना और भाँति भाँति की शकाएँ उठना, उसकी प्रकृति प्रदत्तता ही है। कौन ऐसी माँ होगी जो अपने प्राण प्यारे लाड़ले पुत्र को बिछुड़ते देखकर तड़प न उठेगी, जिसे लोरियाँ गा-गाकर सुलाया, अंक में भरकर चूमा और गद्गद् हो हृदय से लगाया, उसे

हो अपने से दूर जाने देख छटपटा न उठेगी ? कितनी विवशता है। किन्तु वियोग स कातर जननि अपनी विवशता कहे भी तो किससे ? तभी तो कहती है—

"विवशता किससे अपनी कहूँ
जननि क्यों न बनूँ बहु कातरा।"

श्री कृष्ण कुल दीपक हैं। नद और यशोदा के कुल का एक मात्र सहारा उनका प्यारा पु ही है। किन्तु जब उसी के प्रतिकूल प्रचण्ड वायु चलने लगी तो यशोदा का हृदय गतिहीन हो गया। प्रिय मात्र शरीर में केवल एक ही श्वास की श्वॉस शेष रहा। नि स्वार्थ भावना की देवी का हृदय विकल हो उठा। उसका कोमल हृदय अपने पुत्र के प्रतिकूल चलने वाली भयकर आधी को सहन न कर सका। वह कहती है —

"परम कोमल बालक श्याम ही।
कलपते कुल का यक चिन्ह है।
पर प्रभो! उसके प्रतिकूल भी।
अति प्रचण्ड समीरण है उठा॥"

यशोदा का चित्रण अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। उसकी वदना का अनुमान करना अत्यन्त कठिन है। जिसका सवस्व लुट गया हो, खो गया हो, और जिसके चारों ओर अ धकार ही शेष रह गया हो, उसकी व्यथा का माप दड क्या हो सकता है। वह न तो जगत हित ही जानती है और न लोक सेवा ही। अपने एक मात्र हृदय के टुकड़े कृष्णलला को। जब उसी वियोग की दशा आई तो उसके हृदय का धीरज रूपी बाँध टूट गया। उसका अविरल अश्रु प्रवाह के द्वारा फूट निकली। कितनी मर्म स्पर्शिनी उक्ति है।

'व्यथित होकर क्यों विलखूँ नहीं।
असह धीरज क्योंकर धरूँ म॥"

यही नहीं—"बारबार अशक्त कृष्ण जननि थी मूर्छित हो रही"—और जब उद्धव उन्हें श्री कृष्ण का उपदेश सुनाते हैं, तब तो यशोदा वास्तव में ध्रुव—सत्य का उद्‌घाटन कर देती है। वह कहती है—

'प्यासा प्राणी श्रवण करके वारि के नाम कोही,
क्या होता है पुलकित कभी जो उसे पी न पावे।"

वास्तव में कवि ने अपनी तूलिका द्वारा एक आदर्श माता का ऐसा चित्र उतारा है जिसकी एक-एक रेखा से स्नेह की अनेकों धाराएँ प्रवाहित हो रही हैं। कोई भी सहृदय पाठक इन भावनाओं में बहे बिना न रह सकेगा। इस नारी हृदय के रहस्योद्‌घाटन में जो कुशलता कवि ने दर्शाया है वह अत्यन्त सफल है। वात्सल्य और करुणा की लहरों पर मन अनजाने ही लहराने लगता है।

यशोदा के अतिरिक्त मर्म-स्पर्शिता में उसी के सम क्ष एक और नारी चित्र 'प्रिय प्रवास,' में अ कित है, और वह है अनन्य प्रेमिका राधा का। वस्तुत का य-ग्र थ का सारा अस्तित्व राधा पर ही आधारित है। अगर कृष्ण शरीर है तो राधा प्राण। नि सन्देह 'प्रियप्रवास' राधा कृष्ण की वियोगान्तप्रणय कथा है प्रणय के वातावरण म ही इसका विकास हुआ है अगर इस महा काव्य म वियोग का वातावरण निर्मित नहा किया जाता तो यशोदा और राधा के मनोहर वात्सल्य और प्रेम पूर्ण व्यक्तित्व विकास की छटा कदाचित ही उभर पाती।

राधा और कृष्ण दोनों ही वियोगावस्था से दु खी हैं। एक ओर कृष्ण राधा की याद में व्यथित हैं तो राधा आसुओं के हार गूथ रही है। और फिर राधा कितनी कोमलांगिनी है। कैसे वह वियोग व्यथा को सहन कर सकी ? कवि ने राधा का कमनीयरूप वर्णित करने म तो अपनी कलम ही तोड़ दी है। राधा का शब्द मय चित्रवत् रूप निखर उठता है।

'रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय कलिका राकेन्दु बिंबनना,
त न्वगी कला हासिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला पुत्तली,
शोभा वारिधि की अमूल्य मणि सी लावण्यलीलामयी,
श्रीराधा मृदु भाषिणी, मृग दृगि माधुर्य की मूर्ति थी,

अहा! कितना सुदर वर्णन है। नायिका सौदर्य रूपी बाग म विकसित होने वाली कली, पूर्णिमा के चद्रमा के समान मुख वाली सुकोमल और पतले दुबले अगों वाली सुदर हँसी स युक्त नाना प्रकार की कलाओं से युक्त लीला की आधार शोभा रूपी समुद्र में उत्पन्न हुई अमूल्य मणि के समान कोमल वचन बोलने वाली

मृगों के समान नेत्रों वाली सौंदर्य की साक्षात् मूर्ति थी।

और भी आगे इस स्त्री जाति के रत्न की कान्ति देखिए, जो सर्वगुण—सम्पन्न, सम्मानिता, अनन्य हृदय और सत्प्रेम—सपोषिका है—

"सद्वस्त्रा सदलङ्कृता गुणयुता सर्वत्र सम्मानिता,
रोगी वृद्ध जनोपकार निरता सच्छास्त्र चिन्तापरा,
सद्भावा तिरता अनन्य हृदया। सत्प्रेम सपोषिका,
राधा थी सुमना प्रसन्न वदना स्त्री जाति रत्नोपमा।"

ऐसी राधा को वियोग व्यथा ने किस भाँति पीड़ित किया, यह शोचनीय है जिस प्रेमी के प्रेम रस में जो दिन रातों डूबी रहती थी, वही कैसे उसका वियोग सुन भी सकी? राधा कृष्ण को अपने प्राण से भी अधिक प्यार करती है। कृष्ण के बिना उसका जीवन शून्य है, नीरस है। सहृदय नारी ने जब कृष्ण के व्रज जाने का सदेश सुना तो उसकी दशा उस विकसितकली तुल्य हो गई जो हिमपात म मुरझा जाती है, म्लान हो जाती है—

"विकसित कलिका हिम पात से।
तुरत जो बनती अति म्लान है।
सुन प्रसग मुकुन्द प्रवास का।
मलिन त्यों वृष भानु सुता हुई॥"

इतना होते हुए भी वियोग सागर राधिका एक अत्यन्त गभीर और विचारशील रमणी के रूप म हमारे सामने आती है। कवि ने उसके विरह को एक अनुकरणीय रूप दे दिया है। राधा ने अपने जीवन का बलिदान प्रेम की वेदी पर विश्व-कल्याण के हेतु बिना सकोच के कर दिया। उसने अपने पवित्र प्रेम की रक्षा कर, अपने प्रियतम की इच्छाओं में अपने आप की आकांक्षाओं को एकाकार कर दिया है। यही तो प्राचीन-कवियों की 'राधा' और इस राधा में अन्तर है। 'प्रिय प्रवास' की राधा की यही मौलिक विशेषता है। जहाँ प्राचीन कवियों ने राधा और कृष्ण की ओट से सयोग शृगार का घृणित रूप में वर्णन किया है वहाँ 'हरि औध' जी ने प्रगाढ़ प्रेम की और पवित्र प्रेम की रक्षा की है। यहाँ प्रणयोपासना का उज्ज्वल रूप निखर कर सर्वत्र निखर गया है।

श्रीमती राधा अनन्य प्रणयोपासिका होते हुए भी एक आदर्श कुललालना है। राधा का प्रेम अनर्गल प्रलाप नहीं; वह तो प्रेम का रक्षक है, मर्यादित है। जब वह अपना वियोग सदेश पवन के द्वारा कृष्ण तक पहुँचाती है, उस समय भी उसे दीन-दुखियों की चिन्ता रहती है—

वह पवन से कहती है—

'तेरी जैसी मृदुपवन से सर्वथा शाति का भी,
कोई रोगी पथिक पथ में जो पड़ा हो कहीं तो,
मेरी सारी दुःखमय दशा भूल उत्कठ हो के,
खोना सारा कलुष उसका शाति सर्वांग होना॥

यद्यपि इस प्रकार राधा की उदारता मे हमें कोई सदेह नहीं है। वह कुलललना है, उदार है, प्रौढ़ा-रमणी है। लोक सेवा और देश हित जानती है। विज्ञ और सर्वगुण सम्पन्न है। तथापि प्रणय बावरी अपने आपको वियोगाग्नि से बचा नहीं सकी। यदि राधा के हृदय की टटोल देखा जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि अन्ततः उसकी लोक हित प्रवृत्ति मे कितना दम है? अतः यहाँ पूर्ण कसौटी पर हम उसे एक दुर्बल नारी ही पाते हैं। इसका एक मात्र कारण है उसका प्रेम दीवानी होना। वह कहती है—

"क्यों होती है अहह इतनी यातना प्रेमियों को
क्यों बाधाओं विपद भय है प्रेम का पथ होता॥

इस ओर वह तो इतनी आगे बढ जाती है कि विधि के द्वारा रचित विधान को भी कोसती है—

जब विरह विधाता ने रचा विश्व म था।
तब स्मृति रचने म कौन सी चातुरी थी॥

जब चारों ओर से निराश हो जाती है तब तो मोह मग्ना राधा सत्य को स्पष्ट कर देती है—

'जो होता है सुखित उसको अन्य की वेदनाएँ।
क्या होती हैं विदित वह जो भुक्त भोगी न होवे॥

(शेष पृष्ट ७४ पर)

'पलाशवन' और यौनभावना

[प्रो० देवीशरणजी रस्तौगी एम० ए०]

'पलाशवन' में कवि का आहत अहं मुखर है और अहं के इस रूप म आहत करने का उत्तरदायित्व अतृप्त यौन भावना पर है, किन्तु वह अतृप्ति न तो आत्म-पीड़न का परिणाम है और न ही नायकत्व-मोह का देन है। यह अतृप्ति दो सीमाओं से निर्धारित है एक तो साहचर्य और भोग प्राप्त करने की *उत्कट लालसा* और दूसरी यह साहचर्य तथा भोग लाभ न प्राप्त कर पा सकने की अक्षमता अथवा परवशता। इस संग्रह की कई रचनाओं म यह दोनों सीमायें स्पष्ट रूप से मुखर हैं। 'हुआ न तेरा ही कोई' कविता की प्रारम्भिक पंक्तियों में साहचर्य लाभ प्राप्त करने की यही ललक व्यक्त हुई है—

> दिन सूरज का रात चांद की,
> हुआ न तेरा ही कोई।।
> तारों और परिन्दों का नभ,
> अचला सचराचर जल थल की।
> क्षण क्षण पर पहरा भावी का,
> गिनती जीवन में पल पल की।
> करता जो अपनी में गिनती,
> हुआ न तेरा ही कोई।

किन्तु अगले चरण में ही शारीरिक सानिध्य प्राप्त करने की लालसा भी मुखर हो उठी है—

> शीतल कर धरती की छाती
> नदिया सागर मिल जाती।
> नदियों म जल जल में लहरें,
> गलबाहीं डाले बलखातीं।
> भरता जो बाहों में अपनी,
> हुआ न तेरा ही कोई।

ऐसा निनान स्वाभाविक भी है। 'मन' पर अधिकार करने की लालसा के मूल म ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से प्राय 'तन' प्राप्त करने की चाह सक्रिय रहा ही करती है। वास्तव म तन और मन की प्राप्ति करने की आकांक्षा ही 'प्रेम भावना' के पूर्ण रूप को व्यक्त करती है। एक के बिना दूसरे की प्राप्ति की चाह अस्वाभाविक है और इसलिए जहाँ यह मुखरित हो वहाँ समझ लेना चाहिए कि आत्म प्रवचना अथवा परप्रतारण के वशीभूत होकर ही कलाकार ऐसा कर रहा है। इस लिए यह *मानना पड़ेगा कि कवि नरेन्द्र* ने इस दृष्टि कोण से अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने में अत्यत ईमानदारी और सचाई से काम लिया है। 'खुली हवा', कविता म साहचर्य प्राप्त करने की इस लालसा का रूप और भी अधिक मुक्त रूप से प्रकट हुआ है—

> खुली हवा में खिली धूप है,
> दुनियाँ कितनी सुन्दर रानी।
> आओ सारस की जोड़ी से,
> निकल चलें हम दोनों प्राणी।

किन्तु यौन भावना जहाँ व्यक्ति को सजग व्यक्तित्व प्रदान करती है वहाँ उसकी (यौन भावना की) अतृप्ति इसे एकाकी भी बना देती है। एक एकाकीपन निश्चय ही घोर नैराश्य असन्तोष और परवशता की देन होना है किन्तु घातक होने पर भी कभी कभी तो वह इतना मोहक प्रतीत होने लगता है कि व्यक्ति इसी दिव्यगर्त म पड़े रहने व आनन्द (?) का रसास्वादन करते रहने में असाधारण रस लेने लगता है। पर नरेन्द्र का एकाकीपन इस विश्वास का आखेट नहीं बन पाया है। 'सामने का नाम' कविता में इस एकाकीपन के चित्रण में अपनी इस परवशता के प्रति जो असन्तोष उन्होंने व्यक्त किया है वह इसी तथ्य की ओर इंगित करता है।

एक वह तरु नीम मुझ-सा ही अकेला खड़ा है जो सामने।

> पत्तियों से बौर से सज,
> भर गया तन खुश हुआ मन,

चौर की मधुगंध फैली।
झर गए ज्यों जीर्ण वचन।
एक मैं हूँ सूखता तन और मन में छलकना छल व्यथा भर दी राम ने !!

× × ×

देखता हूँ दूर बैठा।
नाम की मजरित डाली।
वायु जिससे खेलती पिक ने।
निज अपनी बना ली।
तू अकेला है अकेला, कहा मुझसे हर सुबह हर शाम ने !!!

असफल प्रेमजनित एकाकीपन का इतना मर्मस्पर्शी वर्णन शायद ही अन्यत्र मिले।

ऐसी मन स्थिति में प्रकृति में सहानुभूति अथवा समता खोजने के लिए आतुर हो उठना स्वाभाविक है, एक तो व्यक्ति वैसे ही स्वभाव से दुर्बल है और फिर वंचित होने पर तो उसकी अधीरता और भी अधिक बढ़ जाती है, शायद इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने प्रकृति का उद्दीपन रूप में वर्णन करना युक्तिसंगत माना होगा। नरेन्द्र शर्मा की कई रचनाओं में यह प्रवृत्ति स्पष्ट रूप में मुखर है।

मैं उठा, उठा वह, जिधर चला,
मेरे संग संग चल दिया चाँद।
मैं गीतों में वह आँखों में,
बरसा औ रोया किया चाँद।

× × ×

अस्ताचलगामी चाँद नहीं क्या।
मेरे ही टूटे दिल सा,
टूटी नौका सा डूब रहा,
जिस को न निकट का तट मिलता !!

'साथी' [पलाशवन]

पर जो व्यक्ति इस असन्तोष अथवा अतृप्ति को दिव्य असन्तोष बनाकर उसी में रस लेने लगने का उपक्रम नहीं करते या स्पष्टरूप से उसे रहस्यात्मकता के आवरण में सहेज कर रखने की परप्रतारणा नहीं करते वह प्रायः जीवन के स्वस्थ क्षणों में इस मन स्थिति को समझने परखने की भी चेष्टा करते हैं। यह स्वाभाविक भी है। यही कारण है कि वासनात्तेजना में भाटा आने पर प्रायः ऐसे व्यक्ति पर्याप्त मात्रा में चिन्तनशील और कभी कभी अप्रतिम सूझ बूझ वाले भी हो जाते हैं। समझाने की बात कविता में नरेन्द्र की यही मन स्थिति व्यक्त हुई है—

चींटी की आँखों से देखी,
तुमने महा प्रलय जल कण में,
की अनन्त की विपद कल्पना,
तुमने अचिर क्षुद्रतम क्षण में।

'सुख दुख' कविता में भी उनकी चेतना का यही रूप प्रकट हुआ है।

सुख दुख के पिंजर में बन्दी,
कीर धुन रहा सिर बेचारा।
सुखदुख के दो तीर चीर कर,
बहती नित गंगा की धारा।
तेरा जी चाहे जो बन ले,
तू अपना हरता करता है,
जब तक मन में दुर्बलता है।
दुख से दुख सुख से ममता है॥

पर इस व्यवस्थता के लुप्त होते ही व्यक्ति कभी तो भाग्यवादिता और कभी मानव जीवन की परवशता का सहारा लेने लगता है। निश्चय ही यह प्रवृति उसकी दुर्बलता की परिचायक है पर क्योंकि मानव स्वभाव से दुर्बल है इसलिए उसका (प्रवृति का) कभी कभी सक्रिय हो उठना स्वाभाविक है। नरेन्द्र की 'सोना या खार' कविता में यही प्रवृति मुखर हो उठी है—

बुद्धि कल्पना के पर्खों को,
काट रही जब नियति कतरनी।
कर परकेंच कह रहे हो क्यों,
जैसी करनी वैसी भरनी!

तुम ही जानो अपनी माया, मेरे सिरजनहार।

इसलिए हम कह सकते हैं कि नरेन्द्र का प्रेम छायावादी प्रणय भावना की भांति वायवी बनाने का ढोंग रचता है, पर अंचल के काव्य में मिलने वाली मांसलता मुखर करने का भी उसमें साहस नहीं है। परिणाम

स्वरूप वह उस यौन भावना का सुन्दर रूप बन गया है, जो अतृप्त रहने के कारण असंतुष्ट भी है और तृप्ति के लिए ललकती भी है, पर शीलाशान के कारण इसी असन्तोष के आंचल में मुंह ढके रोती सुबकती रहती है। यहाँ पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या इस प्रकार की मनः स्थिति अनैतिक है अथवा मानसिक अस्वस्थता की द्योतक है अथवा काव्य रचना के लिये अनयुक्त है। वास्तविक में यह मानसिक स्थिति आज की आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था की देन है और इसलिए अपने में स्वाभाविक और सत्य होने के कारण उसे अनैतिक, अस्वस्थ तथा रुग्ण कह कर हेय अथवा अवांछनीय नहीं ठहराया जा सकता है। इसके अतिरिक्त जब वह आज के आर्थिक तथा सामाजिक ढांचे की देन है तो फिर उसे किस प्रकार अनुचित असाधारण अथवा अनुपयुक्त माना जा सकता है। सच बात तो यह है कि आज के साहित्य में जिस व्यष्टि और समष्टि का क्षण भर में तुर्पण कर देने वाली सामन्तशाही प्रेम-भावना अथवा किनारी रोमांस अथवा "समाज सेवा के घूंघट में सुबकती हुई वासनोत्तेजना का वर्णन मिलता है उससे तो यह मनः स्थिति कहीं अधिक सच्ची और स्वाभाविक है। इसमें आत्मप्रवंचना और परप्रतारण कहीं भी नहीं पाई है और इसलिए भावी समाज की रूपरेखा बनाते समय आज के साधारण नवयुवक की मन. स्थिति को समझने के लिए इस प्रकार की रचनाएँ अधिक या उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं। वस्तुतः आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार ही हमारी यौन भावना नित्य नवीन रूप (विभिन्न प्रकार के प्रेम-भाव बन कर) धारण करती रही है और इसलिए वर्तमान परिस्थितियों में इसका जो रूप हो सकता था या है उसका एक पक्ष निश्चय ही नरेन्द्र की इन कविताओं में बहुत कुछ व्यक्त हो सका है। इन रचनाओं की उपादेयता तथा अमरता इसी तथ्य में निहित है।

(शेष पृष्ठ ५६ का)

उद्घाटन और विकास तो हमें आगे के सर्गों में ही दिखलाई पड़ता है। कथोपकथन भी कुछ लम्बे हो गये हैं जिससे काव्य की नाटकीयता पर थोड़ा आघात लगा है। इस सर्ग में कथानत्त्व का तो नितांत अभाव है। पूरे के पूरे सर्ग कथानत्त्व का न होना प्रबन्ध काव्य की प्रबन्धात्मकता के लिए भी एक दोष माना जाएगा। इस सर्ग में कथा सूत्र कवि और पात्र दोनों ही के हाथ से छूट गया है। सम्पूर्ण सर्ग वर्णन और कथोपकथन पर ही टिका हुआ है। परन्तु जहाँ तक काव्य वैभव एवं भाव गौरव का सम्बन्ध है, वह वर्णन और संवाद दोनों में अपनी सम्पूर्ण भव्यता के साथ उपस्थित है। 'शृङ्गार' छंद में लिखा गया यह सर्ग भाषा में छायावादी विषय प्रतिपादन में दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक तथा चित्रण में अनिकाल्पनिक और प्रभाव में आदर्शवादी है। 'कामायनी' की सफलता में यह एक अमिट कीर्ति स्तम्भ है।

जैनेन्द्र-कृतिकार और "त्यागपत्र"

[प्रो० श्री कान्त जोशी एम० ए०]

जैनेन्द्र के आज तक के प्रकाशित उपन्यासों में जिनमें उनके नवीनतम उपन्यासों सुखदा, विवर्त, व्यतीत को भी सम्मिलित किया जा सकता है—त्यागपत्र एक विशिष्ट रचना है। एक खास चीज है। लगता है 'त्यागपत्र' के अभाव में जैनेन्द्र कहानीकार भर रह जाते, उपन्यासकारों में स्थान मिलता तो, पर धुंधला-सा, आज जैसा चमकता हुआ नहीं।

यों यह शायद ठीक है कि जैनेन्द्र का प्रवेश द्विवेदी युग की संध्या में हुआ था। उस युग की मोटी आदर्शवादिता में जैनेन्द्र छोटी-छोटी मन की परतों को उधेड़ने और सीने का अचाहा कार्य करने लगे थे। जैसे शिशु के नन्हे हाथों पर बड़ा बोझा डुलता जाय वैसे ही जैनेन्द्र भाषा, वाक्यों और आकार की लघुताओं में उपन्यास की महिमा के वाहक बन गये थे। वह प्रसाद की व्यंजनात्मकता समाविष्ट कर जैनेन्द्र ने एक नवीन शैली को जन्म दिया। साथ ही प्रसाद की द्वन्द्व परिस्थितियों को जैनेन्द्र ने जिस तल्लीनता और बारीकी से अपनाया उतना ही प्रेमचन्द की व्यावहारिकता और ग्रामीणता को उदास होकर छोड़ भी दिया। इन दोनों रत्नों से जो वस्तु जैनेन्द्र को अवश्य ले लेनी थी वही शायद वे न ले सके। वह वस्तु है इन दोनों की व्यापक समाहार शक्ति। प्रेमचन्द और प्रसाद सदा ही, इन दोनों का फलक (कैनवास) खूब व्यापक रहा है। प्रेमचन्द का तो कहना ही क्या? गोदान और 'रंगभूमि' को पढ़ते हुये लगता है कि पाठक को एक नहीं दो जन्म के अनुभव मिल गये हों। इसी प्रकार चरित्र चित्रण की जो पूर्णता प्रेमचन्द की है वह हमारे कलाकार की नहीं है। पर एक बात है जो जैनेन्द्र की अपनी है। प्रेमचन्द जहाँ सामूहिक मनोविज्ञान को ही छू सके थे वहाँ जैनेन्द्र ने व्यक्ति को स्पर्श किया है। प्रेमचन्द ने जहाँ वर्ग पुरुष का चित्र खींचा है वहाँ जैनेन्द्र ने व्यक्ति के वर्ग को अपनाया है। इसी तरह जैनेन्द्र, प्रेमचन्द की तरह ग्रामीण कभी नहीं रहे। उन्होंने शहर छुआ और जिस तरीके से छुआ, प्रेमचन्द नहीं छू सके।

'त्यागपत्र' उनकी महत्वपूर्ण सृष्टि है। इस उपन्यास में जो कलात्मकता, जो कलम-की-सफाई, जो चरित्र उतारने की शक्ति, जो मनुनिपुणता और जो कसमसाहट देखने को मिलती है और पाठक के मानस पर हार की मणि की तरह जगमगाती है वह अन्य उपन्यासों में कम रहेगी। इस उपन्यास का नाम मधुर है और नाम असरदार है। इस रचना के अन्तराल में एकबार सैर कर तृप्ति नहीं होती। दूसरी बार में मन रमता है और तीसरी बार में दर्द का मीठापन खूब आता है।

प्रेम और पूजा का द्वन्द्व त्यागपत्र की मूल चेतना है। प्रेम प्रेमी से किया जाता है और पूजा पति की। पति की ईमानदारी से दास्य भाव से—पूजा की जाती है, अतः बैरिस्टर दयाल की बूआ मृणाल ने जो जोरदार प्रयत्न किये जो असफल रहे। सबसे अधिक बुरी या अच्छी बात जो उससे की वह यह कि उसने अपने पति को विवाह से पहले की अपनी प्रणय कहानी कह सुनाई। पति झुंझलाये जैसा कि आम पति झुंझलाता है और बुआ मृणाल घर से बाहर निकाल दी गई। इस घटना से जहाँ बुआ को ऊंचाई से नीचे आ जाना पड़ा वहाँ इसके साथ ही उपन्यास को नीचे से ऊंचे चढ़ने का अवसर भी मिल गया। रहा प्रेम, वह तो विवाह के साथ ही उत्पन्न हो गया होता क्योंकि वह शीला के भाई से था और उससे विवाह नहीं हुआ। यह असफलता बुआ की लाचारी है और जीवन भर की समस्या बन जाती है यद्यपि इसी असफलता का कलात्मक उद्घाटन जैनेन्द्र की गैर मामूली सफलता है।

जहाँ तक कथानक का प्रश्न है वह एकदम मौलिक है। हिन्दी में अभी भी उपन्यास लिखे जा रहे हैं मगर तय है कि इन सबों की समष्टि में त्यागपत्र की व्यष्टि एक ही है और लाल प्रकाश समूह में नीले प्रकाश बिन्दु की तरह चमचमाने वाली चीज है। त्यागपत्र का जो अन्त है वह बड़ा हृदय विदारक है। उपन्यास पढ़ लेने पर बुआ का कारुणिक मृत्यु मन की तह पर

खूब देर तक कौंधती है। यह बड़ी असहाय मृत्यु है जिसके सम्मुख पाठक भी बैरिस्टर साहब की तरह निस्पन्द, खड़ा रह जाता है। शरत की रचना होती तो पाठक को शायद इतना मजबूर नहीं रहने दिया गया होता। उस समय 'अन्त में' शायद वह फफक फफक कर रो उठता और इस तरह आसुओं की सहायता से मन का बोझ उतार देता। जैनेन्द्र ने मुश्किल में डाल दिया है। बेचारी बुआ का कारुणिक अन्त कुछ इतना प्रत्याशित हो गया है और बैरिस्टर दयाल का त्यागपत्र कुछ इतनी देर से दिया गया है कि पाठक रो नहीं पाता—Frustrated (कुण्ठित) सा रह जाता है। जैसे दर्द हो और न भी हो। गड़े हुये कांटे के निकल जाने पर भी जैसे ख्याल यही बना हो कि कांटा गड़ा है और अभी उसका निकालना बाकी है।

त्यागपत्र में बूआ मृणाल का चरित्रविश्लेषणात्मक है और देर तक स्मृति के डोरों में अटकता है। बूआ है और भानजे से वह कुछ अधिक प्यार करती है। इतना अधिक कि वह उसे बार बार अपने वक्ष से चिपटा लेती है। वक्ष में यों भरना क्यों होना चाहिए? बूआ के आगामी चारित्रिक विकास को देखते हुये लगता है कि यह वासना का क्षणिक परिहार ही होगा। विवाह के बाद भी मृणाल को सुख नहीं मिलता। सन्तान न मिलने से वह अपना उदात्ती करण भी तो नहीं कर पाती वह कई ऐसी गन्दगी में रपटती गुजरती है। कभी किसी व्यापारी की तन तुष्टि और कभी शिक्षिका बन कर आत्म तुष्टि देती और लेती वह जिन्दगी का धूँआ उड़ाये जाती है। पति का संशय और परित्याग, परित्यक्त जीवन के विपर्यय और विराग, मृणाल की जिन्दगी के पथ में कभी तेज और कभी मन्द जलने वाली आग बना कर छोड़ देते हैं। उसको सब ग्रहणीय हो जाता है। संसार की कोई बुराई नहीं जिसे वह न भोग चुकी हो और इसीलिये बुराइयों से भूख से प्यास से, दारिद्र से उसकी दोस्ती हो जाती है।

क्या बूआ मृणाल का चरित्र Abnormal है? यह प्रश्न इकाईयों के मन में आता होगा। शायद नहीं। आज के किसी मनोवैज्ञानिक ने अगर यही रचना लिखी होती तो मृणाल का चरित्र निश्चय ही Abnormal होता पर यह जैनेन्द्र की सृष्टि है और जैनेन्द्र की विशेषता है कि वह मनोवैज्ञानिक के सिद्धान्तों में जीवन को नहीं बुनते, उन्होंने जीवन से मनोविज्ञान को बुना है। इसीलिये बुआ का चरित्र खूब प्रकृत है। वह जो बैरिस्टर दयाल की सम्पन्नता को भी सहज असम्पन्न बनाये डालती है उसका बड़ा ही सहज कारण है। बच्चा जैसे मा से रूठकर भोजन की अवहेलना कर कुछ प्रच्छन्न सुख पाता है, प्रिय जैसे प्रेयसी से रूठ कर मौन रह रहकर प्रेयसी को बौखलाये देता है और भीतर ही भीतर अवर्णनीय गुदगुदी का दुर्लभ सुख लूटा करता है ठीक उसी प्रकार बूआ भी प्रिय के विराग से पति के परित्याग से और बैरिस्टर साहब की उपेक्षा कर आत्म पीडन का खटमिट्ठा सुख प्राप्त करती है। यह आत्म-पीडन का सुख बड़ा ही दिलचस्प होता है। इसमें हम पर कोई तरस खाता है, इसी भावना में समस्त आनन्द एषणाओं का सचयन है और हम उस तरह की उपेक्षा करते हैं इसी विचार में प्रच्छन्न अहम् की जीवन आत्म-तुष्टि है।

बूआ मृणाल के चरित्र के प्रकाश में त्याग पत्र के सारे अन्य पात्र फीके रह जाते हैं। वे तो बूआ के चरित्र को ऊँचा ले जानेवाली सीढियाँ मात्र हैं। इसीलिये यह भी लगता है कि उपन्यास का नाम त्यागपत्र शायद ठीक नहीं है। त्यागपत्र से होता क्या है? उपन्यास की घटनाओं पर और पाठक पर भी उसका कतई असर नहीं पड़ता। त्यागपत्र देकर बैरिस्टर दयाल कोई बहुत बड़ा काम कर बैठे हों, ऐसा तो है ही नहीं।

जैनेन्द्र के उपन्यासों की एक विशेषता यह है कि वे उपन्यास होते ही नहीं वे तो एक लम्बी कहानी भर होते हैं। त्यागपत्र भी एक लम्बी कहानी ही है फिर भी उपन्यास वह इसलिये है कि क्योंकि उसका असर इतना ही व्यापक और मर्मस्पर्शी है जितना कि किसी उपन्यास का होना चाहिये। काश जैनेन्द्र त्यागपत्र जैसी एक आध रचना और लिख पायें!

पंत जी की काव्य-साधना

(श्री वैद्यनाथ मोदी एम० ए०)

प्रकृति के अप्रतिम कवि 'पंत' एक साथ तीन रूपों में हमारे सामने आते हैं। प्रतिनिधि उपासक एवं प्रवर्त्तक। यदि एक ओर पंत जी छायावाद के प्रतिनिधि कवि हैं तो दूसरी ओर प्रकृति के अनन्य उपासक एवं वर्तमान प्रगतिवादी धारा के प्रवर्त्तक भी हैं। यदि 'वीणा' और 'पल्लव' में आप के छायावादी रूप के दर्शन होते हैं, तो 'गुंजन' में रहस्यवादी और 'युगवाणी एवं ग्राम्या' में प्रगतिवादी रूप के दर्शन होते हैं।

आज छायायुग चिरस्मरणीय इसलिए नहीं रह गया है कि वह छाया की तरह आया और विलीन हो गया कि इसकी स्मृति इसलिए बनी है कि इसने हमें प्रसाद, निराला और पंत जैसा कलाकार दिया। यदि विचार कर देखा जाय तो हिन्दी में रोमान्टिक साहित्य की छाया के आधार पर 'छायावाद' के जनक प्रसाद जी ही ठहरते हैं। परन्तु अत्यन्त दुख की बात है कि इस छायावाद को जनक की ममता कुछ अधिक दिनों तक नहीं सुलभ रह सकी। वे इसे किशोरावस्था में ही छोड़कर चल बसे। इसके पश्चात् लालनपालन का भार 'निराला' और 'पंत' जी के कंधों पर ही आ पड़ा। यदि एक ओर निराला' जी दार्शनिक चिंतन से छायावादी कविताओं में तत्व भर रहे थे तो दूसरी ओर पंत जी अपना कोमल, सुकुमार कल्पना से उसमें सरसता भर रहे थे। यदि 'निराला' में भावों का कला है तो 'पंत' जी में भावों को स्वाभाविक मादव। यों विरह-मिलन की भावना दोनों में ही मिलती है। पंत ने अपने जीवन में सौंदर्य और संगीत को प्यार किया है। इसीलिए तो अपनी कृतियों में भी जीवन की स्वर्गीय विभूतियों का सजीव और सुन्दर चित्रण उपस्थित किया है। लेकिन निराला की कविताएँ हर्ष विषाद तथा सांसारिक आवेग प्रवेग के उद्वेग से भरी हैं। या दार्शनिक क्षेत्र में तो दोनों ही रहस्यवादी तथा छायावादी हैं किन्तु पंत में छायावाद का आग्रह अधिक है। निराला में तो हम रहस्यवादी का ही आग्रह अधिक पाते हैं। 'निराला' का काव्य यदि अपनी प्रतिभा की जटिलता में एक गहन गिरि-कानन बन गया है तो पंत का काव्य अपनी स्वच्छ सुषमा में पल्लवित गुंजित उद्यान।"

पन्तजी एक प्रतिनिधि कवि हैं। प्रतिनिधि कवि युग की सृष्टि और स्रष्टा दोनों ही होते हैं। उनकी कृतियां में भावपक्ष और कलापक्ष दोनों ही पुष्ट होते हैं। भावना के क्षेत्र में कल्पना ही पंत की कविता की विशेषता रही है। यही उनकी बहुमुखी रचनाओं का आधार रही है और उसमें रस णीयता का संचार विस्तार करती रही है। दूसरे शब्दों में यदि हम इसे ही उनकी काव्य-सृष्टि का मापदंड कह तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

उनकी सौंदर्यानुभूति ने ही उनकी कल्पना शक्ति को पर्याप्त बल दिया है। उनकी कल्पना प्रेम के दोनों पक्षों (संयोग वियोग) को समान सौंदर्य के साथ प्रकट करने में जरा भी नहीं हिचकती, कुंठित नहीं होती।

पंत जी को हम उनके काव्य जीवन के आरम्भ में सौंदर्य और प्रेम के कवि के रूप में ही पाते हैं। उनकी सौंदर्य की साधना क्षुद्र सीमा में नहीं बंधकर व्यापक सी हो उठी है। उन्होंने प्राकृतिक, आत्मिक एवं मानसिक तीनों प्रकार के सौंदर्य की साधना की है। प्रकृति के साथ तो मानो इनका आधार आधेय सम्बंध है।

'प्रकृति प्रेरक रचनाओं ने पंत काव्य का ऐसी मूल भित्ति का निर्माण किया, जिसका आलम्बन या आज उनकी स्वर्ण कृतियाँ हिन्दी कविता में आलोकस्तम्भ सी अभय स्थिति में हैं। प्रकृति ने उनके काव्य को गौरव में प्राञ्जलता तथा परिमार्जित अभिव्यंजना के तत्व समवेत किये जिनके कारण उनकी चिंतन तथा कल्पना सृष्टि बड़ी भव्य तथा अद्भुत हो गई है।' उनकी प्रकृति प्रियता इन पंक्तियों से अच्छी तरह व्यंजित होती है

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया तोड़ प्रकृति से भी माया
बाले तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?

प्रकृति के सभी रूपों का जैसा मांसल वर्णन इनकी लेखनी से बन पड़ा है वैसा किसी से नहीं।

प्रकृति का नारी रूप में चित्रण तो इन्होंने किया ही है, साथ ही "कला तो यह बादल है,' शीर्षक कविता में इन्होंने प्रकृति को माँ के रूप में ग्रहण किया है।

"गुप्त जी का भाव-लोक"

[श्री हरिश्चन्द्र वर्मा एम०ए०]

आचार्य पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी के सद्-प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप खड़ी बोली गद्य की भाषा तो बन गई थी, किन्तु ब्रज भाषा की सहज मधुरता और कोमलता के सामने उसे कविता के सर्वथा अनुपयुक्त समझा जाता था। गुप्त जी ने खड़ी बोली की कठोरता का परिहार कर उसमें ब्रजभाषा जैसी मधुरता और कोमलता उत्पन्न की। उन्होंने न केवल भाषा-क्षेत्र में ही पथ प्रदर्शन का कार्य किया अपितु भाव क्षेत्र में भी नवीनता और मौलिकता का परिचय दिया। जीवन और जगत के मौलिक द्रष्टा होने के नाते गुप्त जी प्राचीन आख्यानों में अनुभूति गत नूतनता का प्राण फूँकने में पूर्ण सफल हो सके हैं। व्यापक दृष्टि-कोण, प्रखर प्रतिभा और उत्कृष्ट कला का सुन्दर समन्वय होने के कारण वे सम-सामयिक सभी प्रवृतियों को अपने काव्य में सफल प्रतिनिधित्व कर सके हैं।

"जिसे देश का कवि कह सकते हैं वे अकेले मैथली-शरण गुप्त हैं," 'मानव! गुप्त जी सर्वप्रथम राष्ट्रीय कवि हैं पीछे कुछ और। यों तो हिन्दू' गुरुकुल' स्वदेश-संगीत, और किसान आदि ग्रन्थों में राष्ट्रीय संगठन, देश प्रेम, और जाति सेवा के भाव भरे हुए हैं किन्तु 'भारत भारती' के गीतों में राष्ट्र प्रेम और देशानुराग की भावना पूर्ण वेग के साथ उमड़कर बह निकलती है। भारत भारती में उन्होंने अतीत के गौरव की झाँकी प्रस्तुत की हैं, अर्वाचीन दयनीय दशा का चित्र खींचा है तथा भविष्य के लिए आशा का सन्देश दिया है। उनकी सर्वश्रेष्ट रचना 'साकेत' में भी स्वदेश प्रेम की झलक दिखलाई पड़ती है। 'मातृभूमि जन्मभूमिश्च स्वर्गा दीप गरीयसी' के आदर्श का पालन करने वाले राम अयोध्या से बिछुड़ते समय प्रेम विह्वल हो उठते हैं —

"जन्म भूमि ले प्रणति और प्रस्थान दे।
हमको गौरव गर्व तथा निज मान दे॥
हममें तेरे व्याप्त विमल जो तत्व है।
दया, प्रेम, नय विनय शील शुभ सत्व है॥
उन सबका उपयोग हमारे हाथ है।
सूक्ष्म रूप में सभी कहीं तू साथ है॥"

गुप्त जी वैष्णव हैं उनकी वैष्णवता 'साकेत' तथा 'पंचवटी' में पूर्ण रूप से झलकती है। वैष्णव धर्म के अनुयायी होते हुए भी 'द्वापर' में मन मोहन कृष्ण की बाँकी झाँकी दिखाकर, यशोधरा में और कुणाल गीत बौद्धों की करुणा का प्रति पादन करके तथा 'काबा कर्बला' में हसन और हुसैन के चरित्रों का विशद चित्रण करके उन्होंने व्यापक दृष्टिकोण एवं उदार हृदय का परिचय दिया है। "उनके जीवन में जो मिठास, जो भोलापन, जो दैन्य, जो उदारता और जो गम्भीरता है उसका श्रेय उनके हृदय की राम-मयता को है" राजेन्द्रसिंह गौड़। उनके 'वैतालिक' गुरुकुल, 'हिन्दू' 'अनघ' आदि यद्यपि प्रधानता हिन्दु-राष्ट्रीयता की ही है तथापि अन्य धर्मों के प्रति एक भी राष्ट्रीयता विरोधी शब्द उन्होंने नहीं कहा है। यह ही नहीं, 'उदार चरितानाम् तु वसुधैव कुटुम्बकम्' के आधार पर उनका दृष्टि कोण विश्व-बन्धुत्व का पोषण रहा है। उन्होंने जिस धर्म का प्रचार किया है वह है मानव-धर्म।

"हिन्दू हो या मुसलमान हो नीच रहेगा फिर भी नीच।
मनुष्यत्व सबसे ऊपर है पूज्य मही मण्डल के बीच।"

गुप्त जी सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय कवि हैं! विकास पथ पर निरन्तर अग्रसर होते होते आज उनकी राष्ट्रीयता सार्वदेशिक और सार्वकालिक बन गई है।

चिरकाल से उपेक्षिता नारी के प्रति गुप्त जी ने विशेष सहानुभूति दर्शायी है। 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' से उनका मानस आन्दोलित हो उठा और उन्होंने उसे उचित स्थान प्रदान करने के लिए 'साकेत' जैसे उत्कृष्ट महाकाव्य की रचना कर डाली। स्वयं लक्ष्मण जी के मुख से उर्मिला के प्रति

गुप्त जी ने निम्नलिखित शब्द कहलवायें हैं –

"अबला अबला ? तुम सबल वर वीरता।
विश्व की गम्भीरता ध्रुव धीरता ॥
बलि तुम्हारी एक बाँकी दृष्टि पर।
मर रही है जी रही है सृष्टि भर॥'

प्रायश्चित की अग्नि में तपकर कैकेयी का चरित्र भी खरे कुन्दन की भाँति चमक गया है। उर्मिला जी के चरित्र द्वारा गुप्त जी ने भारतीय नारी के चरित्र की शालीनता प्रकट की है। वह पति वियोग जन्य दुःख से जलती हुई आठ आठ आँसू बहाती है किन्तु सहिष्णुता की सरकार मूर्ति बनकर सब कुछ सहन करती है। साकेत के बारहवें सर्ग में नारी को पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर युद्ध में लड़ने को उद्यत पाया जाता है। 'यशोधरा' में यद्यपि 'अबला जीवन हाय! तुम्हारी यही कहानी, आँचल में है दूध और नयनों में पानी" को दृष्टिगत रखते हुए नारी जीवन के दो पक्षों आदर्श और पतिव्रता पत्नि पर प्रकाश डाला गया है, तथापि पुरुषों से भी बढ़कर त्याग, समाज सेवा की भावना और सघर्षों से जूझने की प्रवृति यशोधरा के रोम रोम से प्रस्फुटित होती है। तभी तो शुद्धोधन जी भी कह उठते हैं।

"गोपा बिना गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको"

महात्मा बुद्ध नारी का 'स्वतन्त्र सत्ता और महत्ता' को स्वीकार करते हुए घोषित करते हैं –

'दीन न हो गोपे सुनो हीन नहीं नारी कभी'

गुप्त जी विराम से साथ रह कर सदैव अपने समय का प्रतिनिधित्व करते रहे हैं। देश की सामयिक समस्याओं, विश्व प्रेम, अहिंसा, सत्याग्रह, ग्रामसुधार अछूतोद्धार, मद्य निषेध, आदि पर उन्होंने विचार प्रकट किये हैं। साकेत में राम का निषाद राज से भेंट करने का प्रसङ्ग मानो अछूतों को गले से लगाने का प्रसङ्ग है। पंचवटी में मानव धर्म के नाते राम सभी का मन सन्तुष्टि करना अपना परम धर्म समझते हैं –

'गुह निषाद शबरों तक का मन रखते हैं प्रभु कानन में"

सीता महारानी वनस्थली के मध्य पावन कुटियों में समाज सेविका के रूप में कोल, किरात, और भील बालिकाओं को अपने हाथ से कात बुनकर शरीर ढाँपने का पुनीत सन्देश देती हैं।

'तुम अर्द्ध-नग्न क्यों रहो अशेष समय में"
आओ हम कातें बुनें गान की लय में।"

सिद्धराज की माता मीनल्देव सोमनाथ दर्शनार्थियों पर थोपे गये कर को हटवाने के लिए 'भूख हड़ताल' कर देती है, राम को वन गमन से रोकने के लिए अयोध्या निवासी सत्याग्रह कर देते हैं। इन दोनों स्थलों पर क्रमश 'सिद्धराज' और 'साकेत' में गाँधीवाद की स्पष्ट झलक दिखाई पड़ती है। 'अनघ' 'किसान' आदि ग्रन्थों में भी गाँधीवाद विचार-धारा का पूर्ण परिपाक हुआ है।

गुप्त जी कृषकों और मजदूरों के सच्चे हितैषी, दीन दुखियों के हिमायती, साम्प्रदायिकता के कटुआलोचक सामाजिक शोषण और राजनैतिक दासता के तीव्र विरोधी तथा पूँजीवाद के शत्रु हैं। उनके काव्य में सर्वत्र मानवतावादी दृष्टि कोण की पुष्टि हुई है। उनका साहित्य 'कला कला के लिए' न होकर जीवन की दृढ़ पृष्ठ भूमि पर आधारित है।

गुप्त जी की अन्य बड़ी विशेषता है उनकी आशावादिता। यह आशा उनकी आस्तिकता के क्रोड़ में पल्लवित हुई है। उनके प्रायः सभी पात्र दुःखों की अन्धकार मय रजनी के बीच आशा के आलोक का अवलम्ब ग्रहण कर जीवन-पथ का निर्माण करते चले जाते हैं। उर्मिला के हृदय की यही आशा चतुर्दश वर्षों की दीर्घ अवधि को पार करने में सहायक होती है –

"री आवेगा फिर भी वसन्त
जैसे मेरे प्रिय प्रेम वन्त
दुःख का भी है एक अन्त।"

यद्यपि गुप्त जी पन्त जी की भाँति प्रकृति के कवि नहीं हैं, तथापि वे प्रकृति की चारुचित्र शाला में अनेकानेक मनोरम दृश्यों से अभिभूत हुए बिना नहीं रहे हैं। उनकी प्रकृति सदैव शान्त, मृदुल, नूतन और आकर्षक है विक्षुब्ध नहीं। विरह वर्णन उनकी प्रकृति संवेदन शील बन जाती है –

(शेष पृष्ठ ७४ पर)

'उसने कहा था'—एक विवेचन

[सु० श्री प्रेमसखी निगम]

हिन्दी के ख्यातिप्राप्त विद्वान गुलेरी जी ने 'उसने कहा था' कहानी बहुत अच्छी तथा उच्चकोटि की लिखी है। यह हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानी है। यह कहानी उस समय लिखी गई जब कहानी की शैशवावस्था थी, फिर भी यह कहानी इतनी सुंदर, इतनी प्रांजल, इतनी जिज्ञासापूर्ण है इतनी स्वाभाविक व इतनी उत्कृष्ट लिखी गई है कि आश्चर्य है। यह कहानी बहुत ही महत्वपूर्ण है। मानव के आन्तरिक को छेद डालती है, उसके प्रलाप को पढ़ते समय किसी पाठक के आँसू नहीं थमेंगे। 'इसमें पक्के यथार्थवाद के बीच सुरुचि की चरम मर्यादा के भीतर भावुकता का चरम उत्कर्ष अत्यन्त निपुणता के साथ सम्पुटित है। घटना इसकी ऐसी है जैसी बराबर हुआ करती है पर इसके भीतर के प्रेम का एक स्वर्गीय स्वरूप झाँक रहा है—केवल झाँक रहा है, निर्लज्जता के साथ पुकार या कराह नहीं रहा है। कहानी भर में कहीं प्रेम के निलज्ज—प्रदन्तता, वेदना की बीभत्स विवृति नहीं है। सुरुचि के सुकुमार से सुकुमार स्वरूप पर कहीं आघात नहीं पहुँचता। इसकी घटनाएं ही बोल रही हैं, पात्रों के बोलने की अपेक्षा नहीं है।" ये पंक्तियाँ रामचन्द्र शुक्ल जी ने अपने साहित्य में लिखी हैं।

इस कहानी को पढ़ने से हमारे सामने एक सजीव और संश्लिष्ट चित्र उपस्थित हो जाता है जिसे हम नित्य ही शहरों में देखा करते हैं। अतएव हम इसे कोरी कल्पना न कह कर स्मृति का एक सजीव चित्र ही कहेंगे। द्वितीय इसमें वातावरण की भव्यता एवं विशालता के बीच इसी प्रारम्भिक भाग में नायक और नायिका का लेखक ने प्रथम मिलन करा कर कहानी के लिये विकास का मार्ग अनूठे ढंग से खोल दिया है। जिस प्रकार मेघमाला से आच्छादित चन्द्रमा के बाहर निकलने में कोई सन्देह नहीं रह जाता ठीक उसी प्रकार उस लड़के और लड़की का क्षीण वार्तालाप पढ़ कर हमारे हृदय में यह धारणा बद्धमूल हो जाती है कि आगे चलकर लेखक इनके विषय में कुछ कहेगा और इस जानकारी के लिए हमारी उत्सुकता जाग्रत हो जाती है।

कहानी के प्रारम्भिक भाग में आकर्षण है जिसे पढ़ते ही हम मन्त्र-मुग्ध हो जाते हैं, आगे की कहानी के साथ इसका पूरा पूरा सामंजस्य है और कहानी के उद्देश्य की झाँकी तो हम इसी भाग में मिल जाती है। कहानी का आरम्भ कितने सुंदर सजीव और उत्कृष्ट पंजाबी वातावरण से हुआ है। "बड़े बड़े शहरों के इक्के गाड़ी वालों की ज़बान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है और कान पक गये हैं उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर के बम्बूकार्ट वालों की बोली का मरहम लगावें।" जब बड़े बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ को चाबुक से धुनते हुए इक्के वाले कभी घोड़े की नानी से अपना निकट सम्बन्ध स्थिर करते हैं, कभी राह चलते पैदलों की आँखों के न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की अँगुलियों के पोरों को चीथकर अपने ही को सताया हुआ बताते हैं और संसार भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने नाक की सीध चले जाते हैं।

वातावरण के बाद बिलकुल ठीक समय और उपयुक्त स्थल पर कहानी के मुख्य भाग का आरम्भ हो जाता है जो कि कुशलता, बुद्धिमानी और सतर्कता के साथ किया है—"ऐसे बम्बूकार्ट वालों के बीच में होकर एक लड़का और एक लड़की चौक की एक दूकान पर आ मिले। उसके बालों और उसके ढीले सुथने से जान पड़ता था कि दोनों सिख हैं वह अपने मामा के केश धोने के लिए दही लेने आया था और यह रसोई के लिए बड़ियाँ।"

कथानक का प्रवाह बड़ी सुन्दर गति से अपने लक्ष्य की ओर उत्तरोत्तर अग्रसर होता रहता है। लेखक का लहनासिंह के अपूर्व आत्मत्याग और बलिदान का उद्घाटन करना है, इसीलिए घटनाओं के संसर्ग में स्वच्छन्दता से प्रवाह इसी की ओर मन्दाकिनी की तरह बहता रहता है। युद्ध से छुट्टी में घर आने के बाद और पुनः लड़ाई में लौट जाने के पूर्व गुलेरी जी ने उस अबोध लड़की और लड़के की भेंट करा कर कहानी में जान डाल दी है, उसमें अद्भुत शक्ति आ गई है। हमें गुलेरी जी की आदर्श कहानी-कला के यहाँ दर्शन होते हैं—"जब चलने लगे तब सूबेदार जनाने में से निकल कर आया, बोला—लहनासिंह, सूबेदारनी तुमको जानती है, बुलाती है, जा मिल आ। लहनासिंह भीतर पहुँचा। सूबेदारनी मुझे जानती है? कब से रेजिमेंट के क्वार्टरों में कभी सूबेदार के घर के लोग रहे नहीं। दरवाजे पर जा कर 'मत्था टेकना' कहा। आसीस सुनी।

लहनासिंह चुप।

"मुझे पहचाना।

"नहीं २"

"तेरी कुड़माई हो गई धत् कल हो गई देखते नहीं रेशमी बूटों वाला सालू-अमृतसर में—"

गुलेरी जी ने कहानी का प्रभाव ऐक्य बड़ी सतर्कता से निभाया है। घटनाओं की जोड़ी और गठन जैसी गुलेरी जी की 'उसने कहा था' में देखने को मिलती है, जैसी हिन्दी की और किसी कहानी में नहीं। लहनासिंह अतीत की सुनहली स्मृतियों को लेकर अपने जीवन के पथ पर आगे बढ़ता रहता है। कालान्तर में तेरी कुड़माई हो गई' को सुनकर उसे अपने जीवन में प्रेरणा मिलाती है। इसके लिए लेखक ने पीछे धीरे से मानो कहानी की उच्चता, त्यागपूर्ण आदर्श का क्रियात्मक रूप, उस साधारण लहनासिंह को झलका कर पाठकों के हृदय को सुकुमार ही सामान्यभाव भूमि से एक उच्च स्तर की ओर मोड़ दिया। वहाँ पहुँच कर हमें करुण रस से लथपथ हो जाना पड़ता है। ध्यान रहे युद्ध के दृश्य का एक और भी महत्व है। इस घटना के द्वारा ही लेखक ने लहनासिंह, हजारासिंह के साथ न हो तो शायद लहनासिंह को उस अबोध बालिका की याद ही बनी रह जाती, परन्तु कुशल कलाकार ने इन समस्त घटनाओं को एक धागे में ऐसा बाँध दिया है कि वे हमें अत्यन्त सुन्दर, स्वाभाविक और सत्य मालूम देती हैं।

'उसने कहा था' चरित्र प्रधान कहानी है। लेखक ने जमादार लहनासिंह का चरित्र बड़ी ही सावधानी और खूबी के साथ किया है। वह एक आदर्श रूप लेकर हमारे सामने आता है। वह निःस्वार्थी है, देश प्रेम और लोककल्याणकारी भावना उसमें कूट कूट कर भरी हुई है। त्याग, बलिदान का जो अंश है वह मानव के भेदभाव को मिटाकर उसे मानवता की उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित करता है। कहानी के नायक और नायिका का पारस्परिक परिचय और मिलन लेखक ने बहुत थोड़े शब्दों में करा देना है। दूसरे-तीसरे दिन सब्जी वाले अथवा दूध वाले के यहाँ सड़क पर चलती हुई मोटर गाड़ियों की अत्यधिक भीड़ से अपने आपको बचाते हुए वे मिल जाते हैं। टाँगे के नीचे स्वयं आकर बालिका की रक्षा करता। लहनासिंह एक ऐसा पात्र है जिसके लिए मृत्यु का कोई महत्व नहीं, प्राणों की कोई परवाह नहीं। वह मर जाना चाहता है, लेकिन एक ऐसे आदर्श के लिए जिससे कि वह सूबेदारनी के शब्दों का पालन कर सके। इससे अधिक सुन्दर मृत्यु लहनासिंह के लिए क्या हो सकती है कि वह एक उच्च आदर्श की रक्षा के लिए प्राणों का परित्याग कर दे। मानव जीवन में ऐसी सुखद मृत्यु विशेष महत्व रखती है। लहनासिंह के चरित्र का वह विशेष पक्ष निखर कर हमारे सामने आता है'—भइया, मुझे और ऊँचा कर ले। अपने पट्ट पर मेरा सिर रख ले।'

वजीरा ने वैसा ही किया।

हाँ अब ठीक है। पानी पिला दे। बस। अब के हाड़ में यह आम खूब फलेगा। चाचा भतीजा दोनों यहाँ बैठ कर आम खाना। जितना बड़ा तेरा भतीजा है उतना ही यह आम है। जिस महीने उसका जन्म

हुआ था उसी महीने में मैने इसे लगाया था ।"

लहनासिंह, सूबेदार, हजारीसिंह और बीमार बोधासिंह की रक्षा कर सूबेदारजी के बचन का पालन करता है। स्वय अपनी मृत्यु स्वीकार करता है। कहानी की असाधारण सफलता का कारण लहनासिंह का अपूर्व आत्म त्याग और बलिदान है।

गुलेरीजी की प्रमुख विशेषता यह है कि एक शब्द भी अनावश्यक नहीं है। शब्दावली से एक ऐसी सुमधुर रागिनी निकलती है जो हमारे हृदय को गुदगुदाने के साथ ही साथ एक प्रकार का रागात्मक सम्बन्ध भी स्थापित करती है। 'उसने कहा था' में उनकी व्यजना मजी हुई परिष्कृत भाषा है। भाषा स्पष्ट, सरस एवं व्यावहारिक है। वाक्य विन्यास आकर्षक, गठित और मुहावरेदार है। मुहावरे गुलेरीजी को विशेष प्रिय हैं और व्यग्य लिखने में भी वे पूर्ण पटु हैं। लहनासिंह हँसकर बोला— क्यों लपटन साहब ? मिजाज कैसा है ? आज मैंने बहुत सी बातें सीखीं। यह सीखा कि सिख सिगरेट पीते हैं। यह सीखा कि जगाधरी जिले में नीलगायें होती हैं। और उनके दो फुट चार इच के सींग होते हैं। यह सीखा कि मुसलमान खानसामा मूर्तियों पर जल चढ़ाते हैं और लपटन साहब खोते पर चढ़ते हैं।" छोटे छोटे वाक्यों का प्रयोग किया है। उर्दू, अँग्रेजी प्रान्तीय शब्द भी आ गए हैं जैसे—अमालू, झग्का, उदमी, बूटे, होरॉं, बरानकोट, कम्पनी, खोते, मौन, गौट, डैम, इत्यादि।

इस कहानी में लेखक ने साधारण वस्तुओं को साधारण रूप से वर्णित किया है। वर्णन इतना स्वाभाविक और रोचक है कि हमारा ध्यान कहानी से हटता ही नहीं। कहानी आद्यान्त सरस और स्वाभाविक रूप से हृदय को स्पर्श करती हुई समाप्त हो जाती है।

(शेष पृष्ठ ६२ का)

वह विरह वेदना से इतनी व्याकुल हो जाती है कि कृष्ण पर भी सदेह करने लगती है। वह अपनी सखी से कहती है कि अब वे (कृष्ण) हमारे किस काम आवेंगे ?

"पल पल अति फीके हो रहे हैं सितारे ।
वह सफल न मेरी कामनाएँ करेंगे।"

इस प्रकार जहाँ श्री राधा लोक-सेवी, और उदार रूप को लेकर आती वहीं दूसरी ओर वह मोह मग्ना, प्रेयसी, कोमल-हृदया और वियोगाग्नि से व्यथित नारी के रूप में भी आती है। वह स्वय अपनी इस प्रेम-जन्य दुर्बलता को स्वीकार करती हैं—

"निर्लिप्त हूँ अधिकतर मैं नित्यश सयता हूँ।
तो भी होती अति व्यथित हूँ श्याम की याद आती।'

इस प्रकार 'प्रिय प्रवासी' की वन सामग्री प्रेम की दुर्बलता ही है। इसी वातावरण में यह विकसित हुआ है। कुल मिलाकर तीन नारी-चित्र हमारे सामने आते हैं—स्नेहमयी माँ यशोदा का, प्रेयसी राधा का और बावरी गोपिकाओं का। इनमें से पहले दो चित्र ही अधिक महत्वपूर्ण हैं। इन चित्रों की रेखाएँ यद्यपि भिन्न भिन्न रूपों म आई हैं, फिर भी इनको रगने व सँवारने में जिस रग रस का प्रयोग किया गया है वह सामान्यत, एक ही है— और वह है—"वियोग"

(शेष पृष्ठ ७१ का)

"मेरा ताप और तप उनका जलती है वह जठर यही।"

गुप्त जी ने प्रकृति का आलम्बन मानकर भी सुदर चित्र खींचे हैं -

"चारु चन्द्र की चचल किरणें खेल रही थीं जल थल में
स्वच्छ चादनी बिछी हुई थी अवनि और अम्बरतल में"

सक्षेप में गुप्त जी का काव्य राष्ट्र प्रेम, विश्व बन्धुत्व और आस्तिकता से अनुप्राणित है। वे प्राचीन सभ्यता और सस्कृति से अत्यन्त प्रभावित हैं। "उनका समस्त काव्य जीवन और जगत की परिभाषा के रूप में व्यक्त हुआ है। प्राचीन खण्डहरों की महत्व पूर्ण सामग्री लेकर उन्होंने जीर्णोद्धार ही नहीं किया, वरन् मूर्तियों को जोड़ तोड़कर उन्होंने उसमें नया रग भी भर दिया है," राजेन्द्रसिंह गौड़। उपर्युक्त गुणों के कारण गुप्त जी का काव्य-युगों-युगों तक मानव मात्र का कण्ठ हार बना रहेगा।

संपादकीय

'सरस्वती संवाद' आज अपने जीवन के चार वर्ष पूरे करके पाँचवें वर्ष म प्रवेश कर रहा है। इस शुभ अवसर पर हम अपने सहयोगी लेखकों एवं सहृदय पाठकों का अभिनन्दन करते हैं। साथ ही उनके कृपा पूर्ण सहयोग के लिए आभार प्रकट करते हैं। हमें पूर्ण विश्वास है कि भविष्य में भी उनका सहयोग हमको इसी प्रकार प्राप्त होता रहेगा।

इधर कुछ दिनों से फिर हिन्दी की चर्चा सुनाई द रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दी म साहित्य के निर्माण का कार्य कम होता है, उसके राज्य भाषा पद के प्रति विरोध अधिक प्रकट किया जाता है। लोग हिन्दी भाषा भाषियों को 'हिन्दी वाले' करके सम्बोधित करते हैं और इस प्रकार की बातें कहते हैं कि 'हिन्दी वालों' को यह करना चाहिए, हिन्दी वालों को वह करना चाहिए, वे हमको अमुक अमुक आश्वासन दें, वे अमुक त्याग करें इत्यादि।"

इस सम्बन्ध म हमारा निवेदन है कि आज हिन्दी केवल हिन्दी भाषा भाषियों की ही नहीं अपितु देश के समस्त निवासियों की भाषा है। उसके ऊपर सबका समान अधिकार है और उसके प्रति सबके समान कर्त्तव्य हैं। फिर यह हिन्दी वाले और गैर हिन्दी वाले का भेद क्योंकर है।

हिन्दी भाषा भाषी लोगों ने हिन्दी की उन्नति के लिए अपना मूलसर्वसीता एक किया है और आगे भी करेंगे। हिन्दी चाहे राज्य की भाषा रहे अथवा नहीं रहे। दसवीं शताब्दी स लेकर आज तक पूरे, हजार वर्षों तक, हिन्दी निरन्तर उन्नति करती रही है, उसका साहित्य अबाध गति से विकासमान रहा है। जो लोग ये समझते हैं कि हिन्दी का भविष्य उनके कृपा-कटाक्ष पर निर्भर है, हमारे विचार से वे लोग भ्रम में हैं अथवा कानों से देखने का प्रयास करते हैं। हिन्दी को राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करके सरकार ने हिन्दी भाषा भाषियों के ऊपर कोई किसी प्रकार का एहसान नहीं किया है। हिन्दी सर्वाधिक प्रचलित, लोकप्रिय एवं सुबोध है। अतः राजभाषा-पद पर प्रतिष्ठित कर दी गई है।

हमारे विचार से हिन्दी के अधिकांश विरोधी अभी भी हीनता भावना स ग्रसित हैं। वे अभी भी अंग्रेज और अंग्रेजों के मानसिक दास बने हुए हैं। यदि ऐसा नहीं है और वे सचमुच यह चाहते हैं कि हिन्दी राज्य भाषा न बने, तो हमारा उनसे विनम्र निवेदन है कि व खुलकर कहें कि वे क्या चाहते हैं। उन्हें चाहिए कि कोई ठोस सुझाव दें ताकि हिन्दी को हटाकर अन्य भाषा को प्रतिष्ठित किया जा सके। केवल विरोध करके तो हम अपना और अपने देश का अहित कर रहे हैं। हमारा बहुमूल्य समय केवल वाद विवाद म ही नष्ट किया जा रहा है। इसे हम अनुचित समझते हैं।

हिन्दी विरोधियों के दो मत हो सकते हैं। यथा —(१) अंग्रेजी ही राज्य भाषा हो वह जहाँ की तहाँ बनी रहे। हमारा निवेदन है कि वे हिन्दी का विरोध करने की बजाय अंग्रेजी के पक्ष के मण्डन म अपनी शक्तियों का सदुपयोग करें। तथा (२) देश की कोई अन्य भाषा हिन्दी के स्थान पर प्रतिष्ठित की जाए। उनसे भी हमारा यही निवेदन है कि वे भी अपना पक्ष तैयार करें। वे बतायें कि हिन्दी के मार्ग में आने वाली कठिनाइयाँ उस अन्य भाषा के मार्ग म नहीं आएँगी। उस भाषा के बोलने वाले लोग क्या-क्या त्याग करने को तैयार होंगे, तथा उस भाषा में विज्ञान आदि म सम्बन्धित कितने लाख पारिभाषिक शब्द तैयार हैं—आदि।

हमारा यह निश्चित मत है कि राज्य भाषा का विरोध करना, यदि देशद्रोह नहीं, तो कम से कम देश प्रेम की कोटि में तो नहीं आता है। विरोध केवल सस्ती लोकप्रियता के लिए किया जाता है 'हिन्दी वाले' शब्दों का प्रयोग एक नैतिक अपराध है। हमारा सरकार स निवेदन है कि वह इस प्रकार का स्पष्ट घोषणा करदे कि हिन्दी हमारे देश और राज्य की भाषा है, वह हमारे राष्ट्रीय गौरव की प्रतीक है। अतः प्रत्येक देशवासी का कर्त्तव्य है कि वह उसके प्रति सम्यक् आदरभाव प्रदर्शित करे।

हिन्दी में तार और हिन्दी की दुर्गति

हम अन्यत्र निवेदन कर चुके हैं कि सरकारी कर्मचारी एवं अधिकारी ही हिन्दी के प्रचार में सबसे बड़े रोड़ा हैं। वे नहीं चाहते कि हिन्दी का प्रसार एवं प्रचार हो। कहीं ऐसा न हो कि उन्हें भी वही बोली बोलनी और लिखनी पड़े जो उनके चपरासी अथवा उनके पड़ोसी समझ सकते हों, कहीं ऐसा न हो कि उन्हें अंग्रेजी की जगह हिन्दी के चार-छः नये शब्द सीखने के लिए कोशिश करनी पड़े। वस, वे ही बातें उनके मस्तिष्क में घूमती रहती हैं और वे हिन्दी के मार्ग में भांति-भांति की बाधाएं उपस्थित करते रहते हैं।

उदाहरण के लिए हम हिन्दी में दिए गए एक तार की करुण-कहानी नीचे प्रस्तुत करते हैं :—

४, जून सन् १९५६ ई० को नई दिल्ली से एक तार दिया गया—निहालसिंह, फैनिट लौज कैमुल्सबैक, मंसूरी

पांच को पहुँचेंगे।

प्रतापनरायण,

इस तार के पीछे बाबू लोगों ने अंग्रेजी में यह चिट चिपकाई—

: New Delhi D N note

(Hindi R/L N S/4)

Hindi O/K/4 Nihal Singh Thanet Lodge ete.

उक्त तार के लिफाफे पर लिखा गया—

Hindi-1

4/6/56

Nihal Singh

Sanet Lodge

—x— ete.

Try Thanet Lodge.

यह तार—तारघर में ४ ता० को प्राप्त हुआ था और सम्बन्धित महानुभाव को ८ तारीख को प्राप्त हुआ। कारण स्पष्ट है कि थैनेट लौज को फैनेट और सौनेट लौज बनाया गया तथा जान-बूझकर ४ दिन घुमाने की कोशिश की गई। यदि नहीं, तो तारघर वाले खेद-प्रकाशन के अतिरिक्त इस विलम्ब का कोई संतोषजनक उत्तर देने की कृपा करें।

हिन्दी देश की भी भाषा है और राज भाषा भी है। इसको न जानने वाले लोग राष्ट्र की सेवा किस प्रकार कर सकेंगे? पूछने पर हमें प्रायः इसी प्रकार का उत्तर मिला था कि हिन्दी के तारों में गड़गड़ हो जाती है। हमें आशा है कि हमारे उच्च अधिकारी इस ओर गम्भीरतापूर्वक विचार करेंगे। प्रतापनरायण हिन्दी में तार देकर सचमुच पश्चाताप कर रहे हैं।

विनीत—

"राष्ट्र भाषा प्रेमी"

बाबू गुलाबराय अंक की विषय सूची

इस अंक का मूल्य डेढ़ रुपया है । पेशगी भेज कर प्रति मंगवालें ।

पता :—सरस्वती संवाद कार्यालय मोती कटरा, आगरा ।

हमारे आगामी अंकों के आकर्षण

- रस सिद्धान्त
- भक्ति कालीन आध्यात्मिक काव्य की विशेषताएँ
- सूर की भाषा
- केशव दास का काव्य
- महाकवि बिहारी का काव्य सौष्ठव
- गीतावली एक समीक्षा

- दिनकर का रश्मिरथी
- कामायनी की मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक भाव भूमि
- पन्तजी का काव्य सौष्ठव
- प्राच्य और प्रतीच्य का अद्भुत समन्वयकार 'प्रसाद'
- शकुन्तला नाटक में नैतिकता ?
- चन्द्रावली नाटिका का वस्तु संगठन

- भाषा और अक्षरों की जन्म कथा
- लोक गीतों में करुण वातावरण
- प्रगतिवाद का स्वरूप
- वत्सराज की समस्या और उसका
- शेखर एक जीवनी समीक्षा
- उपन्यास : "चाणक्य" का ऐतिहासिक महत्व
- गोदान का रचना विधान

सरस्वती संवाद के नियम

—सरस्वती संवाद मासिक पत्र है। अंग्रेजी महीने की १ तारीख को प्रकाशित होता है।

—सरस्वती संवाद का वार्षिक चंदा ४) है ग्राहक किसी भी मास से बनाये जा सकते है। वर्ष अगस्त से प्रारम्भ होता है।

—पत्र व्यवहार करते समय अपनी ग्राहक संख्या व पूरा पता लिखना आवश्यक है।

—नियमानुसार नमूने की प्रति के लिये आठ आना पेशगी आना आवश्यक है।

—महीने की १२ तारीख तक अंक न मिलने पर स्थानीय पोस्ट आफिस से पूछताछ करें, उसके बाद पोस्ट आफिस से प्राप्त उत्तर कार्यालय को भेजें। उत्तर के लिये जवाबी कार्ड अवश्य भेजें।

—प्रत्येक वर्ष नवम्बर का अंक "विशेषांक" होगा, वह वार्षिक चंदा में ही दिया जाता है।

—स्तरीय लेखों पर यथा योग्य पुरस्कार दिया जाता है।

रचनायें वे ही भेजी जायँ जो अन्यत्र प्रकाशित न हुई हों और सरस्वती संवाद के लिये ही लिखी गई हों।

१०. रचनाओं पर प्रकाशक का पूर्ण अधिकार होगा।

केवल मुख पृष्ठ रायल फाइन आर्ट प्रेस, सेठगली, आगरा में छपा।

वार्षिक मूल्य ४)
इस प्रति का ।=)

सरस्वती संवाद के सम्बन्ध में विद्वानों की सम्मति

१—पत्रिका को प्रतिष्ठित लेखकों का सहयोग प्राप्त है प्राय सभी लेख साहित्यिक और सुरुचि पूर्ण हैं।
प्रो० गुलाबराय एम० ए०, सम्पादक—साहित्य संदेश, आगरा।

२—सरस्वती संवाद की प्रकाशित योजना मुझे बहुत सुन्दर व अच्छी लगी। मैं इसकी उन्नति चाहता हूं।
डा० रामकुमार वर्मा, हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्व विद्यालय, प्रयाग।

३—लेखों का चयन और उनका स्तर सर्वथा विद्यार्थियों के अनुकूल है। सबसे अच्छी बात यह कि इसमें अनावश्यक सामग्री का समावेश नहीं किया गया। निस्सन्देह हिन्दी के विद्यार्थियों के लिए यह पत्र उपयोगी सिद्ध होगा।
प्रो० पद्मसिंह शर्मा "कमलेश" आगरा कालेज।

इस अंक के लेख

सरस्वती संवाद के नियम

१—सरस्वती संवाद मासिक पत्र है। अंग्रेजी महीने की १ तारीख को प्रकाशित होता है।

२—सरस्वती संवाद का वार्षिक चंदा ४) है ग्राहक किसी भी मास से बनाये जा सकते हैं। वर्ष अगस्त से प्रारम्भ होता है।

३—पत्र व्यवहार करते समय अपना ग्राहक संख्या व पूरा पता लिखना आवश्यक है

४—नियमानुसार नमूने की प्रति के लिये आठ आना पेशगी आना आवश्यक है।

५—महीने की १२ तारीख तक अंक न मिलने पर स्थानीय पोस्ट आफिस से पूछताछ करें, उसके बाद पोस्ट आफिस से प्राप्त उत्तर कार्यालय को भेजें। उत्तर के लिए जवाबी कार्ड अवश्य भेजें।

६—प्रत्येक वर्ष जनवरी का अंक "विशेषांक" होगा, यह वार्षिक चंदा में ही दिया जायगा।

७—स्तरीय लेखों पर यथा योग्य पुरस्कार दिया जाता है।

८—रचनायें वे ही भेजी जायें जो अन्यत्र प्रकाशित न हुई हों और सरस्वती संवाद के लिये ही लिखी गई हों। प्रकाशित रचनाओं पर प्रकाशक का पूर्ण अधिकार होगा।

वर्ष ५] आगरा, सितम्बर १९५६ [अङ्क २

विशेष लेख :—

साहित्य में सार्वभौमिकता

ले०—श्रीरामप्रसाद एम० ए०]

एक देशीय साहित्य—

साहित्य और जीवन का स्वभाव सिद्ध सम्बन्ध मङ्गलमय माना गया है। जिस प्रकार योरुपीय वातावरण में नवजागरण के उपरान्त समाज में सात्विक भावनाओं के प्रस्फुरण के साथ नवजीवन का अभ्युदय हुआ और साहित्य को जीवन से सम्बद्ध करने के विचार उठे, साहित्य कितने राजनीतिक प्रयोगों के संघटनों का कारण बनने लगा, उसी प्रकार भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति के अनन्तर हम साहित्य और जीवन के इसी मङ्गलमय सम्बन्ध की कामना कर रहे थे। किन्तु परतन्त्रता की बेड़ी के परिच्छिन्न होने के पश्चात् आज के स्वतन्त्र मङ्गलमय वातावरण में भी साहित्य-सर्जना का जिस जाग्रत चेतना का समुद्भव होना चाहिए, उसका प्रादुर्भाव और विकास नहीं हो रहा है और यद्यपि साहित्यकार जन हित की चर्चा करते हैं। सार्वजनीनता को उपस्थित करना श्रेयस्कर समझते हैं, पर साहित्य के अन्तर्गत इन सभी भावनाओं का समुचित रुचि गाम्भीर्य के साथ नहीं करते। इसके कारण पर विचार करने से विदित होता है कि सिद्धान्त रूप में लोक जीवन से सान्निध्य प्राप्त करना स्वीकार करते हुए भी लेखक उससे सर्वथा विरक्त रहते हैं। कुछ विद्वान साहित्य को राजनीतिक प्रयोगों का साधन मान व्यक्तिगत विचारों पर बल देते और उनकी अभिव्यक्ति में अपनी कृति का अन्त और इति कर्त्तव्यता मान लेते हैं। इस प्रकार साहित्य में सार्वभौमिक सिद्धान्तों की चर्चा नहीं हो पाती और वह एकदेशीय, संकीर्ण वैयक्तिक और विवादों का एक समन्वय बनता जा रहा है।

सार्वभौमिकता का स्वरूप—

सर्वभूमि से सार्वभौम बना है जिसका अर्थ है सर्वभूमि से सम्बन्ध रखने वाला। अस्तु, वह साहित्य जिसमें शान्तिप्रद, संसार के सभी लोगों के हित और जीवन के सर्वाङ्गीण विकास के उच्चतम दर्शन हों और जो देशकाल, भौगोलिक परिस्थितियों से पृथक् समष्टिगत विचारों को

लेकर रचा गया हो, जिसमें मनस्तत्व के विश्लेषण अधिक हों जो वस्तु परख न होकर आत्म परख आधक हो तथा जो प्रकृति की गोद में पले मानव को सन्तोष और आनन्द दे सके, वही साहित्य सार्वभौम होगा। और उसी साहित्य में उत्तर कला के दर्शन होंगे। कहा जाता है कि जीवन की सुखमय परिस्थितियों में कला का उद्भव होता है पर जीवन की दुखमय और कठिन परिस्थितियों में भी कला का उद्भव होता है। इस कला कृति साहित्य—का आधार क्या है? जीवन और जगत ही न! और ये सृष्टि की परम्परा बनाये रखने ही के लिये हैं न! जीवन क्या है और किस लिये है? जीवन का उद्भव आनन्द से है आनन्द ही जीवन है और आनन्द ही जीवन का अवसान भी है। तब तो आनन्द वादी साहित्य ही सार्वभौम होगा। निस्सन्देह जिस साहित्य से आनन्द की उपलब्धि नहीं उसमें सार्वभौमिकता कहाँ! पर वह आनन्द स्वस्थ आनन्द हो लोकोत्तर हो।

अब इस लोकोत्तर आनन्द और सद्साहित्य के स्वरूप को भी समझ लेना आवश्यक है। साहित्य क्या है? मनुष्य को वाणी का जो वरदान प्राप्त है उसके फलस्वरूप आदिकाल से वह अपने हृदयस्थ प्रेम, स्नेह, जिज्ञासा क्रोध, घृणा आदि प्रवृत्तियों तथा अन्य मनोविकारों को व्यक्त करता आ रहा है। इस अभिव्यक्ति में उसकी सौंदर्य प्रियता की भावना ने भी काम किया है। मानव द्वारा उपर्युक्त प्रवृत्तियों से प्रेरित ज्ञानकोष का सृजन और सचय ही तो साहित्य है। मन की ये प्रवृत्तियाँ सब जगत में समान हैं। अतएव मानव मात्र को और उसके हित को ध्यान में रखकर इन प्रवृत्तियों से प्रेरित मनोविकारों की अभिव्यक्ति म साहित्यकार को अनुपम तुष्टि और अभूतपूर्व आनन्द प्राप्त होगा। विशेष वातावरण अथवा भौगोलिक परिस्थिति के कारण जब उसका दृष्टिकोण एक देशीय होगा तो उस दशा में कलाकार की कृति से व्यापकता जाती रहेगी। लावा पक्षी के सौन्दर्य से आकर्षित कलाकार के प्रकृति वर्णन में देश विशेष को सार्वजनीनता के दर्शन होंगे पर सार्वभौमिकता के नहीं। पर्पर्वत, निर्झर सर सरिता उपत्यका, वनवाटिका के सौन्दर्य से अभिभूत उसी लेखक का प्रकृति वर्णन सार्वभौम होगा। सार्वजनीन और सार्वभौम है तो एक अर्थ के द्योतक पर, मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों में अन्तर है। वह साहित्य जिसमें आर्य जाति के विवरण पर्याप्त हैं आर्य देश के लिये सार्वजनीन होगा पर आर्येतर के लिये नहीं। वस्तुत सब देश के सब जन का साहित्य सार्वभौम होगा।

यह विदित है कि किसी साहित्य पर भौगोलिक परिस्थिति, सामाजिक वातावरण और ऐतिहासिक परम्परा का प्रभाव अवश्य पड़ता है। इस प्रभाव के होते हुए भी वह साहित्य लोक जीवन के निकट सर्वजनहिताय होता है। क्या ऐसे साहित्य में भी सार्वभौमिकता नहीं और क्या उपयुक्त प्रभावों से मुक्त साहित्य को सार्वभौम कहेंगे। बात यह है कि सार्वभौम साहित्य सार्वजनीन होगा, पर सार्वजनीन को सार्वभौमिकता के स्तर तक पहुँचाने में दृष्टिकोण को थोड़ा और व्यापक बनाना पड़ेगा। धर्म प्राण भारतीय जनता के साहित्य की आधार शिला धार्मिक भावनायें ही है। किसी भौतिकवादी राष्ट्र में सम्मत है उसे मान्यता न प्राप्त हो। इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि सार्वभौमिकता में बाधायें भी हैं।

साहित्य की सार्वभौमिकता म बाधायें—

किसी साहित्य के सार्वभौमिक होने में प्राथमिक बाधा है कि साहित्य अर्थ मूल्य पर रचा जाता है। जहाँ साहित्य रूपी भव्य भवन का निर्माण आर्थिक मूल्य पर हो वहाँ के इस पुनीत-

कार्य को वारयनिताओं से भी घृणास्पद काय समझना चाहिए। आज यही हो रहा है। युगा से परचशता के जुऐ से दबी मानवता कुप्रवृत्तियों का शिकार हो चली है। मानव के रुचि परिष्कार की चिन्ता न करके साहित्यकार जिनमे नेतृत्व की क्षमता नहीं, अथ लोभ में ऐसे साहित्य का सृजन करते हैं जिन से लोक रुचि का संस्कार होना तो दूर रहा मानव की अस्वस्थ प्रवृत्तियाँ और साकार हो जाती हैं। मजा यह कि इन भीषण परिस्थितियों भी मे कामुकता का बढाने वाले साहित्य की रचना करके हमारे कतिपय साहित्यिक महारथी सिद्धान्त प्रसार का दम भरते हैं।

साहित्य की सार्वभामिकता मे दूसरी बाधा है राजनीति के प्रसारहित साहित्य सृजन। परिवर्तनशील राजनीति का अचल पकड़कर चलने वाली विभिन्न पार्टियाँ अपनी अपनी सरणि से यद्यपि लोक कल्याण ही करना चाहती हैं पर सबका ध्येय सत्ता प्राप्ति रहता है। इस प्रकार प्रगतिशील साहित्य की रचना के दम्भ मे सत्साहित्य सृजन करने का प्रयत्न करते हुए भी इस चचला राजनीति का पल्ला पकडने वाला साहित्यकार उसके चपेट मे आ ही जाता है। फिर तो न मार्क्सवादी साहित्य समाजवादी को और न समाजवादी का साहित्य साम्यवादी को हितकर प्रतीत होगा। ऐसी दशा मे साहित्य से सार्वभौमिकता जाती रहेगी।

तीसरी बाधा है वैयक्तिकता का प्रलोभन। हम किसी सवमान्य सिद्धान्त को ख्याति लोभ मे आकर तोड देना चाहते हैं। अपने व्यक्तिगत विचार दूसरों पर लादना चाहते हैं और जो कुछ मन मे आया उसे व्यक्त करते हैं। ठीक है, मन मे जो बात उत्पन्न हो उसे कहना और करना तथा व्यक्त करना चाहिए। पर मन की परिभाषा और मन का स्तर भी तो कुछ हो। आज के साहित्य मे व्यक्तिगत भावनाओं का भी प्राचुर्य है। ऐसे साहित्य मे भी सार्वभौमिकता नहा।

साहित्यकार का कर्त्तव्य—

जब तक साहित्यिक धारा को स्वच्छन्द प्रवाह न प्राप्त हो तब तक वह साहित्य सजीव और सार्वभौम नहीं हो सकता। साहित्य का आदर्शवादी होना आवश्यक है और युग की विभिन्न स्थिति मे ये आवश्यकतायें भी विभिन्न रूप मे समाज के समक्ष आती हैं। फिर भी समस्त देश का वह साहित्य जिस मे व्यक्त भावनायें मानव जीवन को गति देने वाली उससे सघर्ष को मिटा कर उसका कल्याण करने वाली तथा जिसमें वे सभी क्रियाये जो मानव की मूल प्रवृति का पोषण और प्रवर्द्धन कर सकें मानवतावादी होगीं और इसी मानवतावादी साहित्य में सार्वभौमिकता होगी। साहित्य के सर्वतोमुखी विकास का यह प्रयत्न ही श्लाघ्य और शाश्वत भावना का नियमन करने वाला होगा। साहित्यकारों को इधर ही प्रवृत्त होना है।

भाषा की उत्पत्ति एवं विकास

[श्री कैलाशचन्द्र वार्ष्णेय एम० ए०]

भाषा का मानव के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। मनुष्य का विकास भाषा के सहारे ही होता है। अतः यह जानने के लिए उत्सुक होना कि भाषा की उत्पत्ति किस प्रकार हुई। किस प्रकार प्रारंभ में बोलना शुरू हुआ। इस सम्बन्ध में भाषा विज्ञान वेत्ताओं के भिन्न-भिन्न मत हैं।

(१ दिव्य उत्पत्ति :—सबसे प्रथम सिद्धान्त यह है कि भाषा ईश्वर की बनाई हुई है उसने मनुष्यों को सिखाया गया है। मनुष्यों की सृष्टि के साथ ही साथ एकाएक दैवी शक्ति के द्वारा एक विचित्र ढंग से पूर्ण रूप से निष्पन्न भाषा की सृष्टि संसार में हुई। लोगों का कहना है कि ईश्वर ने मानव सृष्टि को रचा भाषा को भी ईश्वर ने बनाया है। विभिन्न मत वाले जो धातुओं द्वारा भाषा का निर्माण किया। इसी मत के अनुसार हिन्दू-धर्म के अनुयायी संस्कृत को देव-भाषा, बौद्ध मत वाले पाली, ईसाई हिब्रू भाषा आदि को मानते हैं।

परन्तु आज के युग में यह सिद्धान्त असत्य मान लिया गया है। इसी मत की पुष्टि के लिए मिश्र के एक राजा सेमेटिक्स ने दो तत्काल पैदा हुए, बच्चों को अन्य मनुष्यों से दूर रखा। जब वे बड़े हुए थे तो उनके मुख से केवल एक शब्द 'बेकोस' निकला। जो फ्रिजियन है और जिसका अर्थ है रोटी। 'बेकोस' शब्द उसके मुख से निकला वह उसने कभी रोटी लाने वाली गड़रिये से कभी सुन लिया था। ऐसा ही प्रयोग अकबर बादशाह ने भी किया था। इससे स्पष्ट है कि भाषा मानव प्राणी सीख कर पेट से नहीं आता।

दूसरी ओर यदि दिव्य उत्पत्ति मान लिया जाय तो आज भाषा भी धातु लिंग क्रिया आदि में विस्तार एवं भेद क्यों किया गया। जिस प्रकार की उत्पत्ति ईश्वर ने की उसी के अनुसार आज भी होना चाहिए। परन्तु ऐसा है नहीं। क्योंकि बहुत से शब्दों के अर्थ तक भिन्न हो गए हैं। इसके अतिरिक्त भाषा में जो नवीन शब्द बनते जा रहे हैं वह भी अब मनुष्य कृति है ईश्वर प्रदत्त नहीं। इस प्रकार भाषा का ईश्वर प्रदत्त होना युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता। हाँ, इस अर्थ में यह मत सार्थक माना जा सकता है कि भाषा मनुष्य की एक सार्वभौम और विशेष सम्पत्ति है जो अन्य प्राणियों को अप्राप्य है।

(२) सांकेतिक उत्पत्ति :—

सांकेतिक उत्पत्ति :—जब हस्तादि के संकेतों से कार्य न चला तब ध्वनि संकेतों को जन्म दिया गया। क्योंकि प्राचीन सिद्धान्त को न मानकर आदि कालीन मनुष्य समाज ने एकत्रित होकर भिन्न २ विचारों के लिए भिन्न २ शब्दों का व्यवहारार्थ निर्माण किया और आज होते होते ये भाषा ऐसी अवस्था पर आगई हो। इस मत में तथ्य इतना ही है कि शब्द और अर्थ लोकेच्छा का शासन मानता है और शब्द मय भाषा का उद्भव मनुष्यों की उत्पत्ति के कुछ समय उपरांत होता है। पर यह कल्पना कि एकत्रित होकर संकेत बनाए गए हों सर्वथा हास्यास्पद है। इसी का खंडन रूसों ने का अपना समझौते का परिणाम Social contract theory—में किया है।

(३) धातु सिद्धान्त :—मैक्समूलर ने जर्मन विद्वान् प्रो. हेस के अनुसार भाषा के सम्बन्ध में एक नवीन एवं विचित्र मत प्रतिपादित किया है। इसका मत है कि जिस प्रकार घंटा बजने पर जो ध्वनि निकलती है उसी झंकार की सहायता से

भाषा की उत्पत्ति हुई एव धीरे २ भाषा मे वृद्धि हुई। क्योंकि मनुष्य मे एक ऐसी विभाविका शक्ति थी जिसके कारण मनुष्य जब किसी वस्तु को देखता सुनता था उसके मुख से स्वयमेव कोई ध्वनि उसी प्रकार की निकलती थी।

परन्तु मैक्समूलर के इस सिद्धान्त का भी खंडन किया गया है। आदि मनुष्यों मे विचारों को स्वभावत वर्णात्मक स्वरूप देने वाला शक्ति थी, बिना किसी प्रमाण के कल्पना करना ऐसा ही है जैसा कि 'दैवी शक्ति" की कल्पना।

इसके साथ २ यह भी है कि भाषा और विचार एक साथ ही हमारे मनमे नहीं आते उनमे क्षणमात्र का अतर अवश्य होता है। इसके साथ विचार क्षणिक होने से उनमे भाषा द्वारा कुछ स्थिरता अवश्य हो जाती है। परन्तु ऐसा नहीं है कि कोई विचार तब तक हमारे मन मे नहीं आता जब तक कि उसे प्रकट करने को हमारे पास शब्द न हों।

(४) अनुकरण मूलकतावाद —कुछ विद्वानो ने यह स्पष्ट किया कि मनुष्य ने पशु पक्षियों की बोली सुनकर उसी के अनुकरण पर एक नया शब्द बनाया और इसी प्रकार शब्द बनते गये। यथा —कौवे कॉव कहलाने वाला काक या कौवा बना। इसी प्रकार म्याऊँ, कोयल-कूकू-घुग्घू आदि बने होंगे। यही नहीं हिनहिनाना, भों भों करना भी। परन्तु इस मत को स्थापित करने वाले ये भूल जाते है कि मनुष्य अपने सहधर्मियो एव साथियों का ही अनुकरण करता है और का नहीं। परन्तु इस मत को सर्वत्र त्याज्य नहीं किया जा सकता क्योंकि भाषा मे बहुत से शब्द इस प्रकार बने है। परन्तु पूर्णरूपेण भाषा की उत्पत्ति एव विकास इस पर नहीं हुआ है।

(५) मनोभावाभिव्यजकतावाद —इस सिद्धात के अनुसार विभिन्न अवसरों पर मनुष्य मे घृणा क्रोध शोक प्रसन्नतादि को व्यक्त करती हुई उक्त जनाऐ उठी होंगी और स्वयमेव मुह से शब्द निसृत हुये होंगे। क्योंकि दुख या सुख को प्रकट करने के लिए हम एक प्रकार का विशेष शब्द निकालते है। परन्तु उसके मानने वाले यह नहीं बतलाते कि ये शब्द स्वत्र कैसे हुए। उन्हें वे स्वय भू मान लेते है। डारविन अपने Expression of emotion मे विस्मयादि बोधकों के कुछ शारीरिक Physiological कारण बतलाते है यथा घृणा के समय 'थू' या 'छि' कहता है या 'ओह' निकल जाता है। परन्तु ये शब्द भाषा से अन्तर्गत नहीं आते क्योंकि यह शब्द तभी आते है जब वक्ता बोलना नहीं चाहता या उससे बोलना नहीं हो पाता। वक्ता के मनोभाव इन्द्रियों को इतना अभिभूत कर देते हैं कि वह बोल ही नहीं सकता। द्वितीय वे विस्मयादि बोधक भी प्राय साकेतिक और परम्परा द्वारा प्राप्त होते हैं। भिन्न २ देश या जाति के लोग भिन्न २ प्रकार से इनकी अभिव्यक्ति करते हैं। यथा हम "हाय" २ करते है। दैया २ भी परन्तु अग्रेज नहीं करते। दुख में जर्मन 'ओ' फ्रेंच 'अहि' अग्रेज 'ओह' हिन्दू आह या उह करते है। अत यह स्वाभाविक नहीं हैं। साकेतिक है।

(६) यो हे हो वाद या श्रमपरिहरण मूलकता वाद —शारीरिक परिश्रम मे श्वास-वेग बढ जाता है और यह विश्राम देने वाला होता है। स्वर तत्रियों मे कम्पन होता है, जब लोग काम करते थे तो स्वभावत उस काम का किसी ध्वनि या किन्हीं ध्वनियो के साथ ससर्ग हो जाता था। प्राय वही ध्वनि उस क्रिया या कार्य का वाचक बन जाता है।

(७) विकासवाद —डिंगडेंग वाद को छोड कर उक्त तीन मत अशत सत्य है। स्वरि जैसा वैयाकरण इन तीनों का समन्वय करना अच्छा समझते है वह कहता है कि इस आमिय भाषा मे अनुकरण मूलक मनोभावाभिव्यजक तथा क्रिया के प्रतीक स्वरूप तीनो प्रकार के शब्द होते

थे अत उसने आदिम भाषा को तीन भागों मे बांटा—(१) अनुकरणात्मक (२) मनोभावाभिव्यंजक (३) प्रतीकात्मक ।

(८) अनुकरणमूलक —काव्य कुक्कुर, Cuvoo, Coo Buzz Bing, Pop इस वाद से यह भी सिद्ध हुआ कि "अ", "इ", व "उ" ही मूल स्वर नहीं वरिक "ए" "ओ" भी मूल स्वरों म से है। चीन मे भी बिल्ली को "म्याउ" कहा जाता था।

(६) विस्मयादि बोधक —पुरानी अंग्रेजी मे Feond और आधुनिक अंग्रेजी Find, Pab Frio विस्मयादि बोधक से बने लगते है। अरबी म waif शब्द आपत्ति के लिये और woo शब्द विस्मयादिबोधक आता है। जो शब्द सज्ञावाचक भी है इस प्रकार विस्मयादि बोधक शब्दों का महत्व स्पष्ट है। वस्तुत यह दोनों सिद्धान्त एक दूसरे के पूरक है पहले के अनुसार जड वस्तुओं की ध्वनि-अनुसार होती है। दूसरे मे अपने हर्ष विस्मय की ही सूचक ध्वनियाँ आती है। दोनों का आधार एक है।

(१०) प्रतीकात्मक इनका महत्व अधिक है पथ्य पीने मे सांस ऊपर को खिचती है अत लेटिन मे विवेरू सस्कृत मे पिबति, हिन्दी मे 'पीना' बना। अरबी म शरब, (पना) धातु मे प्रतीक ध्वनि है। हिन्दी का शरबत, या अंग्रेजी Shrbat बना है। उत्तरी अफ्रीका की "मैवॉ" नामक जाति क्रियाओ को सकेतों से प्रकट करती है।

इसी प्रकार आदि मानव अपनी इन्द्रियों की ओर सकेत करता होगा यथा दांत की ओर सकेत करता हुआ अद्, अ, अर, या अट जैसी विकृत ध्वनि कहता होगा और उससे अद्-धातु बनी पर खाना, दांत से खाना आदि बनता गया—

सस्कृत	लेटिन
अद् = खाना	Edere eats

(११) सर्वनाम भी —अंग्रेजी के The, That ग्रीक के To अंग्रेजी Thou हिन्दी मे तू सस्कृत मे त्वम् आदि। यह व वह लिये भी "इ" व उ रेहा होगा। इसी के आधार पर Vowel gootion अक्षरावस्थान का अर्थ समझ मे आ सकता है। Sing, Sang, Song मे अक्षर (स्वर) अर्थ भेद के कारण परिवर्तित हो जाता है ऐसी को अक्षरावस्थान कहते है। प्रतीकवाद ही ऐसका कारण है।

जैसार्मन ने इस बात का रोचक वर्णन किया है कि बच्चे किस प्रकार पापा बाबा, नाना आदि शब्द बोला करते है। इसी प्रकार वे ध्वनियां भाय समस्त ससार के लिये पा की प्रतीक बन जाती है।

कभी कभी यह प्रतीक रचना धुंधली हो जाती है पर प्राय शब्द व अर्थ के सम्बध के मूल मे प्रतीक भावना अवश्य रहती है जो शब्द समाज के लिये उपयोगी रहते हैं, स्थायी रह जाते हैं, अन्य नष्ट हो जाते है।

(१२) औपचारिक शब्द —कुछ शब्दों का समाधान इन तीनों सिद्धान्तों से नहीं होता इनकी उत्पत्ति का कारण उपचार समझा जाता है। जो जाति जितनी सभ्य समझी जाती है उसके शब्द उतने ही औपचारिक समझे जाते है। उपचार का अर्थ है ज्ञात के द्वारा अज्ञात की व्याख्या करना किसी ध्वनि के मुख्य अर्थ के सिवा उस ध्वनि के सकेत से एक अन्य अर्थ का बोध कराना।

आस्ट्रेलिया मे पुस्तक के पहिले पूयुम कहा कहा गया। पूयुम कहते ही वहाँ स्नायु को, पुस्तक भी उसी प्रकार खुलती है पप्प (pipe) शब्द (यह गडरिये) का बाना विशेष के अर्थ म आता था अब नल हो गया। Peculiar, भी। पशु बांधना, फांसना पास उपचार से पशु हो गया। लेटिन में pecus बना जिसका अर्थ हो

(शेष पृष्ठ १० पर)

समन्वयवादी कबीर ?

[डा० शम्भुनाथ पाण्डेय एम ए, पी एच० डी]

महान् व्यक्तित्व सदैव रहस्यपूर्ण होते हैं क्योंकि मनोभावों और अनुभूतियों की जिस उच्च भूमि पर वे विचरण करते हैं वहां तक हम सामान्य कोटि के मनुष्य नहीं पहुँच पाते और न उनके व्यक्तित्व का निर्माण करने वाले तत्वों का हम सम्यक् विश्लेपण तथा मूल्यांकन ही कर पाते हैं। मध्यकालीन संत परम्परा में कबीर का ऐसा ही रहस्यमय किन्तु प्रतिभाशाली व्यक्तित्व था जिसका उचित अनुशीलन आज के बुद्धिवादी युग में नहीं हो सका है। कबीर के विषय में हम निम्नांकित परस्पर विरोधी मत पाते हैं —

१—कबीर मौज के गायक थे। 'मसिकागद' को उन्होंने हाथ से नहीं छूआ था अत किसी भी शास्त्रीय और सुव्यवस्थित विचारधारा के वे कायल नहीं थे। जब जो बात उनकी सत्यान्वेपिणी आत्मा को स्वीकार हो जाती थी तब उसे वे अपनी अटपटी वाणी के द्वारा व्यक्त कर देते थे अत उनको इस्लामी एकेश्वरवादी, वेदान्ती अद्वैतवादी वैष्णव विशिष्टाद्वैतवादी, योग, साधनवादी सहजवादी, सूफी प्रणयवादी कुछ भी नहीं कहा जा सकता। वे सब कुछ होते हुए भी उनमें से किसी एक विचारधारा के कट्टर अनुयायी नहीं थे। अतएव हम उनको रहस्यवादी क्यों न मान लें।

२—*कबीर समन्वयवादी थे।* समन्वय का अर्थ है विरोधपरिहार। विभिन्न परस्पर विरोधी विचारधाराओं में से एकता के सूत्र को खोजकर एक ऐसी विचार परम्परा की स्थापना करना जिसमें विरोधी तत्वों का नितान्त अभाव हो— समन्वयवाद की सरल व्याख्या है। कबीर ने इस्लामी एकेश्वरवाद, वेदान्त के अद्वैतवाद को वैष्णव भक्ति भावना के रस तथा सूफी प्रणय की हाला में भिगोकर एक ऐसा अवलेह तैयार किया है जिसका माधुर्य न तो एकेश्वरवाद में है और न अद्वैतवाद में। यह समन्वय कबीर से पहले कोई दूसरा व्यक्ति नहीं कर पाया था। 'इला पिंगला की झीनी चुनरिया ओढकर कबीर ने 'गगन मंडल में औंधे कुए से झर झर' निसृत होने वाले अमृत रस का पान किया था और 'रपटीली राह' को पार कर शून्य सेज पर 'पिया' से भेंट की थी। अत दार्शनिक और भक्त होने के साथ साथ कबीर योगी अथवा सिद्ध भी थे। कबीर के व्यक्तित्व में विभिन्न तथा परस्पर विरोधी विचार और साधना पद्धतियों का समन्वय हुआ था।

उक्त दोनों मतों के विरुद्ध मेरा एक विनम्र निवेदन है। जिन विद्वानों ने कबीर को मौज का गायक अथवा समन्वयवादी सिद्ध किया है वे यह मानकर चले हैं कि कबीर ने अपनी समस्त वाणी की अभिव्यक्ति एक ही समय में की होगी अथवा वे जीवन भर एक ही प्रकार के पद जिन में कहीं एकेश्वरवाद की अभिव्यक्ति है कहीं हठयोग के गीत गाते रहे होंगे। प्राचीनकाल में रचनातिथि का प्राय उल्लेख नहीं किया जाता था और गेय मुक्तक पदावली का रचनाकाल देना तो उस युग की कल्पना के बाहर था अत हम निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते कि कबीर ने अपने गीतों की रचना किस क्रम से की थी। और कवि की विचारधारा के विकास क्रम का ज्ञान न होने के कारण हम उसके विचारों का विकास सूत्र खोजने की चेष्टा भी नहीं करते। किन्तु एक कवि के विकाससूत्र को खोजना उतना दुस्साध्य नहीं है जितना एक दार्शनिक के विकास सूत्र का पता लगाना। कवि के विकाससूत्र का अनुमान उसके कवि कर्म के विकास द्वारा लगाया जा सकता है।

कोई भी कवि जब काव्य रचना प्रारम्भ करता है तब उसकी रचना में अनुभूतियों की गहराई कम और शब्दाडम्बर अधिक होता है, उसकी अल्हड़ लेखनी जिन भावनाओं को व्यक्त करना चाहती है उनको प्रभावशाली रूप में व्यक्त नहीं कर पाती अतः कवि की प्रारम्भिक रचनाओं में घनत्व के स्थान पर फैलाव अधिक होता है। रसात्मकता मार्मिकता तथा ओज आदि अभ्यास के द्वारा बाद को प्राप्त गुण होते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर कबीर के व्यक्तित्व का विकास अधोलिखित सोपानों में से गुजरा होगा —

१ खण्डन-मण्डन का जोश तथा ज्ञानाभिमान।

२ साधनात्मक रहस्यवाद।

३ *सूफी प्रणय की मादकता में भीगी हुई* वैष्णव भक्तिभावना।

१—खण्डन-मण्डन का जोश तथा ज्ञानाभिमान—कबीर के व्यक्तित्व में एक युगपरिवर्तनकारी विद्रोही शक्ति के परमाणु मौजूद हैं। एक विद्रोही व्यक्तित्व में आत्मविश्वास, तेज तीव्रता ललकार ओजस्विता आदि जिन गुणों की अपेक्षा है वे कबीर के व्यक्तित्व में बड़े उत्कृष्ट रूप में मिलेंगे। विद्रोह के लिए जीवन की अन्य अवस्थाओं में से युवावस्था सब से अधिक अनुकूल है अथवा हम यह भी कह सकते हैं युवावस्था ही विद्रोह की एकमात्र अवस्था है। विश्व इतिहास एक भी ऐसा उदाहरण प्रस्तुत नहीं कर सकता जिससे यह सिद्ध हो सके कि *किसी महापुरुष ने जवानी ढलने के बाद विद्रोह* की बात सोची हो। अतः कबीर की वे साखियाँ जिनमें वे मुल्ला काजी, पांडे पुजारी, अवधू, जोगी आदि को चिनौती देते हैं और हिन्दू मुसलमानों की रूढ़िप्रियता धर्मान्धता ईर्ष्या द्वेष को ललकारते हैं उनकी युवावस्था की रचनाएँ होना चाहिए। इन साखियों में एक विद्रोही की वाणी का ओज तो है किन्तु काव्यात्मकता नहीं है। काव्य की कसौटी पर परखने पर कबीर की उक्त साखियों की गणना सूक्ति में की जा सकती है, काव्य में नहीं। कबीर की वे साखियाँ भी प्रारम्भिक विकासकाल में परिगणित की जावेंगी जिनमें 'कासी के जुलाहे' के रूप में वे विभिन्न मतों का खण्डन करते हुए दिखलाई पड़ते हैं। इन साखियों में ज्ञान का अभिमान, जो युवाकाल के अनुकूल ही है स्पष्ट परिलक्षित होता है किन्तु जिन में काव्य के गुणों का एक प्रकार से अभाव है। इन साखियों की भाषा सधुक्कड़ी तथा भाव योजना अव्यवस्थित है।

२—साधनात्मक रहस्यवाद—मुल्ला मौलवियों को फटकारने का जोश युवावस्था के ढलने के साथ साथ जैसे २ शान्त होता गया होगा कबीर का ध्यान सिद्धों नाथपंथियों की अन्तर्मुखी हठयोगी क्रियाओं की ओर आकृष्ट होता गया होगा। सिद्धों और योगियों की देखा देखी कबीर के मत में 'सुरति ढीकुली' के द्वारा 'कमल कुआँ में से प्रेम रस' निकाल कर पीने की तृष्णा उत्पन्न हुई होगी। कबीर की वे उलट बासियाँ जिनमें वे 'उलटी चाल मिले परब्रह्म' की घोषणा करते हैं तथा 'द्वादस कूँवा एक वनमाली' के द्वारा 'उलटा नीर चलाते हैं, उनकी प्रतिभा के विकास का दूसरा सोपान माना जाना चाहिए। इन उलट बासियों का प्रतीक विधान बड़ा ही सटीक है। अपने प्रारम्भिक विकासकाल में कोई भी कवि अन्योक्तिविधान अथवा प्रतीक विधान की सांगोपांग आयोजना नहीं कर सकता। अन्योक्ति विधान के लिए भाषा पर असाधारण अधिकार वांछित है और वह इन रचनाओं से प्रकट होता है।

३—*सूफी प्रणय की मादकता में भीगी* हुई वैष्णव भक्तिभावना—कबीर का विद्रोही व्यक्तित्व उनकी खण्डन मण्डन प्रधान रचनाओं में अभिव्यक्त हुआ है। यह एक युगपरिवर्तनकारी

तथा समाज सुधारक का रूप है। कबीर का दूसरा रूप पिण्ड मे ब्रह्माण्ड खोजने वाला रहस्यसाधक का रूप है जो अपनी समस्त चेतना को वाह्य सृष्टि से खींचकर पिण्ड के रहस्यमय चक्रों का उद्घाटन करने के लिए अन्तर्मुखी बनाता है। उक्त दोनों ही रूप और जो हो कवि का रूप नहीं है। इन रूपों मे रागात्मक तत्वों का जो काव्य का प्राण है—एक प्रकार से अभाव है। कबीर की कवि प्रतिभा का चरम विकास और उनकी सत्यान्वेषिणी आत्मा का उल्लास उन पदों मे अभिव्यक्त हुआ है जिनमे न तो खण्डन-मण्डन का जोश है, न ज्ञान का अभिमान है और न नाडी-चक्रों का रहस्यमय विधान है। इन पदों में कबीर की आत्मा एक ओर सूफी प्रणय की मादकता से विभोर है तो दूसरी ओर वैष्णव भक्तिभावना से परितृप्त। और इन्हीं पदों में कबीर की काव्य प्रतिभा अपने चरमोत्कर्ष को पहुँची है। बहुत सम्भव है कबीर अपनी युवावस्था मे विद्रोह की भावना लेकर काव्य क्षेत्र मे अवतीर्ण हुए हों किन्तु खण्डन मण्डन के जोश के शान्त होने पर उनकी आत्मा किसी अतृप्ति और असतोष से छटपटाई हो। आत्मा को शान्ति प्रदान करने के लिए कबीर सिद्धों और जोगियों की जमातो मे भटके हों। और कुछ दिनो तक हठयोग की कठिन साधना के द्वारा आत्मपरितोष प्राप्त करने की निष्फल चेष्टा की हो और जब उन को अन्य किसी प्रकार से परितोष प्राप्त नहीं हुआ तो तब वैष्णव भक्ति की शरण मे आए हों क्योंकि गगा जी के घाट की सीढियों पर लेट जाने और वैष्णव सत रामनन्द के पद प्रहार के साथ साथ राम नाम का मन्त्र पाने की घटना कबीर जैसे अक्खड व्यक्तित्व के लिए अनायास ही सम्भव नहीं थी। मध्ययुग मे आधुनिक नेताओं की भाँति गुरुओं की कमी नहीं थी। तलाश करने पर कबीर को दर्जनों योगी सिद्ध और फकीर गुरु करने के लिए मिल सकते थे और मिले भी होंगे फिर क्या कारण है कि वर्णव्यवस्था और अवतारवाद के विरोधी कबीर ने वर्णव्यवस्था और अवतारवाद के सस्थापक एक वैष्णव सत को अपना गुरु बनाया? आज तक किसी विद्वान ने इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने का कष्ट नहीं उठाया। मेरा निवेदन है कि कबीर को जब एकेश्वरवाद, मायावाद, अद्वैतवाद, सहजवाद, शून्यवाद, निरजवाद, योग साधना किसी से सतोष न मिला तब वे वैष्णव भक्ति की शरण गए और 'राम नाम' का अमृत पिया। राम के नाम ने जहाँ उनकी तृषित आत्मा को परितोष प्रदान किया वहाँ उनकी काव्य प्रतिभा मे भी चार चाँद लगा दिए। इन रचनाओं मे अक्खड पन के स्थानपर दीनता है, ज्ञानाभिमान के स्थान पर भाव विभोरता है। एक-दो उद्धरण पर्याप्त होंगे —

(i) हरि मोर पीव माई, हरि मेरा पीव,
हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव।

(ii) मन रे राम सुमिरि राम, राम सुमिरि, भाई।
राम नाम सुमिरन बिना बूडत है अधिकाई॥
अजामेल गज गनिका, पतित करम कीन्हा।
तेऊ उतरि पारि गए राम नाम लीन्हा॥
× × × ×
राम नाम अमृत छाडि काहे विष खाई।
तजि भरम, करम विधि न खेद, राम नाम लेही।
जन कबीर गुरु प्रसादि, राम कर सनेही।

(iii) रसना नाम गुन रमि रस पीनै, गुन अतीत निरमोलक लीजै।
विष तनि राम न जपसि अभागे, का बूडे लालच के लागे॥
ते सब तिरे समरम वादी कहैं कबीर बूडे बकवादी॥

(iv) नहीं छाडों बाबा राम, मोहि और पढन सू कौन काम॥
मोहि कहा पढावै आल जाल, मेरी पाटी मे लिखि दे गोपाल॥

(v) अब मोहि जलत राम जल पाइया। राम उदक तन जलत बुझाइया॥
मन मारन कारन बन जाइयै। सो जल बिन भगवन्त न पाइयै॥
जेहि पावक सुर नर हैं जोर। राम उदक जन जलत उबारे॥
भव सागर सुख सागर मॉही। पीव रहे जल निखुटत नाहीं॥
कहि कबीर भजु सारिंग पानी। राम उदक मेरी तिषा बुझानी॥

(vi) क्या जप क्या तप क्या व्रत पूजा। जाके रिदै भाव है दूजा॥
रे जन, मन माधव स्यौं लाइयै। चतुराई न चतुर्भुज पाईयै॥

वैष्णव भक्ति में निष्णात राशि राशि पद कबीर की वाणी से प्रस्तुत किए जा सकते हैं जो कबीर की काव्य प्रतिभा के चरम विकास को प्रकट करते हैं। हम कबीर की काव्य प्रतिभा का सौष्ठव इन्हीं पदों में पाते हैं फिर हम क्यों न मान लें कि कबीर की काव्य प्रतिभा का अन्तिम सोपान वैष्णव भक्ति ही है। इस वैष्णव भक्ति में सूफी प्रणय की मिश्री भी घुली हुई है यह कहने की आवश्यकता नहीं। अत जो विचारक कबीर को मौज का गायक मानते हैं वे कबीर के व्यक्तित्व में किसी प्रकार के विकास को स्वीकार नहीं करते जो अपनी वैज्ञानिक और असम्भव है। हाँ समन्वय का अर्थ यदि उदार दृष्टि और सत्यान्वेषण किया जाय तो कबीर अवश्य समन्वयवादी थे क्योंकि उन्होंने उसी में परितोष पाया जो उनके आत्मा को स्वीकृत हुआ।

(शेष पृष्ठ ६ का)

गया किसी भी प्रकार की सम्पति, उसी से बना pecuniary = सामयहिक और peculiar से हुआ—दास की सम्पत्ति " फिर बना peculiar, विचित्र बन गया।

व्यय = कांपना अब व्यथा (मानसिक भाव)

कुप = चलना अब कोप कुपित आदि।

रम् धातु = ठिकाने आना अर्थ था अब आनन्द देना। आज स्मरण रमणीय, मनोरम बनाया। ऐसे औपचारिक व लाक्षणिक प्रयोग से भाषा विकसित हो गई।

(१८) भाषणादि का विकास —भाषण की क्रिया भी विकसित हुई। प्रथम तो शब्द एक वाक्य समूह की तरह बोला जाता था बच्चा, जल, गाय, कहता है। तब पूरी बात कहता है। अर्थात् देखो गाय आई कौआ लेगा है। दूध या पानी का अर्थ दूध लाओ आदि होगा। धीरे २ शब्दों के विस्तार ने हस्तादि चेष्टाओं का इगति भाषा का लोप कर दिया आदि काल में आवश्यक अर्थनिकोच या पाणिविहार से शाब्दिक भाषा की पूर्ति होती थी। आगे कोरिलगा या कोरिल गाना, जैसे दो शब्दों के द्वारा भूत, वर्तमान आदि सभी का एक अर्थ में अर्थ लिया जाने लगा धीरे २ काल लिंग भी बढता गया। अत प्रथम तो ध्वनियाँ स्वात सुखाय रही। पर सामाजिक प्रियता ने उन्हें भाषण का रूप दिया। भाषण की उत्पत्ति बिना समाज के हो ही नहीं सकती।

वस्तुत लोकेच्छा ही शब्दार्थ सम्बन्ध की नियामिका है, किस शब्द से क्या बनेगा इसे लोक की इच्छा ही जानती है। इस प्रकार सम न्वितविकासवाद के अनुसार ध्वनियों के रूप में भाषा के बीज विद्यमान थे।

सूर का प्रकृति वर्णन

(श्री शिव प्रसाद मिश्र बी० ए०)

विद्यापति के पश्चात् वैष्णव भक्तों में सबसे मधुर संगीत सूर का ही है। इनका क्षेत्र एक देशीय था और मुख्य विषय था शृंगार वर्णन। मानव जीवन में बाल और यौवन दो ही काल आनन्दमय होते हैं। अत वात्सल्य और दाम्पत्य रति को ही अन्य कृष्ण भक्त कवियों की भांति इनके काव्य में प्रधानता मिली। कृष्ण की मधुर एवं त्रिभंगी मूर्ति सूर के हृदय में बस गई और सुधि बुधि खोकर अन्य कवि सूरदास अपने उपास्य के अनुपम रूप और हास विलास का वर्णन करने लगे। यद्यपि अपने काव्य में सूर की दृष्टि अपने उपास्य की लोकरंजक चेष्टाओं पर ही लगी रही—परन्तु जनसाधारण पर उसके व्यापक प्रभाव का बिंबपूर्ण एवं संश्लिष्ट वर्णन के लिये उन्हें प्रकृति का सहयोग लेना पड़ा। यमुना-निकुंज, कालिंदी तट वंशी वट और कदम्ब वृक्षों के बिना वृन्दावन बिहारी की लीलायें अर्धशून्य और नीरस सी प्रतीत होती हैं। अत सूर के काव्य में हमें केवल उद्दीपन और सौंदर्य के उपमान के रूप में ही प्रकृति का उपयोग मिलता है।

माधुर्यभाव के आलम्बन के रूप भगवान की कल्पना सौंदर्यमयी होना स्वाभाविक है। यह सौंदर्य कल्पना प्रकृति में अपना रूप भरती है। प्रकृति के अनंत रंग रूप, उसकी सहस्त्र सहस्त्र स्थितियां उपमानों की अलंकारिता योजना ने रूप को सौंदर्य प्रदान करती हैं। सूर रूप वर्णन में अद्वितीय हैं। एक ही स्थिति को अनेक प्रकारों से उद्भासित करने की प्रतिभा सूर ही में है। सूर के इस चित्र में बाल कृष्ण की 'लट' ही केन्द्र में है —

"लट लटकनि मोहन मसि बिंदुक तिलक भाल सुखकारी।
मनहु कमल अलिशावक पंगति उठनि मधुप छवि भारी।"

वात्सल्य रति के अंतर्गत विभाव पक्ष में आलम्बन कृष्ण की नट खटिया, उनके बाल सुलभ कौतिक, गोचारण आपद् कर्म प्रकृति के संसर्ग से माता पिता के संयोग सुख में वृद्धि करते हैं। उदाहरण के लिये कृष्ण का मचलना —

मैहौंरी मा चांद लहौंगा
यह तो झलमलात झकझोरत कैसे के चहौंगो।
वह तो निपट निकट ही दीखत, बरज्यों हो न रहौंगो॥"

सूरदास ने कृष्ण का वर्णन करने के लिये उपमेय और उपमान में एक-रूपता की संभावना भी की है। अपने उपास्य की बालछवि का वर्णन करते हुये सूर ने प्रकृति के माध्यम से रूपालंकार की भी सुन्दर व्यंजना की है। उदाहरण स्वरूप सूर अपने बालकृष्ण की सुन्दरता का सागर बतलाते हैं —

देखो माई सुन्दरता को सागर।
तनु अति श्याम, अगाध अम्बुनिधि, कटि पटपीत तरंग।
चितवत चलत अधिक रुचि उपजत भंवर परत अंग-अंग॥'

इस सांग रूपक के चित्रण में कृष्ण और सागर मन मानस में प्रतिबिम्बित होते हैं।

भक्त कवियों ने, और उसी परम्परा में होने के कारण सूर ने भी अपने आराध्य के सम्पर्क में प्रकृति को आदेश रूप में उपस्थित किया है। कृष्ण की लीलास्थली गोकुल हो या वृन्दावन, सर्वत्र प्रकृति में चिर बसंत की भावना रहती है। सूर में यह भावना प्रमुख है। अत इनके काव्य में प्रकृति लीला पृष्ठभूमि के रूप में प्रभावित, मुग्ध या उल्लसित हो उठती है। कृष्ण की लीला स्थली होने के कारण सूर आदर्श वृन्दावन की कल्पना करते हैं —

वृन्दावन निज धाम कृपा करि तहां दखायो।
सब दिन जहां बसत कल्प वृक्षन सा छायो।
कुंज अद्भुत रमणीय तहां बेलि सुभग रहिछाई।
गिरि गोवर्धन धातुमय
कालिन्दी जल अमृत प्रफुल्लित कमल सुहाई।
नाना अग्नि दो कूल हंस सारस सुनाई॥"

सूर में अपने रूप से अनन्त की ओर बढ़ने की उतनी प्रवृत्ति नहीं है जितना गतिशीलता को अनन्त की भावना से परिसमाप्त कर देने की। जहां सूर ने अनन्त सौंदर्य को व्यक्त किया है, वहां भी प्रकृति उपमानों के रूपात्मक चित्रों का आधार लिया है। कृष्ण की अवर्णनीय छवि अनन्त में इस प्रकार लीन हो जाती है —

'प्रति २ अंग २ कोटिक छवि सुनि सखि परम प्रवीन
सूरदास जहं दृष्टि परत है, होत वहीं लव लीन॥"

रूपसौंदर्य की व्यंजना जब साधारण प्रत्यक्ष स्तर से अलग रहना चाहती है तो वह अलौकिक कल्पना का आश्रय तो लेती है। इन अलौकिक वर्णनों को सूर ने प्रकृति के उपमानों द्वारा व्यक्त किया है —

"नंदनंदन मुख देखो माई।
अंग अंग छवि मनहु उए रवि शशि अरु समर लजाई॥"

शृंगार रस के अंतर्गत तो सूर ने प्रकृति चित्रण उद्दीपन के रूप में किया है, और वह बहुत सुन्दर बन पड़ा है।

शृंगार में दाम्पत्य रति के अंतर्गत सूर ने विभाव पक्ष में प्रकृति का वात्सल्य से अधिक विशद एवं मधुर वर्णन किया है। वृंदावन में कृष्ण और गोपियों का सम्पूर्ण जीवन क्रीडामय है। यही सम्पूर्ण क्रीडा संयोग पक्ष है। विभावों की परिपूर्णता कृष्ण और राधा के अंग प्रत्यंग की शोभा के अत्यन्त प्रचुर और चमत्कार पूर्ण वर्णन में तथा वृन्दावन के करील-कुंजों, लोनी लताओं हरेभरे कछारों खिली हुई चांदनी, कोकिल कूजन आदि में देखी जाती है। ब्रज के निकुंज, कालिंदी कूल और वसन्त का सुखद वातावरण कृष्ण और गोपियों में उमंग का संचार करता है —

सुन्दर बर भग ललना विहारति, सरस बसंत ऋतु आई।
सकल शृंगार बनाइ प्रेम सुन्दर कमल नयन पै जाइ।
सरिता सीतल बहत मंद गति रवि उत्तर दिसि आया।
अति रस भरी कोकिला काली विरहिनि विरह जगाया॥"

सूर ने ऋतु वर्णन की परम्परा का भी पालन किया है। संयोग शृंगार की उद्दीपक ऋतुओं में हमारे देश में वर्षा और वसंत का ही विशेष महत्व रहा है। पावस में सरितायें जल पूर्ण हो जाती हैं पृथ्वी की हरियाली और प्रकृति का सुन्दर एवं प्रफुल्ल रूप मनुष्यों की प्रेम भावना को उत्तेजित करता है। सूरदास ने वर्षा और वसंतोत्सवों तथा राधा कृष्ण के प्रेम प्रमोदों का बड़े उत्साह से वर्णन किया है। शरद में यमुना तट पर मल्लिका की सुगन्धि और निर्मल ज्योत्सना गोपियों को रास रचाने के लिये प्रेरित करती है और फलस्वरूप —

यमुना पुलिन मल्लिका मनोहर शरद सुहाई जामिन।
रच्यो रास मिल रसिक राई सों मुदित भई बन भामिनि॥'

दूती पावस के उत्तेजक रूप का वर्णन करते हुये राधा को कृष्ण के पास ले जाना चाहती है —

यह ऋतु रूसिबे की नहीं।
बरसत मेघ मेदिनी के हित प्रीतम हरषि मिलाहीं।
जो लौं ग्रीष्म ऋतु दाहा, न तरवर लपटाहीं।
जल थल सिंधु सरिता ते पूरित, सिंधु मिलन को जाहीं।
सूरदास रस रीति कही है समुझि चतुर मन माहीं॥"

आलम्बन की रूप प्रतिष्ठा के लिये कृष्ण के अंग प्रत्यंग का सूर ने जो सैकड़ों पदों में वर्णन किया है, वह तो किया ही है, आश्रय पक्ष में नेत्र व्यापार और उसके अद्भुत प्रभाव पर एक दूसरी ही पद्धति पर बड़ी ही रम्य उक्तियां की हैं। उदाहरण के लिये आश्रय पक्ष में इस प्रकार के वर्णन ही —

शंका या तर्क के लिए कोई स्थान नहीं है। समय समय पर आध्यात्मिक कवि अपने विरोधियों और आलोचकों को मुँह तोड़ उत्तर भी देते रहे हैं। जिस समय काशी के पण्डितों ने तुलसीदास की हिन्दी में रामायण लिखने की बात सुनी, उस समय उन्होंने बड़ा विरोध किया कि भगवान् की महिमा का गायन देवभाषा के अतिरिक्त और किसी भाषा में हो ही नहीं सकता, किन्तु गोस्वामी तुलसीदास अपने निश्चय पर दृढ़ रहे और स्पष्ट शब्दों में कह दिया—

का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिए साँचु।

जब आपके हृदय में अपने इष्ट के लिए श्रद्धा है तो किसी विशेष भाषा शैली को अपनाने की आवश्यकता नहीं है। स्वाभाविक मनोभावों की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति ही होनी चाहिए। उनकी काव्य प्रतिभा इतनी उच्च कोटि की थी, कि किसी प्रकार के छन्द अलंकार या भाषा का परिमार्जन किए बिना ही उन्होंने जो रचना की, वह आज भी अप्रतिम है।* और इस भक्ति साहित्य ने इतनी प्रचुर मात्रा में कर दी कि इसके शीघ्र ही बाद रीति प्रथा की सृष्टि होने लगी।

ऐसे महान् साहित्य का सृजन किसी भी कवि के लिए गौरव की बात हो सकती है किन्तु इसे इन कवियों की निश्छल हृदयता कहिए या विनम्रता उन्होंने कहीं भी दम्भोक्ति का एक शब्द तक नहीं लिखा। इतनी उत्कृष्ट कविता होते हुए भी वे यही कहते रहे कि 'कवित विवेक एक नहिं मोरे, सत्य कहौं लिखि कागद कोरे।" और ऐसी मौलिक उद्भावना होते हुए भी वे यही कहते रहे कि मेरी रचना नाना पुराण निगमागम सम्मत" ही है। इस विरक्ति की भावना ने उनके हृदय से सब प्रकार की काम वासनाओं या लौकिक विषयों की इच्छाओं को निकाल दिया था, उनकी इन्द्रियाँ और मन पवित्र हो चुके थे और आध्यात्मिक विरह से वे अपनी आत्मा को तपे हुए कंचन के समान निर्मल और उज्ज्वल बनाना चाहते थे, ताकि संसार के सम्मुख जो कुछ भी रखा जाए, वह अपने आप में गाम्भीर्य और तथ्य लिए हुए हो। इसीलिए उन्होंने जन साधारण के वर्णन की ओर अपनी लेखनी को प्रवृत्त नहीं होने दिया—

कीन्हे प्राकृत जन गुण गाना।
सिर धुनि गिरा लागि पछिताना॥

[तुलसी]

और इसीलिए बड़े बड़े बादशाहों और सुलतानों के निमन्त्रण को उन्होंने बिल्कुल निष्काम भाव से ठुकरा दिया—

सन्तन को कहा सीकरी सों काम ?

[सूर]

इतना ही नहीं, बड़े महाराजाओं की अनुचित हँसी का उनके सामने ही कटु व्यंग्यपूर्ण उत्तर देने में भी उन्होंने कभी कोई संकोच नहीं किया—

मोहिका हँससि कि कोहरहि।

[जायसी]

जिस समय महाकवि जायसी शेरशाह के दरबार में गए, तो वह आपकी कुरूपता देख कर हँस पड़ा। इस पर कवि ने पूछा कि 'तू मुझ पर हँस रहा है या समस्त संसार के स्रष्टा पर?' इस प्रकार की निर्भीकता की आशा केवल उसी से की जा सकती है, जिसने सब प्रकार से घर बार,

धन धाम बन्धु-बांधव का त्याग कर के संसार से बाहर डेरा लगा दिया हो। गोस्वामी तुलसी दास के विषय में तो महाकवि निराला ने लिखा भी है—कवि को जिस समय रत्नावली ने कटु शब्द सुनाए, उस समय वे यह कह कर, कि—

जगमग जीवन का अन्त्य भाष,
जो दिया मुझे तुमने प्रकाश,
अब रहा नहीं लेशावकाश,
रहने का मेरा उससे गृह के भीतर ॥*

घर से सदा के लिए बाहर चले गए। इस अशान्ति, निराशा और पराधीनता के युग में महलों या दरबारों में रहने वाले कवियों से तो यह आशा ही नहीं की जा सकती थी कि वे जनता के लिए कुछ उपयोगी सिद्ध होते। यह तो केवल कुटिया का संत ही था, जो लोगों का सच्चा पथ प्रदर्शन करके और उनकी आध्यात्मिक पृष्ठभूमि को दृढ़ करके ऐसी परिस्थितियों का सामना करने की शक्ति प्रदान कर सकता था।

हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल वह समय था, जब वैदिक कर्मकाण्ड का ह्रास हो चुका था, और सभी देवताओं तथा शक्तियों में एक सामञ्जस्य स्थापित करके उस समय ज़ोर पकड़ रहे वज्रयान के पाषण्डों से हिन्दू समाज को मुक्त करने की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा था। भक्त कवियों की यह एक प्रशंसनीय विशेषता है कि उन्होंने इस आवश्यकता को केवल समझा ही नहीं बल्कि इसकी पूर्ति में बहुत बड़ा हाथ बँटाया और राम रहीम काबा कैलास, मुल्ला पण्डित, यहाँ तक कि विष्णु के भिन्न भिन्न अवतारों और आत्मा परमात्मा तक में एकरूपता स्थापित करने अपनी कुशलता का परिचय दिया। सब से बड़ी बात यह कि इतना सब कुछ होते हुए भी उन्होंने किसी मत, वाद या सम्प्रदाय का खण्डन किए बिना ही अपने विचारों का प्रतिपादन किया है तथा सामाजिक कुरीतियों और अन्धविश्वासों का विरोध कर जनता का सच्चा पथ प्रदर्शन किया है।

किसी प्रकार की प्रयास साध्यता न होने के कारण आध्यात्मिक कवियों की स्वाभाविकता बड़ी हृदय ग्राही है। भक्तिकाल से कुछ ही पहले जातीय भेद भाव बड़ा दृढ़ था और नारी तथा शूद्र को वेद छूने तक का अधिकार नहीं था, किन्तु भक्त कवियों ने इस विषमता को दूर करके सभी को आध्यात्मिक उन्नति का अधिकार दे दिया और मुक्ति का द्वार सब के लिए खुला होने का सन्देश देकर नीच जाति के लोगों को विशेष सन्तोष प्रदान किया, जिससे सभी हिन्दू एक दूसरे के निकट आने लगे और ऊँच नीच का भाव बहुत सीमा तक मिट गया।

यहाँ पर एक बात को स्पष्ट कर देना असंगत होगा कि साधारण आलोचक इन समन्वयकारी कवियों में स्वयं भेद-भाव और विद्वेष की कल्पना करके उन्हें एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न सिद्ध करने का प्रयास करता है। आचार्य श्री रामचन्द्र शुक्ल ने भक्तिकाल में प्रवाहित होने वाली चार पृथक् धाराओं का उल्लेख किया था—ज्ञानाश्रयी निर्गुण, प्रेमाश्रयी निर्गुण रामभक्ति और कृष्ण भक्ति, किन्तु यह विभाजन केवल अध्ययन की सुविधा के लिए किया गया था यह दिखाने के लिए नहीं कि उनके विषय प्रतिपादन में कोई मौलिक अन्तर है। कबीर को हम ज्ञानाश्रयी शाखा का प्रमुख कवि मानते हैं और उन्होंने गुरु के महत्त्व को इष्टदेव से भी ऊँचा स्थान दिया है—

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पाँय ?
बलिहारी गुरु आपुनो, जिन गोविन्द दियो बताय ॥

किन्तु यह कहना बड़ी भारी भूल होगी कि अन्य

* श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' विरचित काव्य 'तुलसीदास'।

धाराओं के प्रतिपादकों ने गुरु अथवा ज्ञान के महत्त्व की किसी प्रकार अवहेलना की है। प्रेमाश्रयी शाखा के स्तम्भ जायसी ने ही हीरामन तोते के रूपक गुरु का समावेश किया और बताया कि बिना गुरु के मार्ग निर्देश के निराकार को प्राप्त करना असंभव है—

गुरु सुवा जेइ पन्थ दिखावा ।
बिन गुर जगति को निरगुण पावा ॥
[पद्मावत]

और कृष्ण भक्त सूरदास ने तो भगवान् को रिझाने के लिए गुरु की प्रसन्नता को ही आवश्यक माना है—

गुरु प्रसन्न हरि प्रसन्न होई ।
गुरु के दुखित दुखित हरि होई ॥

तथा राम भक्त तुलसीदास ने भी भव सागर से पार उतरने के लिए एक मात्र गुरु के ही आश्रय को स्वीकार करते हुए लिखा है—

गुरु बिन भव निधि तरई न कोई ।
जो बिरचि शकर सम होई ॥

इसी प्रकार यदि प्रेमाश्रयी कवियों ने प्रेम का अत्यधिक गुणगान किया है, तो अन्य धाराएँ भी इससे विमुख नहीं हैं। कबीर ने स्पष्ट कहा है—

कबिरा यह घर प्रेम का, खाला का घर नाहिं ।
सीस उतारै करि धरै, सो पैसे घर माहिं ॥

तथा सगुण भक्ति के कवियों ने भी प्रेम के महत्व को स्वीकार किया है—

या लरिकाई को प्रेम, कहो अलि,
कैसे छूटे ?
[सूरदास, भ्रमरगीत]

ऐसे ही सगुण भक्ति के कवियों ने यदि भक्ति के महत्त्व का प्रतिपादन किया है, तो कबीर ने भक्ति को अपनी एक मात्र वाञ्छा ही बता दिया है—

मुक्ति मुक्ति मागों नहिं, भक्ति दान दे मोहि ।
और कोई याचों नहिं निशिदिन याचो तोहि ॥

कहने का अभिप्राय यह है कि इन सब कवियों का प्रतिपाद्य विषय और गन्तव्य स्थान एक ही है। शैली में यदि कहीं थोड़ा बहुत अन्तर आ भी जाए तो उसकी ओर ध्यान न देकर हमें इनकी समन्वय की भावना को ही देखना चाहिए। ज्ञान मार्ग, भक्ति मार्ग और कर्म मार्ग में एक सामञ्जस्य स्थापित करना इन्हीं कवियों का काम था। मुक्ति की प्राप्ति तो निष्काम कर्म से हो ही जाएगी किन्तु इह लोक में हमें ज्ञान, प्रेम और भक्ति का आश्रय लेकर अपने इष्टदेव में पूरी श्रद्धा रखनी चाहिए यही इन सब कवियों की शिक्षा रही है। भक्ति चाहे किसी भी कोटि की हो—दास्य, सख्य, दाम्पत्य माधुर्य या शान्त, उसका महत्त्व किसी से कम नहीं, यही इन कवियों का उपदेश रहा है। सामाजिक कुरीतियों, बाह्याडम्बरों और पाखण्डों की इन सब ने निन्दा की है और शुद्ध सरल सात्विक जीवन व्यतीत करने पर जोर दिया है। प्रस्तुत की कल्पना करके इन्होंने भगवत्प्राप्ति का मार्ग बतलाया है जिस कारण सभी में थोड़े बहुत रहस्यवाद की झलक मिलने लगती है। लोगों के हृदयों में पैठने के लिए जन साधारण की भाषा को अपनाना ही इन्होंने अपना ध्येय रखा है इसीलिए डा० हजारी प्रसाद को कबीर के विषय में लिखना पड़ा कि वे अनजाने में ही एक नई भाषा का सृजन कर रहे हैं।

ये हैं भक्तिकालीन आध्यात्मिक कवियों की प्रमुख विशेषताएँ, जो हमें प्राय सभी के काव्य में समान रूप से देखने को मिलती हैं।

"कविवर पंत और प्रकृति"

मानव एवम् प्रकृति दो भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। दोनों का जन्म एक ही तत्व से हुआ है। दोनों एक ही प्रकार के सुख दुख, आशा निराशा से न केवल प्रभावित ही होते हैं अपितु वे एक दूसरे से आबद्ध भी हैं। जहाँ एक ओर प्रकृति सुख चरित एवं सुख लसित है, उसमें एक स्वरता है, एक संगीत है वहाँ दूसरी ओर मानव में अव्यवस्था है, एक संगीत का अभाव है। जहाँ एक ओर प्रकृति दुख में भी मुस्कराती रहती है वहाँ मानव अपना सिर झुका लेता है। उसके हृदय में वेदना की ज्वाला प्रज्वलित हो उठती है। प्रकृति और मानव में यही अन्तर है और शायद सुकुमार कवि पंत भी यही अन्तर देखता है।

"कुसुमों के जीवन का पल,
हँसता ही जग में देखा।
इन म्लान मलिन अधरों पर,
स्थिर रही न स्मिति की रेखा॥"

हमारे सुकुमार कवि पंतजी प्रकृति में वही अंतर पाते हैं जो कि उनमें स्वयं में व्याप्त है। पंत जी अपने सुख दुख का आदान प्रदान इसीलिए करते हैं क्योंकि वे प्रकृति को अपने से भिन्न नहीं समझते हैं, वे उसे एक "छाया काया" का सम्बन्ध मानते हैं। मानव जग के ही सदृश प्रकृति का भी अपना एक विश्व है, उसमें भी एक रूप-लावण्य, हास विलास, क्रीड़ा, कौतूहल है। इन्हीं "प्राकृतिक लीलाओं तथा उसके एक एक नयनाभिराम रूपों का पंत की कविताओं में अन्वेषण है।"

पंत जी प्रसिद्ध कवि 'वायरन' के कथन—'I love not man the less but Nature more" के सहयोगी हैं, क्योंकि कूर्मांचल की प्रकृति सुन्दरी के भावमय संसर्ग में कवि पंत पले-पनपे और काव्य जगत में अवतीर्ण हुए। वे स्वयं लिखते हैं कि—'मेरे कवि जीवन के विकास क्रम को समझने के लिए आप मेरे साथ हिमालय की तलहटी में चलिये।' आगे लिखते हैं—'पर्वत प्रदेश के निर्मल चंचल सौंदर्य ने मेरे जीवन के चारों ओर अपने नीरव सौन्दर्य का जाल बुनना शुरू कर दिया था। मेरे मन के भीतर बर्फ की ऊँची, चमकीली, चोटियाँ रहस्य भरे शिखरों की तरह उठने लगी थीं, जिन पर खड़ा हुआ नीला आकाश रेशमी चँदोवे की तरह आँखों के सामने फहराया करता था।' प्रकृति प्रेम ही उनके काव्य की विशेषता है, वही उनके काव्य का आकर्षण है, वही उनके काव्य की आधार शिला है, प्रेरणा-प्रदान करने वाली शक्ति है। हम देखते हैं कि उन्हें जन्म से ही सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण की प्राप्ति रही है। आरम्भ से ही उन्होंने जीवन एवम् जगत् में सौन्दर्यता का अनुभव किया है और जो कि सहज ही हमें उनके काव्य में प्राप्त होता है। उन्होंने प्रकृति सहचरी के साथ विहार किया है, जहाँ उसने फूलों की मुस्कान, कलियों की लाज, पल्लवनियों के सुन्दर हावभाव देखे हैं, वहाँ उसने कोयल की कूक, भ्रमरों का गुंजन भी सुना है, एवम् तितलियों का नर्तन भी देखा है। वह ऐसी सहचरी को त्याग कर बाला के केशजाल में लोचन नहीं उलझा सकता अतएव कवि "वीणा" में कहता है

"छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया
बाले तेरे बाल जाल में
कैसे उलझा दूँ लोचन?"

कविवर पन्त जी ने प्रकृति—सौंदर्य को नारी'

सौंदय से अधिक आकर्षण पाया है एवम् उसे महत्व प्रदान किया है। किशोरावस्था में रचित वीणा' और 'ग्रंथि" रचनाएँ बाल सुलभ कल्पना से ओतप्रोत तो हैं ही साथ में उनकी बाद की सौंदय तथा प्रेम विषयक सूक्ष्म मनोवृत्तियों पर रचित कविताओं में भी कल्पना की उड़ान का अभाव नहीं है। वास्तव में देखा जावे तो पंत जी के सम्पूर्ण काव्य का आधार ही यह कल्पना का मोहक जगत है 'इसके बल पर ही वे हिन्दी के सर्वाधिक सृजनशील कवि बन सके हैं।

रवीन्द्र जैसे विराट सौन्दर्य भावना के महान् कवि का प्रभाव पंत पर पड़ा। इसके अतिरिक्त सरोजनी नायडू का भी प्रभाव कवि पर अत्यन्त अधिक पड़ा, और इन सबसे अधिक प्रभाव अगर कवि पर पड़ा है तो शैली और कीट्स का। डा० नगेन्द्र के शब्दों में "कालिदास और भवभूति की अपेक्षा उन्होंने शैली, कीट्स और टेनिसन आदि अंग्रेजी कवियों से अधिक काव्य प्रेरणा प्राप्त की है।" पंत जी स्वयं लिखते हैं 'शैली, कीट्स और टेनिसन आदि अंग्रेजी कवियों से मैंने बहुत कुछ सीखा।" इन अंग्रेजी कवियों का प्रभाव देखने के लिए हमें वीणा" और 'ग्रंथि" के पृष्ठ विशेष रूप से खोलना पड़ेगा। वीणाकार' के कवि का प्राकृतिक सौन्दर्य दखिये—

जिसकी सुन्दर छवि उषा है
वसन्त जिसका शृंगार,
तारे हार किरीट सूर्य शशि
मेघ केश स्नेहाश्रु तुषार,
मलयानिल मुख वास जलधि मन
लीला लहरों का संसार।"

"ग्रंथि" एक छोटा सा प्रेम काव्य है जिसमें एक विफल प्रणय तरुण-हृदय की बड़ी मार्मिक वेदना है किन्तु कवि सम्पूर्ण वेदना के भीतर भी कवि करुण की एक सांस लेकर स्वयं में सन्तुष्ट हो जाना चाहता है—

शैवलिनि! जाओ, मिलो तुम सिंधु से
अनिल! आलिंगन करो तुम गगन को,
चन्द्रिके! चूमो तरंगों के अधर,
उडगणों! गाओ पवन वीणा बजा।
पर, हृदय सब भांति तू कंगाल है,
उठ, किसी निर्जन विपिन में बैठकर।
अश्रुओं की बाढ़ में अपनी बिकी,
भग्न भावी को डुबा दे आंख सी।"

'पल्लव" में हमें शब्द रचना एवम् छन्द सौंदर्य के विशेष दर्शन होते हैं। 'पल्लव" की 'उच्छ्वास" और 'आँसू" कविता प्रेम भावना की उत्कृष्ट रचनाएँ हैं। 'पल्लव" सौन्दर्यपूर्ण कविताओं का संग्रह है जिसमें अलंकृत छवि एवम् रंगीन कला अपनी पूर्णता को प्राप्त है। 'परिवर्तन" 'पल्लव की विशेष रचना है जो कि कवि की न केवल साहित्यिक एवम् मानसिक प्रवृत्तियों का परिचायक है अपितु उसमें जीवन के बाह्य एवम् आंतरिक दोनों रूपों का सौष्ठव पूर्ण दिग्दर्शन होता है। 'पल्लव" में वर्णित "बादल" शैली के "The Cloud नामक कविता का न केवल छायानुवाद ही है अपितु भावानुवाद भी है। 'बादल' की कल्पना कठिन ही नहीं है अपितु उसे वे अत्यन्त अधिक ऊँचाई पर भी ले गये हैं। इस सम्बन्ध में एक कथन याद आता है—

'जिस प्रकार सरिता उद्गम स्थान से ऊबड़ खाबड़ पर्वत श्रेणी पर से गिरती, गरजती, गड़गड़ाती हुई अग्रसर होती है ठीक उसी प्रकार कविता मानव हृदय के भाव कूप से 'कल्पना प्रवाहधारा का रूप धारण कर मस्तिष्क एवम् बुद्धि के कगारों में से बहती हुई कवि की नादमय वाणी में शब्द चित्त में बुदबुद होकर गिरती है। कड़कती हुई गरजती हुई सरिता में नाव चलाना दुर्निवार है उसी प्रकार कवि की प्रकृत (natural) विचार की प्रकृतता समझना कठिन है।' यथा

'फिर परियों के बच्चे से हम सुभग सीप के पख पसार।
समुद्र पैरते, श्रुति ज्योत्सना मे पकड इदु के कर सुकुमार।"

आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं कि—

" 'पल्लव' के भीतर 'उच्छ्वास", 'परिवर्त्तन" और "बादल' आदि रचनाओं को देखने से पता चलता है कि यदि 'छायावाद" के नाम से एक "वाद" न चला गया होता तो पत जी स्वच्छन्दतावाद के शुद्ध एवम स्वाभाविक मार्ग (True romanticism) पर ही चलते। उन्हें प्रकृति की ओर शीघ्र आकर्षित होने वाला, उसके बीच खुले और चिरतन रूपों के बीच खुलने वाला हृदय प्राप्त था। यही कारण है कि "छायावाद" शब्द मुख्यत शैली मे चित्र भाषा के अर्थ मे ही उनकी रचनाओं मे घटित होता है।" सारांश में पत जी के शब्दों मे ही कह देना ठीक होगा—

" 'पल्लव' की छोटी बडी अनेक रचनाओं मे जीवन के और युग के कई स्तरों को छूती हुई, भावनाओं की सीढियाँ चढती हुई, तथा प्राकृतिक सौन्दर्य की झाकिया दिखाती हुई मेरी कल्पना 'परिवर्त्तन' शीर्षक कविता मे मेरे उस काल के हृदय-मथन और बाह्यिक सघर्ष की विशाल दर्पण सी है जिसमे 'पल्लव'—युग का मेरा मानसिक विकास एव जीवन की सग्रहणीय—अनुभूतियाँ तथा राग विराग का समन्वय बिजलियों से भरे बादल की तरह प्रतिबिबित है। इस अनित्य जगत मे नित्य जगत को खोजने का प्रयत्न मेरे जीवन मे जैसे 'परिवर्तन" के रचनाकाल से प्रारम्भ हो गया था, 'परिवर्त्तन" उस अनुसधान का केवल प्रतीक मात्र है। हृदय मथन का दूसरा रूप आप आगे चलकर 'गु जन' और 'ज्योत्सना' —काल की रचनाओं मे पायेंगे।"

'गु जन" हमे प्रकृति और कल्पना के साथ-साथ चितन सामग्री भी प्रस्तुत करता है। 'पल्लव' प्रकृति काव्य है तो "गु जन" मानव काव्य। दर्शन एवम् उपनिषद् के गहन अध्ययन के परिणाम स्वरूप अब हमारा सुकुमार कवि सौन्दर्य लोक से उतर कर मानव के चिन्तन भावलोक मे प्रवेश करता है। "गु जन मे प्रकृति मानव भावों की रगभूमि है— उसमे चेतना का स्पदन एवम् प्राणों का धडकन" होते हुए भी उसमे हम वही प्राकृतिक सौन्दर्य पाते हैं जो कि 'पल्लव' मे प्राप्त होता है। एक तारा" एवम् 'नौका विहार" हमारे सम्मुख अत्यन्त सुन्दर प्राकृतिक दृश्य चित्र प्रस्तुत करते हैं —

'तरु शिखरों के यह स्वर्ग विहग,
उड गया खोल निज पख सुभग।
किस गुहा नीड मे रे किस मग ?'

इसके अतिरिक्त 'गु जन' मे प्रकृति चेतना एवम् प्रकृति दर्शन का एक नूतन अध्याय का उद्घाटन करने वाली कविता है—"भावी पत्नी के प्रति' जिसमे कि कवि मानव प्रकृति एवम् प्राकृतिक जीवन मे तादात्मय का अनुभव करता है। "कवि 'प्राण' जब मुस्कराता है तब प्रभात भी सस्मित हो उठता है, सलज्ज उषा भी विहस पडती है एवम् निखिल विश्व शुद्ध एवम् पवित्र एकिवता मे परिणत हो जाता है और यह भावना यहाँ तक बढ़ी कि प्रकृति स्वय पुष्पलावी कन्या होकर कवि के सम्मुख भर भर डाली फूलों को हास बनकर, उल्लास, कोकिल, कुछ कोमल बोल, शरद् रजत मुस्कान आदि उपस्थित हो पूछती है"—

"लाई हूँ फूलों का हास
लोगी मोल, लोगी मोल ?
तरल तुहिन वन का उल्लास
लोगी मोल, लोगी मोल ?"

इसके उपरान्त पत जी अपने सौन्दर्य-युग-युग की अतिम एवम् प्रगति युग की प्रारम्भिक रचना हमारे सम्मुख प्रस्तुत करते हैं और वह है— 'युगान्त'। 'युगान्त' का आविर्भाव होते ही

कवि के सौन्दर्य कालीन युग का युगान्त होता है। कवि ने एक समय कहा था—

"कुसुमों के जीवन का पल,
हसता ही जग मे देखा।"

किन्तु जब उन्होने सौन्दर्य लोक मे उतरकर मानव के चिरतन भाव जगत मे प्रवेश करके वस्तु जगत म अपनी आखे दौडाई तो देखा—

जग पीडित है अति दुख से,
जग पीडित अति सुख से—और

फलस्वरूप उन्हे जो प्रकृति के अमेय सौन्दर्य के प्रति विश्वास था वस वह धीरे धीरे अविश्वास के पथ पर अग्रसर होने लगा और अन्त मे कवि ने कह दिया—

'कहाँ मनुज के अवसर,
देखे मधुर प्रकृति मुख।
भव अभाव से जर्जर,
प्रकृति उसे देगी सुख ?'

किन्तु कवि ने पहले जो सौन्दर्य उल्लास एवम् स्नेह के दर्शन किये थे वह भावना अब कवि जगत म फैलाना चाहता है—

'सुन्दरता का आलोक स्रोत है,
फूट पडा मेरे मन मे,
जिससे नवजीवन का प्रभात होगा
फिर जग के आंगन मे।"

आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं कि 'गु जन" तक वह (कवि) जगत से अपने लिये सौन्दर्य और आनन्द का चयन करता प्रतीत होता है, 'युगान्त" मे आकर वह सौन्दर्य और आनन्द के जगत मे पूर्ण प्रसार देखना चाहता है। कवि की सौन्दर्य भावना अब व्यापक होकर मगल भावना के रूप म परिणत हुई है।" युगान्त' तक कवि के विकास रूप है वह बड़ा ही मनोहर एवम् हृदय स्पर्शी रहा है। वह प्रकृति सौन्दर्य से नारी सौन्दर्य नारी सौन्दर्य से जीवन दर्शन और जीवन दर्शन मे मानव जगत के यथार्थ रूप के प्रति प्रेम विकसित होता रहा है। इसके अतिरिक्त प्रकृति का उपासक' कवि पत कहीं कहीं प्रश्नकर्ता के रूप मे भी उपस्थित होता है। वह वर्डसवर्थ' की भाँति —

If this is Natures holy plan
Does is not pain me to think
What man has made of Man"

प्रश्न पूछते हैं—

है पूर्ण प्राकृतिक सत्य, किन्तु मानव जग।
क्यों म्लान तुम्हारे कु ज, कुसुम, आतप खग॥

कवि "तितली" से पूछता है—

"प्रिय तितली ! फूल सी ही-फूली
तुम किस सुख मे रही हो डोल ?
× × ×

आगे—

'क्या फूलों से ली, अनिल कुसुम !
तुमने मन की मधुर मिठास ?'

कवि के अब चिन्तन के उपवन मे प्रविष्ट हो जाने से एवम् बौद्धिकता के पुष्प से आकर्षित हो जाने के फलस्वरूप अब प्रकृति 'युगवाणी' मे बहुत पीछे रह गई एवम् अब मानव उनका (कवि का) प्रधान विषय बन गया। अब तो उन्हे मानव प्रकृति से भी अधिक सुन्दर लगने लगा—

सुन्दर हैं सुमन, विहग सुन्दर,
मानव तुम सबसे सुन्दरतम।'

इसी काल मे कवि महोदय कांट, बर्कले, हेगेल और मार्क्स का अध्ययन कर रहे थे जिसकी प्रतिध्वनि उनकी उस काल विशेष की रचनाओं से निसृत होती है। उन्होंने तो स्वय लिखा है कि 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' मे मेरी क्राति की भावना मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित ही नहीं होती उसे आत्मसात करने का प्रयत्न करती है।' 'युगान्त, 'युगवाणी,' और 'ग्राम्या' को देखकर लोगो ने समझा वे मार्क्सवादी हो गये किन्तु वास्तव मे उन्हें एक ओर मार्क्सवाद प्रभावित करता था तो दूसरी ओर गांधीवाद भी। इस काल मे कवि के

मस्तिष्क में मार्क्सवाद एवम् गाधीवाद का द्वन्द्व मचता रहा। वे इस भयानक द्वन्द्व से घबडा उठे और फिर से नैसर्गिक सौन्दर्य प्रवृत्ति की ओर अग्रसर होने लगे (यथा 'सन्ध्या के बाद" एवम् 'रेखा चित्र में)। कवि की सौन्दर्य भावना (प्राकृतिक) पुन तीव्र रूप से जाग्रत होने ही वाली थी कि कवि की बौद्धिकता ने उस मनोहर भावना का सहार कर दिया। कीट्स' ने ठीक ही कहा है कि 'दर्शन के स्पर्श से सौन्दर्य का नाश हो जाता है।' अत कवि विवश हो कह उठता है–

"यहाँ न पल्लव वन में मर्मर,
यहाँ न मधु विहगों में गुजन।
जीवन का सगीत बन रहा,
यहाँ अतृप्त हृदय का रोदन।'

किन्तु अगर वास्तव में देखा जावे तो 'ग्राम्या' की अवस्था तक कवि का मन डँवाडोल रहा वह कभी मार्क्सवाद की ओर झुकता और कभी गाधीवाद की ओर अग्रसर होता।

इसके पश्चात् तो प्रकृति "स्वर्ण किरण" में केवल प्रतीक विधान ही रह गई एवम् 'स्वर्ण धूलि' में तो प्रकृति का प्रत्यक्ष वर्णन का परित्याग कर कवि अध्यात्म के सूक्ष्म विवेचन के हेतु अध्यात्मिक-ससार में प्रविष्ट हुआ। 'युगपथ" की 'कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रति' एवम् 'स्वर्ण के वर्णन में' पत जी फिर सौन्दर्य प्रवृत्ति की ओर अग्रसर होने लगते हैं किन्तु वे पुन सजग हो उठे एवम् उसके पश्चात् से तो उनके काव्य में दार्शनिकता की पुट बढती ही जाती है। इसके उपरान्त "उत्तरा" में तो प्रकृति केवल मानव की उपासिका बन गई जबकि 'वीणा' में वह स्वय उसे तुतलाकर 'माँ" कह मत्र मुग्ध होता था।

सचमुच से पतजी के साहित्यिक विकास की एक लम्बी कहानी है। 'वीणा' के तारों में अपनी किशोर कल्पना को उभारने वाला, 'ग्रथि' में अपने प्राणों की सिमटी हुई तीव्र व्यथा की गाँठे खोलने वाला कवि 'पल्लव', 'युगवाणी', 'युगान्त' और 'ग्राम्या' का लम्बा मार्ग पार कर आज अपनी उर्ध्व चेतना के 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' की दिव्य आलोकमयी भूमिका पर पहुँच गया है जैसे हिमाचल के प्रागण में खेलने वाली रजत-रेखा सी सरितधार धीरे धीरे महानद बनकर महासमुद्र में मिल गई हो।'

(शिवचन्द्र नागर)

पत जी के प्रकृति प्रेम की एक विशेषता रही है कि प्रकृति को उन्होंने सजीव सत्ता रखने वाली नारी के रूप में देखा है। उन्होंने स्वय कहा है– 'जब कभी मैंने प्रकृति से तादात्म्य का अनुभव किया है तब मैंने अपने को भी नारी रूप में अकित किया है।" 'पल्लव' में माँ, सहचरी, और प्राण, युगवाणी' में भी जननी, सखि, और प्यारी शब्दों का प्रयोग हुआ है एवम् इसके अतिरिक्त 'वीणा' की आधे से अधिक रचनायें 'माँ' को सम्बोधित हैं।

प्रमजी की रोमाटिक कविता ने जिस प्रकार प्रकृति के अन्तस्तल में प्रविष्ट होकर उसमें अमर सौन्दर्य, अलौकिक रहस्य तथा जीवन के मधुर सम्बन्ध के चित्र अकित किये हैं उसी प्रकार छाया-वादी कवि पत ने प्रकृति प्रिय गान गाये हैं–

"सिखा दो ना हे मधुप कुमारि,
तुम्हारे मीठे मीठे गान।
कुसुम के चुने कटोरों से,
करा दो ना कुछ-कुछ मधु पान॥"

और इसके उपरान्त तो कवि को ऐसा ज्ञान होने लगता है कि पक्षियो को भी उसी ने गान सिखाया है–

'विजन वन में तुमने सुकुमारि,
कहाँ पाया यह मेरा गान।
मुझे लौटा दो विहग कुमारि,
सजग मेरा सोने-सा गान॥"

मानवीकरण पत के काव्य की अपनी विशेषता है जो कि प्रकृति वर्णन को उत्कृष्ट एवम् सौन्दर्य

पूर्ण, रंगीली एवम् कोमल बनाने में सहयोगी के रूप में उसमें समन्वय कर उसके साथ अग्रसर होता है। 'युगवाणी' में संग्रहित मानवीकरण की दो कवितायें—'दो मित्र" और 'सांझ में नीम" सुंदर है—

"फूट पड़ा लो निर्झर,
मरूत कम्प अर।
झूम झूम झुर झुर झर,
भीम नीम तरू निर्भर।
सिहर सिहर थर थर थर,
करता सर मर चर मर।"

पंत जी एक कुशल शब्द शिल्पी हैं, उनमें चित्रात्मकता, चित्रोपमभाषा तथा अलंकार विधान द्वारा स्वरूप निर्देश की प्रवृत्ति का आधिक्य है जिसके कारण प्रकृति वर्णन का स्वरूप और भी सुन्दर निखर कर हमारे सामने उपस्थित होता है।

'सरकाती पट
खिसकाती लट
शरमाती झट
नव निमित दृष्टि से देख उरोजों के युग घट"

× × ×

"वह मग में रुक
मानों कुछ झुक
आंचल संभालती,
फेर नयन मुख
पा प्रिय की आहट"

इनमें शब्द चित्र का सौंदर्य बड़ा ही मनोहर एवम् अद्भुत है। इसके अतिरिक्त पंत जी प्रत्येक दृश्य का गति का चित्र बड़ी कुशलता से अंकित करते हैं। "कुमान्त" में सन्ध्या चित्र इने गिने ही शब्दों में बड़े ही सौष्ठव पूर्ण ढंग से पूर्ण कर दिया है जो कि ध्वन्यात्मकता की बाहुल्यता के कारण अर्थ के साथ सन्ध्या का चित्र भी प्रस्तुत कर देते हैं।

"बांसों की झुरमुट,
सन्ध्या का झुटपुट।
हैं चहक रहीं चिड़ियाँ
टी वी टी टुट टुट।"

अंतिम पंक्ति तो चिड़ियों की चहचहाहट भी हमारे कानों तक पहुँचा देती है। यह है हमारे सुकुमार, भावुक एवम् 'प्रकृति पुजारी' कवि पंत जी की विशेषता जो कि प्रायः कवियों में नहीं के बराबर ही होती है। इसके अतिरिक्त उनके द्वारा अंकित प्रकृति के गत्यात्मक चित्र भी अत्यन्त सुन्दर हैं—

'उड़ गया अचानक लो भूधर,
फड़का अपार पारद के पर।
शेष रह गये हैं निर्झर
है टूट पड़ा भू पर अम्बर।

इतना ही नहीं हमारे सुकुमार-कवि, सौन्दर्य द्रष्टा पंत जी को रंग का ज्ञान भी अत्यन्त अधिक है। यह रंग का ज्ञान उनकी चित्रण शक्ति को उच्चतम् शिखर पर ले जाने में बड़ा ही सहायक रहा है। उन्होंने न केवल अलग अलग रंगों का प्रयोग किया है अपितु मिश्रित रंगों का प्रयोग भी बड़ी कुशलता पूर्वक किया है।

"देखता हूँ जब पतला,
इन्द्र धनुषी हल्का।
रेशमी घूँघट बादल का,
खोलती है कुमुद कला। —कवि

कुशल चित्रकार की भांति रूप रंगों का प्रयोग तो करता ही है किन्तु कभी कभी वह इनके अतिरिक्त स्पर्श और गंध का भी सजीव चित्रण प्रस्तुत करते हैं।

"फैली खेती में दूर तलक,
मखमल सी हरियाली'

× × ×

"महके कटहल मुकुलित जामुन
जंगल में झरबेरी फूली'।

प्रकृति ने सचमुच में कवि के हृदय को अपने अपरिमित सौन्दर्य भंडार के साथ इतना अधिक आकर्षित किया है कि उसके 'हृवीणा के तार' झंकृत हो उठे एवम् उसकी झंकार ने कवि को

जो वाणी एवंम् गति प्रदान की है वही पंत के काव्य का सम्बल है, वही उसका वैभव है एवम् वही उसका सर्वस्व है। इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र लिखते हैं कि— पंत का प्राकृतिक वैभव पर तो पूर्ण अधिकार रहा ही है, प्रकृति के रम्य रूप आकाश, चन्द्र, सूर्य, तारागण, आतप चादनी इन्द्रधनुष असख्य फूल पक्षी वृक्ष लतायें, पर्वत नदी, निर्झर और सागर 'सोना चाँदी, मणि माणिक्य, सभी अपने रूप रगों का वैभव लिये कवि कल्पना के सकेतों के साथ नाचते हैं। 'स्वर्ण किरण' में यह क्षेत्र और भी विस्तृत हो गया है और रूप रग के रोमानी उपकरणों के अतिरिक्त आध्यात्मिक जीवन के मागलिक उपकरणों का उदाहरण के लिये मंदिर, कलश दीप शिखा, हवि, नीराजन, रजतथरियाँ, अभिषेक, कर्पूर, चदन, गगाजल, अमृत आदि का भी यथेष्ट प्रयोग हुआ है"—

"चन्द्रा तपसी स्निग्ध नीलेमा
मत्त धूम-सी छाय ऊपर।"
× × ×
"दीप शिखा सी जले चेतना
मिट्टी के दीपक से उठकर।"

सचमुच में पत सरीखा काव्य सौन्दर्य द्रष्टा साहित्य में मिलना दुलभ ही है उनका काव्य— "सगीत सुरभि एवम् सौन्दर्य" का सगम है। उनकी कल्पना कामनीय शब्द रेशमी, एवम् अभिव्यक्ति विधान बडा ही नाजुक है।

अत में डा० देवराज के शब्दों में कह देना यथेष्ट होगा—'पन्त के सौन्दर्य दृष्टि की प्रधान विशेषता है—कोमलता, प्रकृति एव, नारी की सुकुमार कोमल छवियो से उन्हें सहज ममत्व है। 'ओ ये पल्लव जाल।' 'अरी सलिल का लोल हिलोर' सिखा दो न अय मधुप कुमारी, मुझे भी अपने मीठे गान' आदि पक्तियाँ उनके हृदय की सहज कोमलता को व्यक्त करती है।

"ज्योत्सना" मे सध्या प्रकाश को जहाँ तहाँ बडे कोमल स्पर्शों से चित्रित किया गया है—प्रिये प्राणों की प्राण', आज रहने दो यह गृहकाज' आदि व्यजनाये भी कवि की अपार कोमलता का परिचय देती है। काश की कोई भाग्यशालिनी नारी इस हृदय के प्रेम का उपयोग कर पाती।" साहित्य मे पत जी ही एक ऐसे कवि हैं जो कि प्रकृति क्षेत्र में हमारा प्रतिनिधित्व कर रहे हैं।

(शेष पृष्ठ १४ का)

बसै निकट कमलन के जनमन रस पहिचानें" शब्दों मे प्रकृति के उदाहरण से मीठी चुटकी लेकर मे सात्वना देती हैं। सूर ने कहीं कहीं प्रकृति के व्यापार मे उपदेश का भी आभास दिया है —

'यह जग-प्रीति सुआ सेमर ज्यों, चाखत ही उड़ि जाय'

अथवा

'जदपि मलय वृक्ष जड़ काटत कर कुठार पकारै।
तऊ सुभाय सुगध सुशीतल, रिपु तन ताप हरै।'

इस प्रकार इस निष्कर्ष पर पहुँचाया जा सकता है कि सूर के काव्य मे प्रकृति चित्रण काफी मात्रा मे हुआ है। पर फिर भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि सूर प्रकृति के कवि नहीं थे। अपने उपास्य का गुणगान करना, प्रेम भक्ति की सरिता प्रवाहित करना ही उनका उद्देश्य था। अत उनको प्राप्त होता है कृष्ण के क्रिया कलापों की पृष्ठ भूमि के रूप में ही अधिकतर प्रकृति चित्रण अपने सीमित क्षेत्र के भीतर जो मनोमुग्धकारी भावों तक ही सीमित था। हमे प्रकृति चित्रण केवल कृष्ण की रूप माधुरी के दिग्दर्शन के रूप मे ही मिलते हैं। उनका क्षेत्र यद्यपि संकुचित है, तथापि प्राकृति के व्यापारों का मानव व्यापारों से उन्होंने ऐसा सुदर सम्बन्ध किया है कि कोई कवि उनकी समता नहीं कर सकता।

'गोदान' का रचना विधान

[प्रो० सत्येन्द्र चतुर्वेदी एम ए]

अगर लेख के प्रारम्भ में ही यह कह दिया जाय कि रचना विधान की दृष्टि से प्रेमचन्द जी अपने अति विख्यात उपन्यास 'गोदान' में नितांत असफल रहे हैं, तो विशेष असगत न होगा। प्रस्तुत लेख का उद्देश्य प्रेमचन्द जी के अनुभूति पक्ष की विशिष्टताओं अथवा असगतियों का सूक्ष्म विश्लेषण करना नहीं प्रत्युत प्रमुखत आलोच्य ग्रथ के कथासयोजन तथा शिल्पविधान पर एक समीक्षक की दृष्टि से विचार करना है। किन्तु यह मूल्यांकन सभी पूर्वाग्रहों और प्रभावों से सर्वथा मुक्त होना अपेक्षित है।

यह निर्विवाद रूपेण सत्य है कि गोदान की कहानी केवल होरी की गाथा नहीं वरन न्यूनाधिक रूप में भारत के तत्कालीन ग्रामीण समाज की कहानी है, युग-युग से शोषित और प्रताडित एक धरती के लाल का करुण उपाख्यान है। जाक की तरह केवल खून ही नहीं जीवन का सम्पूर्ण सत्व चूस डालने वाले साहूकार और जमींदार के फौलादी शिकजो मे कसा हुआ सहज अन्ध विश्वास और मानवीय दुर्बलताओं से ग्रस्त धर्म भीरू होरी यथाथ जीवन की प्राण शोषी विभीषिकाओं के थपेडे खाता हुआ जब अन्त मे अपने प्राणविसर्जन करता है, तब हमारे ऊपर बरबस करुणा और वेदना की एक अमिट छाप छोड जाता है। किन्तु यहाँ द्रष्टव्य यह है कि कथा की जो मूलधारा गोदान में आदि से अन्त तक प्रवाहित होती है और जिसकी चरम परिणिति होरी के कारुणिक अवसान के साथ हो जाती है, उसकी गति सततरूपेण समान अप्रतिहत बनी रहती है अथवा उसमे अन्य प्रसगों के अस्वाभाविक मिश्रण से स्थल स्थल पर विक्षेप आते हैं। जब हम इस दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ का विवेचन करते है तो अन्त मे हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पडता है कि सम्यक् रस परिपाक और सम्पूर्ण कथावस्तु मे एक सूत्रता बनाये रखने के उद्देश्य मे प्रेमचन्द जी पूरी तरह असफल हुए है।

स्पष्टत 'गोदान' मे दो प्रमुख कथाएँ हैं-होरी और उसको घेरे हुए ग्रामीण वातावरण की कथा तथा शहरी जीवन का यथाथ चित्रण उपस्थित कर देने वाली खन्ना मेहता आदि की कथा। जैसा कि उपन्यास पढने पर एक सामान्य पाठक को प्रतीत होगा और साथ ही उपन्यासकार का भी सभवत मूल मन्तव्य मालूम होता है कि गोदान की मुख्य कथा तत्कालीन गाव और गांव वासियों की दयनीय दशा से सम्बन्धित है। इस दृष्टि से तात्विक रूप में गांव की कथा को हम आधिकारिक कहेंगे और दूसरी—शहरी-जीवन की कथा-को प्रासगिक। किन्तु क्या शहरी समाज का इतना व्यापक और विस्तृत चित्रण कर देने वाली दूसरी कथा उपन्यास पढते समय केवल प्रासगिक मात्र प्रतीत होती है। एक तर्कशील पाठक की भांति अत्यन्त विनम्र किन्तु दृढ शब्दों मे हमे यही कहना होगा कि गोदान का रचना विधान कुछ ऐसा बिखरा हुआ (unwieldy), सा होगया है कि प्रेमचन्द जी उस अस्तव्यस्तता के बीच सफलता के साथ एक सामजस्यपूर्ण समीन्तता उत्पन्न नहीं कर सके हैं और इसीलिये दूसरी कथा पहिली के समक्ष गौणस्तरीय कदापि प्रतीत नहीं होती।

गोदान मे कुल चार सौ नब्बे पृष्ठ हैं। अगर उसका विभाजन ग्रामीण समुदाय की कथा एव शहरी जीवन की कथा के आधार पर करते हैं तो हम पाते हैं कि वे क्रमश २६५ तथा २२५

पृष्ठ घेरती हैं। इस प्रकार दोनों प्रकार के समाज चित्रण को लेखक ने लगभग समान स्थान दिया है। किन्तु हमारी मूल आपत्ति इस कारण किंचितमात्र भी नहीं है कि गोदान की मुख्य-कथा ने प्रासंगिक कथा की तुलना में बहुत अधिक मात्रा में पृष्ठ क्यों नहीं रगे। क्योंकि बहुत बार यह भी सम्भव है कि मूलकथा की अपेक्षा प्रासंगिक कथा बहुत अधिक आकार घेर ले और मुख्य वस्तु के आरम्भ और अन्त में ही दर्शन हों। परन्तु प्रश्न यह है कि इन विभिन्न कथानकों का पारस्परिक सम्बन्ध कितना अविच्छिन्न और अविभाज्य है। कभी-कभी हम किसी कृति में मुख्य पात्र अथवा मुख्य घटना के अतिरिक्त विरोधी वृत्ति वाले व्यक्तियों और उनके कारनामों के दर्शन करते हैं, किन्तु उसका भी अवश्य कुछ महत्व होता है। कभी तो दूसरी श्रेणी के व्यक्तियों की सृष्टि मुख्य चरित्रों के व्यक्तित्व को अधिक स्पष्ट दिखाने के लिये की जाती है कभी प्रतिपाद्य समस्या पर सर्वांगीण रूपेण प्रकाश डालने के उद्देश्य से। अतः दोनों का सम्बन्ध अटूट और अविच्छेद्य होता है। पर प्रस्तुत उपन्यास की कथा वस्तु पर जब हम इस दृष्टि से विचार करते हैं तो बरबस हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उल्लिखित दोनों कथानकों का आपस में कोई दृढ़ और सहज सम्बन्ध नहीं है। ग्रामीण और शहरी जीवन की कथाएं बहुत अस्वाभाविक तरीके से अत्यन्त क्षीण तन्तु से बन्धी हुई हैं। सूक्ष्म रूप से उपन्यास पढ़ने पर स्पष्ट झलकता है कि उपन्यासकार ने कथावस्तु के साथ जबर्दस्ती की ज्यादती की है। ग्रामीण कथा से शहरी जीवन की कथा का सम्मिलन कहीं भी तो सहज स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता—अनावश्यक की ठूँसाठासी प्रतीत होती है। अनेकों स्थलों पर तो शहरी जीवन और उसकी विशेषताओं के चित्रण में उपन्यासकार हमें इतना उलझा देता है कि हम उस समय होरी और उसकी समस्याओं को बिल्कुल भूल जाते हैं। एक बार तो सड़सठ पृष्ठ तक। बीच के कुछ समय को छोड़कर तो भी अप्रासंगिक रूप से हमें होरी के दर्शन ही नहीं होते और न उपन्यास में वर्णित मूल समस्या पर इन पृष्ठों में किसी प्रकार का प्रकाश ही पड़ता है। अन्यत्र भी कई स्थलों पर जहाँ लेखक मेहता मालती, खन्ना गोविन्दी तथा रायसाहब और तखा आदि के विवाद में पड़ता है वहीं वह मूल कथा को बहुत पीछे छोड़कर उन्हीं प्रसंगों में इतना तल्लीन हो जाता है कि वे स्थल मूलवस्तु से असम्बद्ध स्वतन्त्र कथानक से प्रतीत होते हैं। पृथक-पृथक रूप से ऐसे स्थलों और इन अवसरों के कथानक और संवादों का मूल्य हो सकता है पर निर्विवाद रूप से प्रस्तुत उपन्यास की मुख्य कथावस्तु के साथ इनका कोई तात्कालिक प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता। कई स्थल तो बहुत ही अजीब और बेतुके से लगते हैं। विशेष रूप से मेहता का खान बनकर सभी को आतंकित करना तथा मिर्जा और मेहता का कबड्डी के मैदान में उतरना—ये दोनों दृश्य तो बहुत ही उपहासास्पद लगते हैं। और इस सब का परिणाम यह हुआ है कि लेखक समष्टि की दृष्टि से उपन्यास के साथ न्याय नहीं कर सका है। समीचीन यह होता कि वह प्रस्तुत दोनों मुख्य कथानकों पर आधारित दो स्वतन्त्र उपन्यास लिखता—क्योंकि दोनों का सम्बन्ध सूत्र इतना दुर्बल है कि सहज ही में उन्हें थोड़े हेर फिर के पश्चात् पृथक पृथक किया जा सकता है प्रस्तुत उपन्यास में यह उखड़ापन (inconsistency) सा नहीं प्रतीत होता।

आचार्य चाणक्य में इतिहास और कल्पना

(डा० पद्मसिंह शर्मा "कमलेश" एम० ए०, पी० एच० डी०)

'आचार्य चाणक्य' में इतिहास कितना है और कल्पना कितनी। लेखक श्री सत्यकेतु विद्यालंकार भारत के प्रसिद्ध इतिहास लेखकों में से हैं और मौर्य साम्राज्य पर तो उन्होंने विशेष रूप से ग्रंथ ही लिखा है। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से स्वीकृत तथ्यों की अवहेलना उनके द्वारा नहीं हो सकती, यह आशा करना स्वाभाविक है। परन्तु उपन्यास के लिये कल्पना का योग भी अपरिहार्य है। स्वयं उपन्यास लेखक ने इसे स्वीकार करते हुए कहा है कि "मैंने भी इस उपन्यास में कल्पना से बहुत काम लिया है।" अस्तु हम यहाँ पहले इतिहास और फिर कल्पना पर विचार करेंगे।

इतिहास पर विचार करने के लिये हम निम्नलिखित शीर्षकों को आधार बनाना सुविधाजनक समझते हैं।

१—सिकन्दर तथा अन्य यवन शासकों सम्बन्धी विवरण।

२—चन्द्रगुप्त मौर्य और चाणक्य सम्बन्धी विवरण।

३—नन्द वंश सम्बन्धी विवरण।

४—गान्धार राज आम्भि और केकय राज पोरु सम्बन्धी विवरण।

५—तक्षशिला और पाटलिपुत्र सम्बन्धी विवरण।

६—अन्य स्फुट बातें।

१—सिकन्दर तथा अन्य यवन शासकों सम्बन्धी विवरण—इतिहास के आधार पर यह सर्वमान्य बात है कि मकदूनिया के राजा फिलिप का बेटा सिकन्दर या एलेक्जेण्डर बड़ा महत्वाकांक्षी था और बचपन से ही विश्व विजय के स्वप्न देखा करता था। यूनान, ईरान और भारत ही ऐसे देश थे, जो सभ्य समझे जाते थे अतः तीनों को उसने जीतकर एकच्छत्र सम्राट बनने की सोची। राजगद्दी मिलने के दो ही वर्ष (३३४—३३८, ई०पू०) में उसने मिश्र और पश्चिमी एशिया को जीत लिया और अगले दो वर्ष में उसने पारसी साम्राज्य को भी अपने अधिकार में कर लिया और पारस की राजधानी पास, जिसे यूनानी पार्सिपोलिस (पार्सों की पुरी) भी कहते थे, फूँक डाला। उस समय पारस का राजा दारयवहु था।

३३० ई० पू० के अन्त में वह भारत की सीमा पर जरक या शक स्थान पर आ पहुँचा। वसन्त ऋतु के आते ही वह अफगानिस्तान के दक्षिणी पहाड़ पर चढ़ कर हरउवती (आधुनिक कन्धार) प्रदेश में आ गया। वहाँ उसने अलग्जन्द्रिया, किला बनाया और कुछ फौज रखी। फिर काबुल नदी की घाटी में पहुँचा और करीकर नामक स्थान पर अलक्जाण्ड्रिया नगरी बसाई। उसके बाद पंजशीर नदी की धारा से रास्ते वह हिन्दूकुश के पार बाख्त्री में प्रविष्ट हुआ और बाख्त्री के परे सीर नदी तक का सुग्ध (आधुनिक बोखारा समरकन्द) प्रदेश उसके हाथ लगा।

इसके बाद वह भारत की ओर चला। जब वह भारत की ओर चला तब उसकी सेना में मकदूनी सैनिकों के अतिरिक्त पारस आदि जीते हुए देशों के भाड़े के सिपाही भी थे। मध्य एशिया के शक सवार भी थे जो घोड़े पर चढ़े चढ़े बाण चलाने में निपुण थे। बाख्त्री की जो सेना सिकन्दर से हारी थी उसके साथ हिन्दूकुश के उत्तर तरफ के एक छोटे पहाड़ी

राज्य का सरदार एक भारतवासी था, जिसका नाम शशिगुप्त था। हारने के बाद शशिगुप्त सिकन्दर की तरफ जा मिला था। लेकिन तक्षशिला के राजा आम्भि ने बिना लडे ही सिकन्दर की आधीनता स्वीकार कर ली थी और उसके दूत सुग्ध में ही सिकन्दर के पास अधीनता का सन्देश लेकर आये थे। ३२७ ई० पू० मे सिकन्दर अपनी सेना सहित भारत के दरवाजे पर बसाये अपने किले अलेक्जेन्डिया पर आ पहुँचा। यहाँ से भारत की चढाई शुरू की।

भारत के ऊपर आक्रमण का सीधा तरीका था कि वह काबुल नदी के साथ साथ तक्षशिला पहुँच जाता पर उसने उत्तर के पहाडों मे कपिश प्रदेश की वीर जातियों के जीते बिना आगे बढना उचित न समझा क्योंकि उनसे पीछे खतरा हो सकता था। इन पहाडों मे अलीशांग, कुनार, पजकोरा (गौरी) और स्वात (सुवास्तु) नदियों की घाटियों मे छह महीने तक लडाईयाँ होती रहीं। यूनानी इतिहासकारों के अनुसार ये सब जातियाँ भारतीय थीं। अलीशांग और कुनार की घाटी वाली जाति अस्पस या अश्वक और गौरी और सुवास्तु की घाटी वाली जाति अससेन या अश्वाटक थी। अश्वाटकों की राजधानी का नाम मस्सग था। मस्सग के घेरे के समय गढ के अन्दर ७० ० वेतन भोगी वाहीक सैनिक थे। जब वे यूनानियों के सामने न ठहर सके तो अपने देश जाने की सोची। सिकन्दर ने उनसे शर्त की कि वे उसकी ओर से लडेंगे। उन्होंने स्वीकार कर लिया और ७ मील दूर डेरा डाल दिया। पर वे तो सिकन्दर पर पीछे से हमला करना चाहते थे। सिकन्दर को इस बात का पता चल गया और उसने रात के समय सोते हुए ही उनको घेर लिया। वाहीक वीरों के साथ स्त्रियाँ भी थीं। उनको बीच मे कर उन्होंने व्यूह बना लिया और अन्त तक वीरता से लडे। स्त्रियों ने भी बडे साहस का परिचय दिया।

इतिहास के आधार पर यह भी सत्य है कि तक्षशिला का राजा आम्भि स्वयं सिकन्दर से मिलने गया था और पश्चिमी गांधार के राजा हस्ती से सिकन्दर के युद्ध के समय सिकन्दर की ओर से लडा था। यह युद्ध एक महीने चला था। सिकन्द ने पुष्करावती को आम्भि के एक पिछलग्गू सजय को दे दिया था।

सिन्ध और झेलम के बीच तक्षशिला (पूर्वी गान्धार देश) का राज्य था। जहाँ के राजा आम्भि ने निमत्रण देकर सिकन्दर को बुलाया था पर झेलम के इस पार केकय देश का राज्य था जो कुछ और किस्म का था। सिकन्दर के दूत जब उसकी शरण मे गये तो उसने बेरुखी से उत्तर दिया कि वह युद्ध के मैदान मे उसका स्वागत करेगा। इसका नाम यूनानियों ने पोरु लिखा है। इधर अभिसार का राज्य भी पोरु से मिलने की तैयारी कर रहा था। सिकन्दर ने देखा कि दोनों के मिलने से पहले ही चोट करना ठीक है। पोरु और सिकन्दर की सेनाएँ आमने सामने जुटी थीं। सिकन्दर को कोई मार्ग न था। लेकिन चतुराई उसमे हद दर्जे की थी। उसने दिखावा किया कि वह सदियों तक यों ही रहेगा पर एक वर्षा की रात को २० मील इधर या उधर हटकर पोरीस न दिपार कर गया। पोरु से घम सान लडाई हुई पर सिकन्दर के सामने पोरु की न चल सकी। परन्तु उसने भाग कर कायरता न दिखाई। पोरु ने अपने ऊपर वार करने को उद्यत आम्भि को घायल हाथ से बर्छी मारा कर वह बच गया। घायल पकडा गया। सिकन्दर के सामने लाया गया। सिकन्दर ने पूछा कि कैसा बर्ताव किया जाय तो तपाक से बोला—'जैसा राजा राजाओं से साथ करते हैं।

इसके बाद सिकन्दर ने ग्लुचुकायन नामक एक छोटे से सघ राज्य को जीतकर उसने ३७

नगर पोर के हवाले कर दिये। चुनाव (असिनी) के उस पार पद्र देश मे पोर का भतीजा छोटा पोर राज्य करता था। उसने बिना लडे ही हार मान ली। परन्तु रावी (इरावती) के पूर्व मे जिसे हम माझा कहते है, वीरकठ जाति रहती थी। इनका सघ राज्य था। इनके पडोस व्यास (विपासा) नदी पर क्षुद्रकों और इरावती की निचली धारा पर मालवों के सघ राज्य थे। वे सब मिलकर सिकन्दर से लडने की सोच रहे थे कि सिकन्दर ने उनके मिलने से पहले ही कठों पर आक्रमण कर दिया। कठो ने सॉकल नगरी को तीन चक्र रथो के देकर शकट व्यूह से घेर दिया और ऐसे लडे कि सिकन्दर खीझ उठा। कठो की वीरता से खीझकर सिकन्दर ने सॉकल नगरी को भस्म कर दिया। कठों ने सघ राज्य मे प्रत्येक बच्चा सघ का होता था। माता पिता केवल सन्तान को पालते थे। सघ की ओर से प्रत्येक गृहस्थ के लिये निरीक्षक नियुक्त थे और एक महीने के जिस बच्चे को कुरूप या रोगी पाते थे, मरवा देते थे। युवक और युवती बडे होकर अपनी पसद के विवाह करते थे। मॉ-बाप का उसमे कुछ दखल न होता था। सौभूत नामक एक अन्य वाहीक राज्य मे भी ऐसी प्रथा थी।

अब सिकन्दर व्यास (विपासा) के किनारे था। व्यास को पार कर उसे यौधेय सघराज्य से पाला पडता। जिसकी सैनिक शक्ति कठो से कई गुनी अधिक थी। उन पर तथा अन्यवाहीक सघ राज्यो पर विजय पाता ता सिकन्दर को मगध से भुगतना पडता। जो विशाल राज्य था और जिसकी सर्वत्र धाक थी। यह देखकर सिकन्दर का दिल बैठ गया। उसने लाज बचाने को सैना को लौटने का हुक्म दिया। पैदल ही वह झेलम (वितस्ता) तक आया और जल तथा स्थल मार्ग से दक्खिन को प्रस्थान किया। लेकिन वहाँ भी उसे लडना पड़ा। पहले झेलम और चुनाव के सगम पर शिव और अगलस्स जातियों से सघ राज्यों से उसे मोर्चा लेना पडा। शिव तो बिना लडे मान गए पर अगलस्सो ने बीरता से उनका सामना किया। झेलम की धारा के कुछ नीचे जाने पर रावी के दोनों तटों पर वीर मालव थे। वे लडाई की तैयारी कर रहे थे। उनके पडौस मे व्यास के तट पर क्षुद्रकों का राज्य था। दोनो मिल रहे थे और क्षुद्रकों के एक वीर को दोनो सघ राज्यों की सैनाओं का सेनापति बनाया गया था। लेकिन उन्हें यह पता न चला कि सिकन्दर कब तक आगया। वे अपने जवानो को इकट्ठा करने मे ही लगे थे। क्षुद्रक सेना अभी आई न थी कि सिकन्दर की सेना मालवों पर टूट पडी। इनके मालव कृषक खेतों मे ही काट डाले गये। फिर भी वे वीरता से लडे। उन्हीं मे से एक के वार से सिकन्दर की छाती मे घाव लगा। जो पीछे चलकर उसकी मृत्यु का कारण हुआ। अच्छा होने पर सिकन्दर ने मालव क्षुद्रकों से उसने समझौता किया। उसने उनके स्वागत मे बडा भोज किया। मालव क्षुद्रकों के सौ मुखियों के लिए सौ सुनहली कुर्सियाँ डाली गई। जिनके चारो ओर जड़ी के कामदार पर्दे लटक रहे थे। भोज मे खूब शराब ढाली गई। भेंट पूजा भी हुई और जो वीरता से वश मे न हुए थे वे यों अधीन हो गए।

इसके बाद सिकन्दर का अम्बष्ट क्षत्रु और बसाति गणराज्यो म होकर जाना पड़ा पर कहीं लडाई नहीं हुई। अन्तिम सगम पर अलक्सन्द्रिया बसाकर वह सिंध की ओर बढा आगे सिंध मे मुचिकर्ण नायक राष्ट्र था। वह सिकन्दर के सामने न ठहर सका। मौचिकर्णिक लोग इकट्ठे हो कर समूह मे भोजन करते थे। सात्विक भोजन से उनकी उम्र १३० वर्ष की होती थी। उनके यहाँ दास न रक्खे जाते थे और धनी निर्धन का भेद न था। वे न्यायालयों मे भी कम जाते थे। मुचिकर्ण के आगे दो राष्ट्रों से और

शेष पृष्ठ १२० पर)

'बाणभट्ट की आत्मकथा' :—नारी की सफलता और सार्थकता

(श्री भँवरलाल जोशी एम० ए०)

'बाणभट्ट की आत्म कथा' के इस सूत्र रूप वाक्य को पढ़ कर कि 'नारी की सफलता पुरुष को बाँधने में है किन्तु सार्थकता पुरुष की मुक्ति में है।' हमें सहसा पाणिनीय सूत्रों की स्मृति हो आती है जिनके सम्यक् बोध के लिए विस्तृत व्याख्या अपेक्षित रहती है। नारी की 'सफलता' और 'सार्थकता' को समझने से पूर्व 'नारी तत्व' और 'पुरुष तत्व' का ज्ञान अपेक्षित है, जिसके लिए 'दर्शन' के क्षेत्र में अवलोकन करना होगा।

परम शिव से एक साथ ही दो तत्व प्रकट हुए थे—एक शिवतत्व और दूसरा शक्तितत्व। इन्हीं दोनों तत्वों के प्रस्पन्द विस्पन्द से यह संसार आभासित हो रहा है। वह अव्यक्त परम शिव अपने इन दो तत्वों से व्यक्त होता है और यह ससार उसका व्यक्त रूप है। इस व्यक्त ससार में दिखाई देने वाले जड मास पिण्ड न स्त्री है और न पुरुष हैं। वस्तुत पुरुष वह है जिस पिण्ड में शिव तत्व की प्रधानता है और जिस पिण्ड में शक्ति तत्व की प्रधानता है वही नारी है। नारी निषेधरूपा है। वह आनन्द भोग के लिए नहीं आती आनन्द लुटाने के लिए आती है। 'जहाँ कहीं अपने-आप को उत्सर्ग करने की, अपने आप को खपा देने की भावना प्रधान है वहीं नारी है।' जिस पिण्ड मे सुख दुख की लाख लाख धाराओं मे अपने आप को दलित द्राक्षा के समान निचोडकर (उत्सर्ग कर) दूसरे को तृप्त करने की भावना प्रबल है वही 'नारी तत्व' है और इसी को शास्त्रीय भाषा मे शक्ति तत्व' कहते है।

पुरुष और स्त्री दोनों अपने पृथक्-पृथक् रूप मे पूर्ण नहीं हैं अत उन्हें अपनी पूर्णता के लिए एक दूसरे की आवश्यकता रहती है परन्तु इन दोनों की आनन्दानुभव प्रणाली मे पर्याप्त भेद है। पुरुष, जिसमे पुरुष तत्व की प्रधानता और प्रकृति तत्व की न्यूनता है, बिना किसी वस्तु का अवलम्ब (माध्यम) ग्रहण किये भाव रूप सत्य मे आनन्द का अनुभव कर सकता है, अर्थात् पुरुष निर्गुण ब्रह्म की साधना द्वारा उस परम ज्योति के साक्षात्कार का आनन्द उपलब्ध कर सकता है अर्थात् पुरुष निर्गुण ब्रह्म की साधना द्वारा उस परमज्योति के साक्षात्कार का आनन्द उपलब्ध कर सकता है किन्तु 'स्त्री वस्तु-परिगृहीत रूप मे रस पाती है।' वह उस परम ज्योति तक पहुँचने के लिए माध्यम रूप मे किसी वस्तु को गृहण करने की अनिवार्यता अनुभव करती है। इसलिए पुरुष स्त्री की अपेक्षा अपनी साधना मे अधिक मुक्त है किन्तु स्त्री नहीं। इसी हेतु स्त्री को द्वन्द्वोन्मुखी कहा है। स्त्री अपने भीतर की अधिक मात्रा वाली प्रकृति को अपने भीतर वाले पुरुष तत्व से अभिभूति नहीं कर सकती इसीलिए उसे पुरुष तत्व' की प्रधानता वाले पुरुष की आवश्यकता पडती है।

इस विवेचन से यह भासित होता है कि नारी में आसक्ति की भावना प्रबल है। नारी की मोह लेने की शक्ति बडे बडे धीरों का धैर्य डिगा सकती है। जब नारी पुरुष को मोहित कर लेती है अर्थात् पुरुष मे जब स्त्री के प्रति आसक्ति प्रबल हो उठती है तब स्त्री मे विद्यमान रहने वाली आसक्ति भावना अपने यथार्थत्व को प्राप्त [illegible] लेती है। इस आसक्ति का [illegible] नारी की सफलता है। नारी [illegible] से पुरुष को बाँध लेती है, [illegible] स्वाथ है कि [illegible]

से पुरुष के भीतर वाले 'शिव तत्व' को विजित कर लिया। यही नारी की सफलता है।

'बाणभट्ट की आत्म कथा' में निपुणिका सर्व प्रथम बाणभट्ट की नाटक मण्डली में नर्तकी के रूप में आकर बाणभट्ट के प्रति आसक्त होती है, क्योंकि स्त्री में 'आसक्तित्व' तो है ही, अतः उसका बाणभट्ट के प्रति आसक्त होना असंगत नहीं कहा जा सकता। निपुणिका स्वयं कहती है, 'तुम (बाणभट्ट) नारी देह को देव मन्दिर के समान मानते हो, पर एक बार भी तुमने समझा होता कि यह मंदिर हाड़ माँस का है ईंट चूने का नहीं।" निपुणिका बाण को अपने उपर आसक्त कर लेना चाहती थी उसे मोहित कर लेना चाहती थी परन्तु बाणभट्ट की एक दिन अभिनय के समय हँसी का एक अन्य ही तात्पर्य समझकर उसने अपनी आशा को धूलि सात् होते देखा और वह चुपके से वहाँ से चल पड़ी। किन्तु बाण को उसके निकल जाने से इतना दुख हुआ कि उसने अपनी नाटक मंडली तोड़ दी और उस प्रकरण को शिप्रा नदी में बहा दिया। सुख दुख की अनुभूति किसी वस्तु के प्रति आसक्ति या मोह के ही तो कारण होती है। जिस के साथ रागात्मक सम्बन्ध ही नहीं, उसके भाव (स्थिति) या अभाव में सुख दुख जैसी अनुभूतियाँ हो नहीं सकतीं।

बाण स्वयं स्वीकार करता है कि 'जो प्रमत्त हँसी छः वर्षों से मेरा हृदय कुरेद रही है, उसका प्रायश्चित आज आसुओं से करना होगा।' निपुणिका के ये शब्द, "तुम्हारे ऊपर मुझे मोह था" इस तथ्य को और पुष्ट कर देते हैं। यहाँ बाणभट्ट को मोहित लेना ही निपुणिका की सफलता है। यही नारी की सफलता है।

जब नारी अपने आप को दूसरों के लिए गला देती है, अपने को निःशेष भाव से पुरुष को अपने प्रति (नारी के प्रति) रहने वाली आसक्ति से निःसंग कर देती है, उसे अपने मोह पाश से मुक्त कर देती है, तभी नारी की सार्थकता है। नारी तत्व का मूल ही यह है कि अपने को दूसरे के लिए निःशेष भाव से दे डालना। अपनी आत्मा का दान कर देने में ही 'नारी तत्व' की तत्वतः सार्थकता है अतः स्त्री की सार्थकता भी वस्तुतः इसी में है कि वह अपने आप को उत्सर्ग करके पुरुष को मुक्त बना दे।

बाण के आश्रय से भाग जाने के बाद निपुणिका में परिवर्तन आता है और बाणभट्ट के प्रति रहने वाला उसका मोह भक्ति में परिणत हो जाता है। वह स्वीकार करती है, 'अब मेरा मोह भक्ति के रूप में बदल गया है।" भट्टिनी के परिचय के बाद बाणभट्ट का मोह भट्टिनी और निपुणिका दोनों की ओर विभाजित हो कर बढ़ने लगता है और निपुणिका को इसका आभास मिल जाता है। वह खिन्न रहने लगी और नित्यश कृश होती गई। लौरभद्रह्द की यात्रा में वह अपने विकारों को बाण के सामने प्रकट करती है, "क्यों मुझे दूसरे के सुख से ईर्ष्या हो जाती है। मैं सेवा धर्म में भी असफल हूँ और सखि धर्म में भी।" परन्तु जिस दिन निपुणिका बाभ्रव्य से सुनती है कि, 'अपने को निःशेष भाव से दे देना ही वशीकरण है' उसी दिन से वह अपना लक्ष्य स्पष्ट रूप से पा लेती है। वह बाण को उसके प्रति रहने वाले मोह से मुक्त करने के लिए अपना उत्सर्ग कर डालती है। वासवदत्ता की भूमिका में अभिनय करती हुई बाणभट्ट से कह भी देती है "यह, तुम नहीं देखते कि वासवदत्ता ने किस प्रकार दो विरोधी दिशाओं में जाने वाले प्रेम को एक सूत्र कर दिया है।' निपुणिका का बाण के प्रति रहने वाला प्रेम आत्मोत्सर्ग की वह्निशिखा में तप कर उज्जवल हो गया है। डा० द्विवेदी जी के शब्दों में 'आत्मदान ऐसी वस्तु है जो दाता और गृहीता दोनों को सार्थक करती है।' अपनी आत्मा का उत्सर्ग कर पुरुष को

भौतिक प्रेम से मुक्त कर देना ही उसे उज्ज्वल प्रेम से तृप्त कर देना ही—नारी की सार्थकता है।

भट्टिनी के हृदय में भी शील की गंभीर धारा के अन्तस्तल में बाण के प्रति अजस्र प्रेम का अमुखरित स्रोता बह रहा है। यद्यपि भट्टिनी शब्दों द्वारा अपने प्रेम को अभिव्यक्त नहीं करती परन्तु उसका हृदय बाण की तरफ झुक चुका है। विलम्ब कर आने पर भट्टिनी मृदु तिरस्कार के साथ बाण को उलाहना देती हैं, 'इतनी देर करना ठीक नहीं है भट्ट।' एक स्थल पर तो भट्टिनी की हृदयस्थ भावना कंठ देश में आकर कुछ स्पष्ट सा संकेत कर ही देती है "आर्यावर्त जैसी विचित्र समाज व्यवस्था मैंने कहीं नहीं देखी है। × × यहीं देखो यदि तुम किसी यवन कन्या से विवाह करो तो इस देश में यह एक भयंकर सामाजिक विद्रोह माना जायगा। परन्तु यह क्या सत्य नहीं है कि यवन कन्या भी मनुष्य है और ब्राह्मण युवा भी मनुष्य है।" यहाँ भट्टिनी एक उदाहरण द्वारा अपने हृदयस्थ प्रेम को लक्षित कर देती है। बाण भी भट्टिनी की मनोहर दृष्टि में आकर्षण अनुभव करता है, मन्दार माला की भांति मेरे अन्तर और बाहर को आमोद मग्न कर रही थी।" स्थायीभावों में रति आमोदक भाव है। यहाँ उपर्युक्त 'आमोदमग्न' से रति का ही संकेत मिलता है। बाण के पुरुषपुर जाते समय भट्टिनी झुकी हुई आँखों को और भी झुका कर हृदय थाम कर कह उठती हैं, जल्दी ही लौटना।' उस समय भट्टिनी के प्रति मोहासक्त बाणभट्ट की अवस्था कितनी दारुण हो गई होगी? यह उसी के शब्दों में सुनिए, 'मैंने कातर कंठ के वाष्परुद्ध वाक्य को प्रयत्न पूर्वक दबा लिया। लेकिन अन्तरात्मा के अनल गह्वर से कोई चिल्ला उठा—'फिर क्या मिलना होगा?' इस प्रकार बाण पूर्ण रूप से भट्टिनी के प्रति आसक्त हो चुका है। यही भट्टिनी की सफलता है सार्थकता नहीं। भट्टिनी के 'स्त्रीत्व' ने बाण के 'पुरुषत्व' को विजित कर लिया है।

अब सुचरिता के जीवन को लीजिए। विरति वज्र ने अपनी माता के करुण आग्रह पर सुचरिता अपनी बाल्यकाल में विवाहिता पत्नी—का हाथ इन शब्दों के साथ—"मैं माता जी की आज्ञा से तुम्हारा हाथ पकड़ना चाहता हूँ। क्या तुम जीवन में मेरे लक्ष्य की ओर बढ़ने में मुझे सहायता पहुँचाने को तैयार हो?'—पकड़ लिया। किन्तु विरतिवज्र सुचरिता के आकर्षण के कारण अपनी नैरात्म्य की साधना में सफल न होकर प्रेम से विह्वल हुआ।

इसीलिए अमोघवज्र ने उसे अपने सौगत तंत्र में अनधिकारी समझा और उसे अघोरभैरव के पास दीक्षा के लिए भेज दिया जहाँ उसने अपनी 'शक्ति' सुचरिता के साथ दीक्षा ग्रहण की। 'अपने आप में मैं संपूर्ण हूँ। यह अनुभव करने वाली सुचरिता पति के उन शब्दों का पालन करती है जिन शब्दों के साथ उसके पति ने माता के सम्मुख उसका पाणिग्रहण किया था। वह अपनी सुख चिन्ता (भोगपूर्ण जीवन) को त्याग कर अपने आप को विरति वज्र के लक्ष्य के लिए अर्पित कर देती है। इसी में उसका जीवन सार्थक है। बाणभट्ट उसके सामने स्वीकार करता है, तुम सार्थक हो देवि! तुम्हारा शरीर और मन सार्थक है तुम्हारा ज्ञान और वाणी सार्थक है, सबसे बढ़कर तुम्हारा प्रेम सार्थक है" विरतिवज्र को अपने अक्षय से युक्त कर उसे उसकी साधना में सफल बनाना ही सुचरिता की सार्थकता है।

महामाया के जीवन में भी 'सफलता' और 'सार्थकता' दोनों पक्ष आये हैं। जब तक वह ग्रह वर्मा के रनवास में रही तब तक ग्रहवर्मा उसके मोह पाश में बँधा रहा यद्यपि महामाया की ओर से ग्रहवर्मा को आसक्त करने या न

(शेष पृष्ठ ११६ पर)

प्रगतिवाद का स्वरुप

[श्री प्रतापनारायण टंडन एम० ए०]

सन १६ ६ मे अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन मे प्रेमचद जी ने सभापति पद से बोलते हुये कहा था— हमारी कसोटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमे उच्च चिंतन हो स्वाधीनतक का भाव हो, सोंदर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयो का भाव प्रकाश हो जो हम मे गति पैदा करे, सुलाये नहीं 'उनके इन्ही विचारो को व्याख्या करते हुए एक विद्वान ने लिखा है— "जहा तक प्रगतिवाद का सम्बन्ध है, वे स्पष्ट रूप से इस बात की घोषणा करते है कि अच्छा साहित्य सदैव प्रगतिशील होता है। साहित्य जीवन की गभीर समस्याओं के सम्बन्ध में जनमत तैयार करने का शक्तिशाली साधन है। यह जीवन की व्याख्या करता है और उसे बदलता है। इसलिये प्रमचद केवल उन फूलो को प्यार करते हैं, जो पानी बरसाते है वे सौंदय के लिये सौंदर्य को प्रम नहीं करते। सोंदर्य वह है जो जीवन को ऊँचा उठाये। मनुष्य मनुष्य का शोषण करने के लिये पैदा नहीं हुआ बल्कि उसे जैसा बना दिया गया है। दोनों मे कोई प्राकृतिक विरोध नहीं है। इसके विपरीत उसका जीवन समाज के विकास पर आधारित है। इसलिये प्रगतिशील लेखक मनुष्य को समाज से अलग करके नहीं देखता। वह मनुष्य और समाज के बीच और भी गहरे नाते की कल्पना करता है।'[१]

श्री विश्वम्भर मानव" ने प्रगतिवाद को हिन्दी की नवीनतम प्रवृत्ति माना है।[२] इसके विपरीत डा० त्रिलोकीनारायन दीक्षित उसे कोई नई या चौंका देने वाली प्रवृत्ति नहीं मानते।[३] हां, यह दूसरी बात है कि आज उसका स्वरुप परिवर्तित हो गया है, जैसा कि श्री कृष्णविहारी मिश्र का विचार है। उन्होंने लिखा है—"प्रगति का शील युग युग से रहा है परन्तु प्रगतिवाद वर्तमान की देन है। प्रगति का अर्थ शील के रूप मे केवल यही है कि साहित्य की भावना अपने युग की परिस्थितियों की आवश्यकता के अनुकूल अपना परिवर्तित कर लेती है।'[४]

प्रगतिवाद की परिभाषा श्री रामपूजन तिवारी ने इस प्रकार की है—' जिस साहित्य म वर्तमान काल के सकटों के कारणों के विवेचन के साथ 'क्या होना चाहिये' इसकी ओर भी निर्देश रहेगा हम उसे ही प्रगतिशील साहित्य कहेंगे, चूकि वह साहित्य आज की दोषपूर्ण प्रणाली को बदलने का तथा नयी व्यवस्था की सृष्टि मे सहायक सिद्ध होगा।"[५] श्री प्रभाकर माचवे प्रगतिशील उसी साहित्य को मानते है जो व्यक्ति को सस्कारों से, समाज को रुढियों से और राष्ट्र के अभीर्थ दास्य से मुक्त करता चले और विकास की ओर बढाता चले।"[६] "प्रगति क्या है?"—

१ दे० "प्रेमचद चिंतन और कला"।

२ दे० 'साहित्य सदेश", अक्टूबर १६४१

३ दे० "वीणा", जून १६४७।

४ दे० "लखनऊ विश्वविद्यालय पत्रिका" जनवरी १६५५।

५ दे० 'राष्ट्रभारती", फरवरी १६५१।

६. दे० 'साहित्य सदेश", मार्च १६४०।

इस पर विचार करते हुये श्री जैनेंद्रकुमार, अंत में, इस निष्कर्ष पर आते हैं कि—"प्रगति क्या ?" इसकी जितनी ज्यादा छानबीन हम करें, उतनी ही कम है। लेकिन यह तो सब से पहले हम जान लें कि प्रगति अनादि कालिक इतिहास के चरितार्थ की संगति से अवरुद्ध है। प्रगति वह गति है ऐतिहासिक संगति की सहयोगिनी है।"[1] अपने एक निबन्ध में श्री कांतिचंद्र सोनारक्सा ने बताया है कि आज का प्रगतिशील कवि जीवन के अधिक निकट है, वह जीवन को पीठ दिखा कर पलायन नहीं करेगा।"[2]

प्रगतिशील साहित्य का उद्देश्य स्पष्ट करते हुये श्री जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी ने लिखा है कि प्रगतिशील साहित्य एक युग विशेष की निज की समस्या को हल करने के लिये है। उस साहित्य का उद्देश्य है "संसार में तत्कालीन आर्थिक दुरव्यवस्था का नाश करना, शोषित वर्ग को सुखी करना।"[3]

डा० त्रिलोकी नारायन दीक्षित प्रगतिशील साहित्य की व्याख्या करते हुए लिखते हैं— प्रगति साधारण अर्थ में जागृति, जीवन और गति की सूचना देती है और इस अर्थ में रूढ़िग्रस्त निष्प्राण और अपरिवर्तनशील प्रगतिशील के उलटे समझे जायेंगे। प्रत्येक विकासोन्मुख समाज में परिवर्तन होता रहता है और वह साहित्य जो समाज की आशा तथा आकांक्षाओं के साथ उसकी प्रति दिन परिवर्तित भावनाओं का भी अपने में समावेश करके सामाजिक चेतना के साथ अग्रसर होता रहता है, प्रगतिशील कहलायेगा।"[4]

कुछ लोग प्रगतिवादी साहित्य को प्रचार का साहित्य कहते हैं। ऐसे लोगों को श्री विजयशंकर मल्ल का उत्तर है—कहा जा सकता है कि तुलसी भी तो प्रचारक ही थे। उन्होंने राम का प्रचार किया। और तुलसी ने रामभक्ति का अपना धर्म माना तो आजकल के प्रगतिवादी कवि यदि मार्क्सवाद को अपना धर्म मानते हैं तो क्या बुरा है? आज का धर्म मार्क्सवाद है।"[5]

प्रगतिवाद एक "वाद" है, कुछ लोग असहमत हैं। उदाहरण के लिये श्री मोहनलाल प्रगतिवाद को कोई वाद नहीं मानते, वह उसे जीवन दर्शन का एक विशिष्ट दृष्टिकोण मानते हैं।[6]

प्रगतिवाद के पक्ष और विपक्ष में अनेक तर्क दिये गये हैं तथा विभिन्न दृष्टियों से विचार किया गया है। प्रगतिवाद की उपर्युक्त कुछ परिभाषाओं व्याख्याओं को देखने से ज्ञात होता है कि इसके सम्बन्ध में विद्वानों में काफी मतभेद रहा है। श्री मन्मथनाथ गुप्त इसे एक सामाजिक सिद्धांत मानते हैं, जो शहर समय क्रियाशील है था और रहेगा।[7] उन्होंने प्रगति का एक अनिवार्य उपादान प्रयास माना है। उनका विचार है प्रयास में विचारधारा एक बहुत बड़ी चीज है और साहित्य, कला आदि विचारधाराओं में ही आ जाते हैं। विचारधारा क्रांति अथवा प्रतिक्रिया का एक प्रधान साधन हो सकती है इसलिये साहित्य प्रगति अथवा प्रति-

क्रिया का अस्त्र हो सकता है। स्वाभाविक रूप से से वह साहित्य जो समाज को पीछे ढकेलता है, वह प्रतिक्रियावादी है।[१]

श्री शिवदानसिंह चौहान ने अपने एक निबध में लिखा है—'मगर साहित्य--विशेषकर हिंदी साहित्य या उर्दू साहित्य—एक ऐसी परिस्थिति में उत्पन्न हुये जब समाज की प्राचीन शृंखलायें स्वय ही कमजोर हो चली थीं। इस प्रकार ये साहित्य (यद्यपि असतुष्ट और परतत्र जनता तक जनता की भावनाओं को ग्रहणकर तथा उनकी आहों को अपने स्वर में भर कर प्रगतिशील हो सकते थे) उन्नति, प्रगति या विकास के सूचक न होकर समाज पर बधन ही बने रहे। इसका इतिहास जितना रोचक है, उतना ही शिक्षाप्रद भी।[२]

प्रगतिवादी साहित्यकारों की कई कोटियाँ है। उनमे सिद्धांत सबधी मतभेद है। उनका पारस्परिक मतभेद या सिद्धांत विषमता इस कारण भी हो सकती है कि विभिन्न कारणों अथवा प्रेरणाओं से इस मत विशेष के समर्थक हुये हैं। इसलिये उनमे मतैक्य न होना अनावश्यक या अस्वाभाविक नहीं है। श्री मन्मथनाथ गुप्त ने इस सबध मे लिखा है—'प्रगतिवादियों मे कई कई भेद का होना अनिवार्य इसलिये है कि एक सिरे पर तो वह प्रगतिवादी है। जो क्रांति के जोश में पले हुये या बजाये हुये कनस्तर को सगीत मानने को तैयार है, दूसरी तरफ वे लोग हैं, जो दूसरी बातों का उतना ही महत्व देते है, जितना उसके उद्धव-स्थल का। एक तरफ वे लोग हैं, जो दलगत साहित्य और प्रगतिशील साहित्य को करीब करीब एक मानकर बैठे है, दूसरी तरफ वे लोग है, जो दलेतर साहित्य में प्रगतिशीलता देखने का तैयार है।[३]

यहाँ इस बात पर विचार कर लेना आवश्यक है कि उस समय से जब प्रगतिवाद का जन्म हुआ, साहित्य के क्षेत्र मे क्या स्थिति थी। क्या उस समय वास्तव मे हिंदी मे ऐसी परिस्थितियाँ थीं, जिनके कारण किसी नये वाद की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा था? क्या तत्कालीन साहित्य मनुष्य को कर्म क्षेत्र से हट कर सघर्षमय ससार से मात्र पलायन करने की प्रेरणा देता था? क्या उस समय साहित्यकार जनता के सामने एक स्वस्थ, ठोस जीवन दर्शन प्रस्तुत कर सकने मे अपने आपको असमर्थ पा रहा था? इन प्रश्नों का उत्तर देते हुये एक विधवा ने लिखा है—"हमारे नये स्वतत्र देश मे इस बात की आवश्यकता है कि साहित्य लोगो में आशा उत्पन्न करके नये सग्रामों के लिये हमको तैयार करे। और किसी देश मे कुछ भी हो हमारे यहाँ साहित्य को साहित्य रहते हुये मुस्तैदी के साथ समाज-रचना मे भाग लेना पडेगा। प्रगतिशील मतवाद का केवल इतना ही कहना है। हम अश्लीलता पलायनवाद, रहस्यवाद, छायावाद मे पडकर अपनी कर्मशक्ति को विघटित नहीं होने दें"।[४]

श्री रामेश्वर वर्मा ने लिखा है—' प्रगतिवाद के प्रारभ से कुछ सामान्य आधार थे। एक तो यह कि वह युग की सामयिक परिस्थितियों को काव्य मे प्रतिबिंबित करता है, जनता की विकास शील परपरा में साहित्य अपना भी योग देता है। साथ ही प्रगतिवाद साहित्य को केवल मनोरजन का साधन न मानकर उसकी सामयिक उपयो

१ वही।
२ द० 'विशाल भारत', मार्च १९३७।
३. "प्रगतिवाद का रूपरेखा"।
४ 'वही'।

गिता मे विरनाम रखता है। दकियानूसी आलोचकों के मतानुसार इसी कारण उसका स्थान साहित्य की श्रेष्ठतम (कला कल्पना) से गिर जाता है और आनंद की शुद्धि शुद्ध उपलब्धि नहीं होती इसी प्रकार के आक्षेप हैं जो आज तक के दकियानूसी आलोचक प्रगतिवाद पर लगाते आये हैं और उसका विरोध करते रहे हैं"।[1]

प्रो० प्रकाशचंद्र गुप्त के अनुसार 'प्रगतिशील आलोचना के कुछ ऐसे सिद्धांत हैं, जिन्हें सभी प्रगतिशील साहित्यक स्वीकार करते हैं। पहला तो यह कि इन सिद्धांतों की बाह्य परीक्षा सभव है, और उनका वैज्ञानिक विश्लेषण होना चाहिये इस सौंदर्य विज्ञान की स्थापनायें निरंतर स्पष्ट होती जा रही हैं।"[2]

ऊपर दिये गये उद्धरणों को यहाँ संकलित करने का उद्देश्य यही है कि पाठकों को प्रगतिवाद के संबंध मे विभिन्न विद्वानों के विचारों का परिचय मिल सके, वे उसके विविध पहलुओं को समझ सकें। उपर्युक्त किसी मत के पक्ष या विपक्ष में कोई मत देना कोई तर्क देना यहाँ हमारा उद्देश्य नहीं है। आज प्रगतिवाद हिंदी साहित्य की प्रमुख विचारधाराओं मे अपना स्थान रखता है। प्रगतिशील चिंतन साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों मे स्वतंत्र रूप से हो रहा है। प्रगतिवादी साहित्य आज केवल समाज के शोषित अथवा निम्न वर्ग का ही चित्रण प्रस्तुत न करके संपूर्ण समाज के लिये एक व्यापक जीवन दर्शन प्रस्तुत कर रहा है। क्षेत्र संकुचित न होकर समान व्यापक है—समाज के प्रत्येक अंग पर, जीवन के हर पहलू पर वह समान रूप से लागू होता है। वह वर्ग-संघर्ष को नयी दिशायें प्रदान करने वाला एक नया जीवन-दर्शन है।

(शेष पृष्ठ १९३ का)

प्रयत्न किया गया और न ऐसी इच्छा ही थी परन्तु प्रद्युम्न स्वयं आकर्षित अवश्य था। धूम्र गिरि पर वशीकरण क्रिया को देख आने पर भी वह रानी के मोह के कारण उसे जाने न देता था। यहीं तक महामाया की सफलता कही जासकती है किन्तु वह सर्वांग रूप से भट्टिनी की ही सफलता नहीं। किन्तु धूम्रगिरि पर चीरा कराल काय जो अघोर भैरव महामाया के साहचर्य के पूर्ण प्रेम मे विलग रह कर देह ज्ञान को भी भूल रहा था वही अघोर भैरव महामाया के आत्मोत्सर्ग को पाकर अदृष्ट को देखने वाला और निःसंग और आवरण से मुक्त हो जाता है। यही महामाया की सार्थकता है। सारांश यह है कि, "अपने को निःशेष भाव से देने से ही दुख जाता रहता है, परमानन्द प्राप्त होता है।" यही नारी की सार्थकता है।

"स्वर्ग के खंडहर में" :—प्रसादजी रचित कहानी एक समीक्षा

(श्री ना० ला० चतुर्वेदी, बी० ए०, साहित्य रत्न)

स्वर्गीय बाबू जयशंकर प्रसाद की कहानियों को हिन्दी साहित्य के 'रतने का सुन्दर सौभाग्य प्राप्त है। विशेषता यह है कि कलाकार ने अपनी रुचि के अनुसार चुनचुनकर अनुपम एकत्रित पुष्पों से उन्हें सजाया है। सौन्दर्य के पारखी रसकी इस कला पर एक साथ मुग्ध हो ऐसे भाव विभोर हो जाते हैं कि उन्हें एक टक देखते ही ठगे से रह जाते हैं। कला की चरम सीमा वहां ज्ञात होती है जहां कि बुद्धि, भावपक्ष से परास्त हो जाती है। पाठक एक बार पढ़न से तृप्त ही नहीं हो पाता हां" पाठकों के घुमक्कड भले ही उनसे आनन्द लाभ न कर सके।

स्वर्ग के खंडहर में' कहानी उस अतीत की एक भाकी अप्रत्यक्ष रूप से देती है, जब कि यवनों के शासन एवं आक्रमणों से प्रजा त्रस्त थी। वे सौन्दर्य प्रेमी न होकर विध्वंसक थे। स्वर्ग जैसे आनन्द एवं शान्ति के स्थानों में भी उनके अत्याचार नहीं रुके। उनका मुख्य कार्यक्रम हिंसा एवं ध्वंसात्मक ही था। इसी तथ्य की अभिव्यक्ति, सुन्दर कलापूर्ण एवं गीतात्मक ढंग से प्रेम के आवरण में की है।

कथा का प्रारम्भ प्रकृति वर्णन से हुआ है जो अत्यन्त मार्मिक है। शब्दों में प्रकृति का सजीव चित्र पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया है। सौंदर्य की उत्कृष्टता को ही स्वर्ग माना है। 'वन्य कुसुमों की झालरें सुखशीतल पवन में विकम्पित होकर चारों ओर झूल रही थीं। सुस्वादु फल फूलवाले वृक्षों के झुरमुट दूध और मधु की नहरों के किनारे गुलाबी बादलों का क्षणिक विश्राम। संगीत की अबाध गति में छोटी छोटी नावों पर उनका जल विलास। किसी की आँखें यह सब देखकर भी नशे में न हो जायेंगी हृदय पागल, इन्द्रियां विकल न हो रहेंगी। यही तो स्वर्ग है।" मीना और गुल की प्रारम्भिक स्नेह चर्चा से कहानी का द्वितीय अनुच्छेद प्रारम्भ होता है। इसमें गुल 'पुरुष" की स्वाभाविक परिता तथा मीना "स्त्री" की स्नेहमयी करुणा एवं हृदय की टीस पाठक समझ लेते हैं। गुल एक ओर मीना के प्रति अपनी भावुकता में कहता है कि 'नहीं मीना, सबके बाद जब मैं तुम्हें अपने पास ही पाता हूँ, तब और किसी आकांक्षा का स्मरण नहीं रह जाता।" दूसरी ओर वही गुल जल विहार के आनन्द में दूसरी सुन्दरी 'बहार" के साथ सतरण कर एक कुंज में चला जाता है, मीना निराश होकर मन मसोस कर लौट जाती है। गुल के सम्बन्ध में पूछने वालों को वह 'मैं नहीं जानती" कहकर बतलाती है। ये शब्द भोलपन पर साथ ही दुख पूर्ण अनुभूति के परिचायक हैं। उस रमणीक स्थान में स्थित पहाड़ी दुर्ग का भयानक शेख मीना के सौन्दर्य को देख विमोहित होगया वह कहने लगा मीना तुम मेरे स्वर्ग की रत्न हो।" वह मीना के गाने को सुनकर आत्म विस्मृत हो भूल जाता है कि वह ईश्वरीय सदेश वाहक आचार्य और महा पुरुष था।

कलाकार पुनः हमें गुल और बहार के पास ले आता है जहाँ पहले कुंज में छोड़ा था। वे उस रमणीय प्रदेश के छोटे से आकाश में मदिरा से भरी हुई छटा उड़ रही थी। गुल मदिरा में मस्त एवं बहार के यौवन सुगंध से घबरा कर कहता है 'ले चलो, मुझे कहाँ ले चलती हो?" बहार उस स्वर्ग की विलासिनी अप्सरा एवं तीव्र

मदिरा की प्याली के समान थी जिसमे गुल रूपी मकरन्द भरी वायु का झकोरा लहर उठा देता था। उनके इस प्रणय व्यापार मे मीना एक बाधास्वरूप दिखाई पडती थी।" एक युवक के कथोपकथन द्वारा हमे गुल का परिचय मिलता है। वह अतिथि होकर गुल 'देवकुमार' को समझाने आया है। वह गुल को समझाता है कि तुम भीमपाल के वंशधर देवकुमार हो, मूर्खता वश यहाँ वन्दी होगए हो। गुल को उसके वाक्य कडुवे लगते है वह मन मे कहता है, मुझसे सब अपने मन की कराना चाहते है जैसे मेरे मन नहीं है, हृदय नहीं है। तो फिर क्या जलन ही स्वर्ग है।" अतिथिसत्कार मे गुल उस युवक को मीना का सगीत सुनवाता है। वह एक निश्वास लेकर बुलबुल का सगीत है। मीना अपने को स्वर्ग की देवी न मानकर उस पृथ्वी की ही प्राणी मानती है, जहां के कष्ट स्वर्ग के सुख से भी मनोरम है। वह युवक मीना के कहने पर पृथ्वी की कथा सुनाता है।

कहानी के द्वितीय परिच्छेद मे कहानी प्रारम्भ होती है। मुसलमानों के आक्रमण से समस्त शक्तिशाली प्रदेश वाल्हीक गाधार कपिशा आदि आतन्क मे काँप रहे थे। गाधार के आर्य नरपति भीमपाल का अस्त होगया। उनका पुत्र भीमपाल पर्वत वन प्रदेशों मे भटकता रहा। उसका लज्जा देवी के प्रति आकर्षण फिर तारादेवी द्वारा प्रणय स्थान ग्रहणकरना लज्जा का उपासिनी भिक्षुणी बनने की कथा चलती है। एक दिन सुनसान शीतल अधरात्रि मे मगली दुर्ग के अधिपति का भृत्य लज्जा के भिक्षुविहार मे एक बालक व बालिका को लेकर आश्रय पाता है। स्वस्थ होकर वह देवपाल के वन्दी होने, तारा देवी की आत्महत्या करने की कथा कहता है। उन बालक बालिकाओं को देखकर लज्जा मे आत्मीयता का मोह उमडता है। धर्मभिक्षु उनको अपने यहां आश्रय देने मे विरोध करता है। वह कहता है 'राजकुटुम्ब को यहा रखकर क्या इस बिहार और स्तूप को भी तुम ध्वस कराना चाहती हो।' लज्जा अपने कर्त्तव्य पर दृढ रह भिक्षुणी होने का ढोंग छोडकर अनाथों के सुख दुःख मे सम्मिलित होने उसी रात मे विक्रमभृत्य तथा बालक बालिका सहित चल पडती है। नगरों के ध्वस होजाने के कारण वे भिक्षा भी नहीं जुटा पाते तथा भूखे सो जाते है। प्रभात मे जागने पर बालक तथा बालिका दिखाई नही देते तो वे खोजने निकलते है और एक दिन पता चलता है कि केकय के पहाडी दुर्ग के समीप कहीं स्वर्ग है वहा रूपवान बालिकों और बालिकाओं की आवश्यकता रही है। इतना कह कर वह अतिथि कथा समाप्त कर कहता है और भी सुनोगी पृथ्वी की दुःख कथा ?" अतिथि युवक कोई अन्य नहीं अपितु पुरुष वेश मे देवपाल की प्रेयसी लज्जा' स्वय थी। देवपाल ने अपने को शेख के हाथ बेच दिया था। उसी के द्वारा सब वन्दी होते है। पिता पुत्र का भेद खुलने पर देवपाल उन्हे मुक्त करने के लिए प्रहरियो को आज्ञा देता है वे प्रहार के इशारे पर अवज्ञा करते है, फलस्वरूप प्रहार दण्ड मिलता है।

कहानी का तृतीय परिच्छेद शेख के सभा गृह मे प्रारम्भ होता है। वैभवशाली शेख क्षमता की, ऐश्वर्य मडित मूर्ति था। वह देवपाल से उसके धर्म मे विश्वास करने के सम्बन्ध मे प्रश्न करता है पर देवपाल स्पष्ट कह देता है कि मैंने शत्रु चगेज खा से बदला लेने के लिए तुम्हारे उत्कोच या मूल्य से क्रीत हुआ था। मैं धर्म मान कर कुछ करने गया था यह समझना भ्रम है। शेख द्वारा हत्या आदि के भय देने पर भी देवपाल दर्द स्वर मे उत्तर देता है प्राणी धर्म मे मेरा अखण्ड विश्वास है। अपनी रक्षा करने के लिए अपने प्रतिशोध के लिए जो स्वाभाविक जीवन तत्व के सिद्धान्त की अवहेलना करके चुप बैठता है उस मृतक, कायर सजीवता विहीनी, हड्डी मास के

टुकड़े के अतिरिक्त मैं कुछ नहीं समझता। मनुष्य परिस्थितियों का अंधभक्त है, इसलिए मुझे जो करना था वह मैंने किया, अब तुम अपना कर्त्तव्य कर सकते हो।" शेख लालची कुत्सित होकर धर्माचार का ढोंग करता था। लज्जा के सौन्दर्य को देखकर उसकी उत्तेजना पालतू पशु बन गई। लोभ में आकर कहने लगा 'यदि मेरे मन में तुम्हारा विश्वास हो तो मैं तुम्हें मुक्त कर सकता हूँ।" पर लज्जा उसकी कमजोरी समझती है वह स्पष्ट कह देती है पृथ्वी का गौरव स्वर्ग बन जाने से नष्ट हो जायगा। पृथ्वी को केवल वसुन्धरा होकर मानवजाति के लिए जीने दो देवता बनने के प्रलोभन में पड़कर मनुष्य राक्षस न बन जाय शेख।'

इधर बहार और गुल का प्रेमाचार हो रहा था उधर तातारियों की चढ़ाई हुई घेरा डाला गया, जीव अनाहार से तड़प उठे। मीना पर शेख अपना अधिकार करना चाहता था, वह आक्रमणकारियों से रक्षा न कर सका। आक्रमणकारियों के हत्याकाण्ड दावाग्नि अंधड़ में देवपाल, लज्जा और गुल मृत्यु को प्राप्त हुए। द्राक्षा के रूखे कुंज में मीना उनके शवों के पास चुपचाप बैठी थी न उसकी आँखों में आँसू थे, न ओठों पर क्रन्दन। वह पूछने पर कहती "मैं एक भटकी हुई बुलबुल हूँ। मुझे किसी टूटी डाल पर अंधकार बिता लेने दो। इस रजनी विश्राम का मूल्य अंतिम तान सुनाकर जाऊँगी। प्रसादजी स्वयं शंका करते हैं कि "मालूम नहीं, उसकी अंतिम तान किसी ने सुनी या नहीं।'

सामालोचना—कथावस्तु के तत्त्व की कसौटी पर कसने पर प्रस्तुत कथा की कथावस्तु शिथिल प्रतीत होती है। प्रबन्धात्मकता का चमत्कार परिच्छेदों के परिवर्तन के साथ साथ लुकता छिपता सा दिखाई देता है। इस तथाकथित दोष के होने पर भी कहानी की कथावस्तु पूर्ण है। पाठक पढ़ना प्रारम्भ करते ही शीघ्रता से "आगे क्या होने वाला है" की जिज्ञासा करने लगता है, तथा उसकी पूर्ति के लिए श्वांस साधकर शीघ्रता से पढ़ने लगता है। कथा की समाप्ति पर वह स्तब्ध होकर विचार मग्न हो जाता है। यह सब जादू के प्रभाव के समान होता है।

कथा की कल्पना में माधुर्य एवं प्रकृति का मनुष्यों की प्रकृति में साम्य है। प्राकृतिक दृश्यों के सजीव चित्रण कथावस्तु के बीच बीच में काव्य का आस्वादन कराते हैं। इस प्रकार पाठक कहानी तथा कविता दोनों का एक साथ आनन्द अनुभव करता चलता है। कथोपकथन की सजीवता में सूक्ष्मरीति से नाटकीयता की झलक जड़ाऊ अलंकारों के समान दीप्त है।

कथा के पात्रों के नाम चारित्रिक गुणों के अनुकूल ही रखे गए हैं। गुल, बहार, मीना, विक्रम, शेख, लज्जा, चगेज आदि नामों में उनके गुण सन्निहित हैं। चरित्र चित्रण करते समय कलाकार अत्यन्त जागरूक रहा है। उसने जहाँ एक ओर मनुष्य स्वभावगत स्वार्थपरता के प्रतिनिधि "गुल" का निर्माण किया है, जो मीना के प्यार के साथ खिलवाड़ करता है तो दूसरी ओर 'बहार' को चंचल युवती के रूप में। पर मीना के निर्माण में कलाकार की उत्कृष्ट कला झलकती है। हमारा कलाकार यांत्रिक है जो पात्रों को यंत्र के समान स्वेच्छा से चलाता है, पर अस्वाभाविकता नहीं आने देता है। अप्रत्यक्ष रूप के कथाकार के कथोपकथन द्वारा यवनों की बर्बरता आर्यराजाओं की कर्तव्य परायणता विलासी 'गुल" की स्वार्थता प्रेमिका 'मीना का सात्विक गुण आदि मनोभावनाओं के चित्र भी खींचे हैं। चित्रण में प्रकृति का योग उद्दीपन है। पात्रों पर विवेक का बन्धन रहता है। यथार्थ के पक्ष में भी अन्तर्द्वन्द्व एवं भाव प्रधानता उन्हें मनुष्य कोटि से ऊँचा उठा देती है।

देशकाल परिस्थितियाँ काल्पनिक हैं, पर उनमें आंशिक ऐतिहासिकता का पुट भी दिया

गया है। कल्पना द्वारा कश्मीर भूमि के निकट ही 'स्वर्ग' की कल्पना की गई है। ऐसे मनोरम स्थान में बर्बर आक्रमणकारी घुसजाते हैं। फलस्वरूप यह ध्वंस्त हो जाता है। भाषा एवं शैली प्रसादजी की अपनी है। उन्होंने पात्रों के मुख से उनकी भाषा का उपयोग नहीं, अपितु स्वयं अपनी भाषा का उपयोग कराया है। भाषा सुगठित, काव्यमय, शुद्ध एवं नियमित है। उनकी शैली में व्यक्तित्व छिपा हुआ है। प्रसादजी साहित्यकार थे, उनका दृष्टिकोण प्रत्यक्षरूप से सुधारक होना नहीं था। वे सामान्य जनता में अपना प्रचार एवं प्रसार भी नहीं चाहते थे। अतएव उन्होंने ऐसी भाषा का प्रयोग किया था। उनकी भाषा में स्थायित्व व शैली में आकर्षण है। उनकी इसी विशेषता के कारण उनका साहित्य आज भी नया है तथा आगामी युगों में भी नया बना रहेगा। भाषा क्लिष्टता का आरोप कुछ आलोचकों द्वारा प्रसादजी पर लगाया जाता है। पर यह दोष एकांगी सा प्रतीत होता है। आलोचना के समय प्रसाद की काव्यमयता एवं दार्शनिकता को भूलजाना जिसका कि प्रसाद की भाषा पर प्रभुत्व है, उनके साथ अन्याय करना है।

प्रसादजी ने अपने साहित्य का एक ही उद्देश्य रखा है वह है "आनन्द।' अर्थ संकट उठाते हुए भी उन्होंने भूखी नंगी दरिद्रता तथा यथार्थ नग्नता को अपने साहित्य का लक्ष्य नहीं बनाया। उनकी प्रतिभा काव्य मय है, उसी से उन्होंने अपना तथा अनेकों का जीवन सुन्दर बनाया है "सत्यं सुन्दरम्" पृथ्वी पर ही उपलब्ध है जो सत्यमय जीवन के उपरान्त प्राप्त होता है। पृथ्वी पर मनुष्य को दुख ही दुख है यदि साहित्य में भी दुख का ही चित्रण हो तो आनन्द कहां मिले ? प्रसादजी यह सब जानते थे। यही कारण है कि उन्होंने दार्शनिक तत्वों द्वारा द्वन्द्वों को दबाया है तथा प्रकृति का सहारा लेकर कल्पना से 'सुन्दरम्' के भजनों में 'शिवम्' की प्रतिष्ठा की है। उनका सत्य कविसत्य" है। उनकी ऐतिहासिकता भी इसका अपवाद नहीं है। यदि वे ऐसा न करते तो साहित्य की आत्मा ही नष्ट हो जाती। उनमें भारत देश तथा संस्कृति के प्रति मोह था। उसी मोह के वशीभूत होकर वे आज भारत को "सुन्दर भारत,' चाहते थे।

आरम्भ और अन्त दोनों ही मुख्य घटना से सम्बद्ध है। अन्त होने पर पाठक एक निश्चित विचारधारा में मग्न हो जाता है।

(शेष पृष्ठ ११६ का)

सिकन्दर का मुकाबिला हुआ। उनमें एक ब्राह्मण का जन पद था। इसने सिकन्दर को खूब छकाया वे लोग सिकन्दर के अधीन राज्यों की निन्दा करते और स्वतन्त्र जातियों को भड़काते। उत्तरी सिंध के राज्यों से उन्होंने बलवा भी कर दिया। जिसे सिकन्दर ने निर्दयता से कुचल डाला। ब्राह्मणों (ब्राह्मणिक जन पद के निवासियों की लाशें खुले रास्तों पर टाँग दी गई।

अन्त में सिकन्दर पातान प्रस्थ पहुँचा। जहाँ सिंधु दो धाराओं में कटती है और जहाँ आज कल हैदराबाद है उस स्थान का नाम पातान प्रस्थ था। वहाँ के लोग अधीनता स्वीकार करने से बचने के लिए देश छोड़ कर भाग गये थे। पातान प्रस्थ भी मिले बाद में वह पश्चिम को मुड़ा और अपने सेनापति निर्याकस को समुद्री मार्ग से जाने का आदेश देकर स्वयं स्थल मार्ग से लौट गया और ३२३ ई० पू० में उसका देहांत हो गया।

(क्रमश)

सम्पादकीय

इस अंक में पंत का 'प्रकृति चित्रण' शीर्षक लेख अन्यत्र प्रकाशित है। लेख के साथ लेखक का नाम उपलब्ध न होने के कारण हम उसके साथ लेखक का नाम नहीं दे सके हैं। सम्बन्धित महानुभाव हमें सूचित करने की कृपा करें। अगले अंक में उनके नाम का उल्लेख कर दिया जायगा।

× × × ×

अभी हाल में हमारे उत्तर प्रदेश की सरकार ने दो महत्वपूर्ण कार्य किए हैं। उनके लिए हम प्रान्तीय सरकार को और विशेष रूप में माननीय मुख्य मन्त्री डा० सम्पूर्णानन्द को हार्दिक बधाई देते हैं। सरकार ने स्पष्ट घोषणा कर दी कि उत्तरप्रदेश में उर्दू को हिन्दी के ऊपर कुठाराघात करने का मौका नहीं दिया जायगा। उसको एक स्थानीय भाषा के रूप में स्वीकार नहीं किया जायगा। हमारी समझ में ही नहीं आता है कि उर्दू वालों को क्या हो गया है? वे उर्दू के प्रेमी हैं, उसकी उन्नति चाहते हैं, उन्हें कौन रोकता है। वे उर्दू बोलें उर्दू लिखें तथा विभिन्न प्रकार से उर्दू की उन्नति करें। क्या यह आवश्यक है कि देश की प्रत्येक भाषा को राजकीय संरक्षण प्राप्त हो ही जाए? उर्दू और हिन्दी को सपत्नियों का रूप दे दिया है। अपनी नाक कटाकर उर्दू आज हिन्दी का अपशकुन करने पर तुली हुई प्रतीत होती है। जब राज्य की भाषा अंग्रेजी थी तब उर्दू के उपासक हस्ताक्षर कर्त्ता कहां सो रहे थे? हिन्दी इसलिए राज भाषा स्वीकार की गई है क्योंकि वह सबसे अधिक सुबोध एवं वैज्ञानिक है। हिन्दी को हटाकर हम देश की किसी अन्य भाषा को राज भाषा के पद पर प्रतिष्ठित नहीं कर सकते हैं। हिन्दी इसी कारण राज्य की भाषा घोषित की गई है। हिन्दी ने यह पद स्वीकार करके वस्तुतः देश और देश वासियों के प्रति उपकार किया है। जो महानुभाव इस उपकार को स्वीकार नहीं करना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि स्पष्ट रूप से हिन्दी का विरोध करें। नित्य नई बातों को लेकर सरकार के सामने नई नई समस्याएँ उत्पन्न करना देश प्रेम की सीमा के बाहर बात है।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से सम्बन्धित विधेयक उत्तर प्रदेश सरकार का दूसरा ठोस एवं महत्वपूर्ण कार्य है। हम साहित्य सम्मेलन के जीवन के पिछले दिनों से भली भाँत परिचित हैं। हमने वे दृश्य देखे हैं जिनके फलस्वरूप सम्मेलन में ताला पड़ा, सम्मेलन वालों में मुकद्दमा हुआ रिसीवर बैठा आदि। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् हिन्दी और राज्य भाषा की सेवा करने के लिए सम्मेलन को सरयूसमय मिला था। हमारा दुर्भाग्य कि वह बन्द हो गया और हमारा इतना बहुमूल्य समय यों ही नष्ट हो गया। हर्ष और सौभाग्य का विषय है कि माननीय राजर्षि टण्डन जी तथा कुछ अन्य महानुभावों ने हम और सरकार का ध्यान आकर्षित किया। फलतः विधेयक पास हुआ। हमारी कामना है कि सरकार सम्मेलन की समुचित व्यवस्था करके उसकी समस्त शक्तियों का पूरा उपयोग करेगी और ऐसा प्रबन्ध करेगी कि यह पवित्र संस्था माँ—भारती को राजनीति की दलदल में दुबारा न फँस जाने देगी।

प्रकाशक फूलचन्द गुप्त मुद्रक आगरा अखबार प्रेस, आगरा।

बाबू गुलाबराय अंक की विषय-सूची

इस अंक का मूल्य डेढ़ रुपया है। पेशगी भेज कर प्रति मंगवालें।

पता :—सरस्वती संवाद कार्यालय मोतीकटरा, आगरा।

हमारे आगामी अंकों के आकर्षण

- रस सिद्धान्त
- सूर की भाषा
- केशव दास का काव्य
- महाकवि बिहारी का काव्य सौष्ठव
- 'गीतावली' एक समीक्षा

- × दिनकर की 'रश्मिरथी'
- × कामायनी की मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक भाव भूमि
- × पन्तजी का काव्य सौष्ठव
- × प्राच्य और प्रतीच्य का अद्भुत समन्वयकार 'प्रसाद'
- × शकुन्तला नाटक में नैतिकता ?
- × चन्द्रावली नाटिका का वस्तु संगठन

- भाषा और अक्षरों की जन्म कथा
- लोक गीतों में करुण वातावरण
- वत्सराज की समस्या और उसका उद्देश्य
- शेखर एक जीवनी समीक्षा
- उपन्यास : "चाणक्य" का ऐतिहासिक महत्त्व

- 卐 औपन्यासिक रचनातंत्र (Tenchnique) श्री प्रेमचन्द
- 卐 कहानी आलोचना के मान
- 卐 सूर और नन्द के भ्रमरगीत की तुलना
- 卐 प्राचीन हिन्दी कवि और गीतकाव्य
- 卐 नाटिका के लक्षण और 'चन्द्रावली'
- 卐 उपन्यास चाणक्य में इतिहास और कल्पना
- 卐 कामायनी का 'लज्जा' सर्ग

केवल मुख पृष्ठ रावल फाइन आर्ट प्रेस, सेठगली, आगरा में छपा।

अकटूबर ५७

वर्ष ५

अंक ३

सम्पादक

डा० शम्भूनाथ पाण्डेय
एम० ए०, पी एच० डी०

वार्षिक मूल्य

इस प्रति का ।=

सरस्वती संवाद के सम्बन्ध में विद्वानों की सम्मति

१—सरस्वती संवाद एक अच्छी पत्रिका है और हिन्दी विद्यार्थियों में साहित्यिक चेतना जागृत करेगी।

आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, अध्यक्ष—हिन्दी विभाग सागर विश्व विद्यालय सागर।

२—लेख सुरुचि पूर्ण हैं और इनमें विषयों का विविधता है।

श्री हरिहरनाथ टण्डन, अध्यक्ष—हिन्दी विभाग, सेन्ट जौन्स कालेज आगरा।

३—यह मासिक पत्र साहित्य का अनुशीलन करने वाले विद्वानों और हिन्दी की उच्च परीक्षा में बैठने वाले विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त उपयुक्त है।

सम्पादक (जयभारती) पूना.

इस अंक के लेख

सरस्वती संवाद के नियम

१—सरस्वती संवाद मासिक पत्र है। अंग्रेजी महीने की १ तारीख को प्रकाशित होता है।

२—सरस्वती संवाद का वार्षिक चन्दा ४) है ग्राहक किसी भी मास से बनाये जा सकते हैं। वर्ष अगस्त से प्रारम्भ होता है।

३—पत्र व्यवहार करते समय अपनी ग्राहक संख्या व पूरा पता लिखना आवश्यक है

४—नियमानुसार नमूने की प्रति के लिये आठ आना पेशगी आना आवश्यक है।

५—महीने की १२ तारीख तक अंक न मिलने पर स्थानीय पोस्ट आफिस से पूछताछ करें, उसके बाद पोस्ट आफिस से प्राप्त उत्तर कार्यालय को भेजें। उत्तर के लिये जवाबी कार्ड अवश्य भेजें।

६—प्रत्येक वर्ष जनवरी का अंक "विशेषांक" होगा, वह वार्षिक चंदा में ही दिया जायेगा।

७—स्तरीय लेखों पर यथा योग्य पुरस्कार दिया जाता है।

८—रचनायें वे ही भेजी जायें जो अन्यत्र प्रकाशित न हुई हों और सरस्वती संवाद के लिये ही लिखी गई हों। प्रकाशित रचनाओं पर प्रकाशक का पूर्ण अधिकार होगा।

वर्ष ५] आगरा, अक्टूबर १९५६ [अङ्क ३

विशेष लेख —

रस-सिद्धान्त (सैद्धांतिक विवेचन)

[श्री रघुनाथ सफाया, एम० ए०, एम एड०]

भूमिका—

रस सिद्धान्त के ऐतिहासिक विवेचन के बाद सैद्धांतिक विवेचन अपेक्षित है। प्राचीनकाल से लेकर अब तक पूर्व और पश्चिम मे जितने भी रस संबंधी विचार उत्पन्न हुए हैं, उनकी समीक्षा नीचे की जाती है।

काव्य के चरम लक्ष्य के सम्बन्ध मे कितने ही वाद उत्पन्न हुए हैं जैसे अलंकारवाद रीतिवाद रसवाद, ध्वनिवाद, वक्रोक्तिवाद आदि, परन्तु सामूहिक रूप मे तथा प्रधानतया भारतीय समीक्षकों ने काव्य का चरम लक्ष्य रसानुभूति माना है। भरतमुनि, रुद्रट, भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक अभिनवगुप्त आदि काव्यालोचकों ने रसमीमांसा की, परन्तु रस को काव्य की आत्मा के गौरवान्वित पद पर प्रतिष्ठित करने वाले 'वाक्य रसात्मक काव्य' के व्याख्याता साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ही प्रथम आलोचक थे। इसके उपरांत मध्यकालीन और आधुनिक हिन्दी साहित्य में इस वाद की प्रतिष्ठा बढी।

पश्चिम मे भी काव्य के चरम लक्ष्य के संबंध मे कितने ही विचारकों ने रस का उल्लेख किया परन्तु इस वाद की पूरी व्याख्या नहीं हुई। इसके कई कारण हैं। पाश्चात्य मनोविज्ञान मे रस का उल्लेख नहीं। एक शब्द सेन्टिमेंट (Sentiment) का उल्लेख है परन्तु रस और सेन्टिमेंट मे बहुत अंतर है। सेन्टिमेंट का अर्थ है चिरस्थाई भाव जैसे *धार्मिक भावना* (religious sentiment) इसके अतिरिक्त पाश्चात्य मनोविज्ञान शास्त्र ही अधूरा है। पाश्चात्य मनोविज्ञान या psychology मे psyche (Soul) अर्थात् आत्मा का सर्वथा अभाव है। वहाँ मनोमय कोष से आगे विज्ञानमय या आनंदमय कोष मे जाने की संभावना ही नहीं। कई मनोवैज्ञानिकों ने मन को भी जड माना है। ऐसी अवस्था मे रसवाद के बारे मे पाश्चात्य समीक्षकों से अधिक आशा नहीं रख सकते।

परिभाषा—

रसवाद के प्रथम प्रवर्त्तक आचार्य विश्वनाथ

के अनुसार काव्य की आत्मा रस है (वाक्य रसात्मक काव्यम्)। रस क्या है ? इसके संबध मे कहा गया है कि रस अलौकिक आनद है। जो काव्य के सेवन से प्राप्त होता है। रसानुभूति जीवन की परम अनुभूति है। इसका समर्थन उपनिषद् वाक्य 'रसो व स' से भी होता है। आचार्य मम्मट ने काव्य प्रकाश मे काव्य के संबध मे ह्लादैकमयी, शब्द प्रयुक्त करके रसानुभूति को स्वीकार किया है। भट्टनायक ने इसको 'परब्रह्मसाक्षात्कार' कहकर 'ब्रह्मानद सहोदर' को क्या ब्रह्मानद ही माना है। अभिनवगुप्त इसको पारलौकिक उच्च आध्यात्मिक क्षेत्र में न ले जाकर भावनाओं की उच्च अभिव्यक्ति' मानते हैं। आचार्य शुक्ल हृदय की मुक्तावस्था को रसदशा मानते हैं।

'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है उसे कविता कहते है।" आचार्य गुलाबराय अपनी पुस्तक 'सिद्धांत और अध्ययन' मे 'मनोभावों का आस्वादन' (enjoyment of emotions) ही रस का तात्पर्य लेते है,

रस की परिभाषा देते हुए विद्वानों ने जो कहा है उसमें भेद नहीं है। वह केवल शब्दों का हेर फेर है। रस को समझाने के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण पर्याप्त है। कविता के आस्वादन या नाटक दर्शन से जो मनोदशा उत्पन्न होती है, जो आनंद की लहरें तरंगित होती हैं, वही रस की सूचक है।

पश्चिम में यद्यपि रस सिद्धांत की आलोचना व्याख्या नहीं हुई है, तदपि कतिपय विद्वानों ने कविता के इस आनन्दमय गुण का वारवार उल्लेख किया है। टी० एस० ईलियट (T. S Eliot) ने कहा है 'कविता उच्च आनद है' ('Poetry is Superior amusement') प्रसिद्ध दार्शनिक शोपेनहार (Shaupenhaur) कविता को विनोदोन्मुखी मानते हैं। (Art Strives at the condition of amusement') वेलजानसन भी कविता में आनन्द की दिव्योत्पत्ति (Divine origion of rupture' पर विश्वास रखते है। अग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचक तथा कवि मैथिन आर्नाल्ड (Mathen Arnold) ने कहा है— कविता एक श्रेष्ठ कार्य का गभीर प्रतिनिधित्व है, जिसका चरम लक्ष्य है। परम आनंद की उत्पत्ति' ('Poetry is the serious representation of an excellent action having the object of creation of highest enjoyment') ड्राइडन (Drydon) के 'Pure delight', और अन्य विद्वानों 'joy', 'delight', 'amusement', 'happiest moment' आदि शब्दों से भी यही तात्पर्य है। इटली निवासी विद्वान क्रोचे (Croche) को 'सौंदर्यानुभूति' और रसानुभूति' मे मेरे विचार मे विशेष अन्तर नहीं। कविता को कवि के परिपूर्ण क्षणों की वाणी (record of happiest moment) कहकर अग्रेजी के प्रसिद्ध कवि शैली (shelley) ने इसी रसानद पर बल दिया है। और अग्रेजी कवि कौलरिज के अनुसार कविता का काम है 'प्रत्यक्ष सौंदर्यानूभूति के लिए सौंदर्य के प्रभाव से भावनाओं को तरगित करना (excitement of emotions for the purpase of immediate pleasure through the medium of beauty)।

पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा रस विवेचन की यहाँ विशेष उपत्ता नहीं, क्योंकि भारत मे इस की इतनी विशद व्याख्या हुई है कि पाश्चात्य मत द्वारा समर्थन निरथक है।

रस-दशा—

रस दशा से संक्षेप में तात्पर्य रसमग्न होना, भावनाओं म लीन होना अपने आप को खो

जाना है। वेदान्तशास्त्र के अनुसार मानव मे पॉच कोशो की स्थिति है—अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष, आनन्दमय कोष। कई मीमांसक रस को ब्रह्मानद सहोदर, परब्रह्मसाक्षात्कार आनन्दमय, लोकोत्तर आदि रूप मे ग्रहण करते हैं। इनके अनुसार रस की अनुभूति इसी आनन्दमय कोष मे होती है। जैसे रस गगाधरकार आचार्य जगन्नाथ का कथन है। परन्तु आचार्य शुक्ल की दृष्टि मे रस की पूर्ण अनुभूति मनोमय कोष मे ही हो जाती है, आनन्दमय कोष तक जाने की आवश्यकता ही नहीं पडती। उनके अनुसार मन का किसी भाव मे रमना और हृदय का उस से प्रभावित होना ही रसानुभूति है। इस दशा मे व्यक्ति हृदय लोकहृदय मे लीन हो जाता है। अंग्रेजी के समीक्षक रिचर्डस के अनुसार भी इस दशा मे लोकगत वैयक्तिक सम्बन्ध के त्याग(detached attitude and impersonality) की आवश्यकता पडती है।

कवि नवरसों की नवल धारा नहा कर आनद सागर की पूर्ति करता है। जिस रस सागर मे वह स्वय निमग्न करता है उसी मे सहृदय पाठक को भी डुबो देता है। पाठक क्षण भर के लिए लोक-सामान्य से ऊपर उठ कर उस उच्च भाव-भूमि मे पहुँच जाता है जहां वह अपनी सुध बुध खोता है और जहां 'अयं निज. परो वेति' का सकीर्ण-भाव लुप्त हो जाता है। यही अवस्था आनन्द की दशा या रस-दशा कहलाती है।

रस निष्पत्ति—

रस दशा का स्वरूप बताने के पश्चात् इस पर विचार करना अपेक्षित है कि रसानुभूति कैसे होती है, रस की सृष्टि कहा कहा और कैसे होती है। रसानुभूति की प्रक्रिया के सम्बन्ध मे रस सिद्धात के आविष्कर्ता भरत-मुनि ने केवल इतना ही कहा है कि भाव विभाव, अनुभाव और सचारी भावों के सयोग से रस की सृष्टि होती है (विभावानुभाव सचारी सयोगाद्रसनिष्पत्ति)। उनके पश्चात् कई आचार्यों ने जिनकी सख्या दस के लगभग है इसकी विशेष व्याख्या की है। अपनी-अपनी धारनाओं के अनुकूल उन्होंने विभिन्न प्रकार के मत प्रदर्शित किए हैं। रस का आधार मानव मन मे संस्कार-रूप मे विद्यमान स्थाई भाव है जो अनुकूल परिस्थिति मे जागृत हो जाता है और विभाव द्वारा उत्पन्न होकर, अनुभाव द्वारा व्यक्त होकर और सचारी भावों द्वारा परिपुष्ट होकर रस मे परिणत हो जाता है। इस प्रकार के परिणत हो जाने मे किसी को आपत्ति नहीं। परन्तु अन्य विस्तार की बातों मे विचारको का परस्पर मत भेद है। मत-भेद निम्न प्रश्नो के सम्बन्ध मे है—

(क) रस की स्थिति किन किन व्यक्तियों मे होती है?

(ख) स्थाई भाव कितने है और उनका स्वरूप क्या है?

(ग) विभिन्न प्रकार के काव्य मे कौन विभाव होते हैं?

(घ) दु खात्मक भावों की अनुभूति सुखात्मक क्यों होती है?

प्रत्येक प्रश्न के सम्बन्ध मे विभिन्न विचारों की विवेचना नीचे की जाती है।

(क) रस स्थिति के पात्र—

भावों का अनुभव करने वाले चार प्रकार के पात्र दिखाई देते हैं—

१ कवि कहानीकार, उपन्यासकार, नाटककार, अर्थात् काव्यकार।

२. पात्र, जिनका चरित्र महाकाव्य, उपन्यास नाटिकादि मे वर्णित होता है. अनुकार्य (जिनका रगमच पर अनुकरण किया जाता है जैसे राम सीता आदि)।

३ अभिनेता नट नटी, जो नाटक के अभिनय में पात्रों का अनुकरण करते हैं।

४ पाठक, श्रोता, (श्रव्यकाव्य में) और दर्शक (दृश्य काव्य में)

भट्टलोल्लट ने रस की स्थिति अनुकार्य में मानी है। शंकुक ने इस का खण्डन करके कहा है कि अभिनेताओं की वेश भूषा से अनुकार्य की अवस्था का अनुमान करके दर्शक आनन्दित होता है। भट्टनायक ने रस की स्थिति दर्शक में मानी है। जो भोजक वृत्ति के जागरण से इस दशा पर पहुँचता है। अभिनवगुप्त 'मुक्तिवाद' के बदले अभिव्यक्तिवाद रखकर रस की स्थिति दर्शक में दिखलाते हैं।

इस सम्बन्ध में एक बात विचारणीय है कि अभिनेता या नट में रस का सचार नहीं होता। यदि अभिनेता में रस का सचार हो तो वह रंगमंच पर विशेष भावों के जागने पर अनावश्यक और अनुचित कार्य करेगा और भावनाओं के वशीभूत होकर सूत्रधार या निर्देशक के निर्देश का उल्लंघन करके नाटक को बिगाड़ेगा। वह क्रोधी परशुराम बन कर लक्ष्मण पर वास्तविक प्रहार भी कर सकता है। और कामाभिभूत दुष्यन्त बन कर शकुन्तला का चुम्बन भी ले सकता है (जो भारतीय रंगमंचीय विधान में वर्जित है) वास्तव में अभिनेता का आंगिक, वाचिक और सात्विक अभिनय बनावटी होता है। वह अभिनय ही होता है यथार्थ नहीं। दर्शक तत्क्षण अभिनेता को अनुकार्य समझता है, परन्तु अभिनेता को इस बात की चेतना होती है कि मैं अनुकरण कर रहा हूँ। फिल्मी जगत में काम करने वालों को इस बात का स्पष्ट अनुभव होता है।

आधुनिक विचारक दर्शक या पाठक की रसानुभूति के अतिरिक्त कवि की रसानुभूति को भी स्वीकार करते हैं। काव्य में वर्णित भावनाओं का स्रोत कवि का हृदय है। कवि सहृदय होता है। साधारण से साधारण घटना उसके हृदय पर चोट पहुँचाती है। समीर का एक झोंका उसके भाव सागर को विक्षुब्ध कर देता है और वह फूट पड़ता है। इसी फूट पड़ने में उसे आनन्द आता है। इन्हीं भावनाओं का शब्द विधान करते हुए वह मनोरम काव्य की सृष्टि करता है। यही भाव काव्य सेवन द्वारा पाठक के मन में भी जागृत हो जाते हैं और परिपक्व होकर रस में परिणत हो जाते हैं। दृश्य काव्य में अभिनेताओं द्वारा प्रत्यक्ष रूप में दृष्ट होने के कारण ये भाव अधिक प्रभावशाली बनते हैं। इस प्रकार कवि के हृदय से कविकल्पित अनुकार्य या पात्र में, अनुकार्य से अभिनेता में, और अभिनेता से पाठक या दर्शक में भावनाओं का प्रसार (Communication) होता है।

(ख) स्थाई भाव—

स्थाई भाव क्या हैं, इनकी संख्या कितनी है, इसके सम्बन्ध में विद्वानों ने बहुत कुछ कहा है। मनोविज्ञान इस बात का साक्षी है कि अनुभूति द्वन्द्व से ही मानव जीवन का आरम्भ होता है। सुखात्मक और दुःखात्मक भावनाओं से ही अर्थात् डा० भगवानदास के शब्दों में आकर्षण और विकर्षण से ही जीवन द्वन्द्व निर्मित है। 'दुःखसुखे समेकृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ' वाली स्थित प्रज्ञ की अवस्था को पहुँचने वाले योगी ही जीवन द्वन्द्व को मिटाने योग्य हो सकते हैं। साधारण व्यक्ति शैशव काल में दो प्रकार की विरोधी भावनाओं सुखात्मक और दुःखात्मक को लेकर उत्तरकाल में सुखात्मक भावनाओं के क्रम हास उत्साह, आश्चर्य, वत्सलता जैसी स्पष्ट शाखाओं तथा दुःखात्मक भावना के शोक क्रोध भय घृणा, उदासीनता जैसी स्पष्ट शाखाओं के वशीभूत होकर कर्म करते हैं। ये भावनाएँ बीज रूप में अथवा संस्कार रूप में प्रत्येक मानव मन में विद्यमान होती हैं। और सम्बन्धित विषय के समुपस्थित होने पर जागृत हो उठती हैं। भरत

अनुभूति से दूर भागता है, इससे डरता है घृणा करता है। परन्तु काव्य जगत में बात उल्टी है। दुखांत नाटक को देखने के लिये जनता की मांग अधिक होती है। नाटक की दुखांत घटनाओं में आनन्द प्राप्ति अनुभवसिद्ध है। उसका कारण क्या है? आचार्य शुक्ल का कथन है कि काव्य गत दुःख की अनुभूति दुःखात्मक तो अवश्य ही होते हैं। परन्तु हृदय की मुक्तदशा में होने के कारण वह दुःख भी रसात्मक होता है। भट्ट नायक के विचार में भोग की दशा में (जिस में विभावों के द्वारा रसानुभूति होती है) तमोगुण और रजोगुण का नाश होकर शुद्ध सतोगुण का उद्रेक होता है। इस कारण से दुखांत घटना भी भोग्य या आनन्ददायक बनती है।

मनोवैज्ञानिक इसी बात को एक और रीति से प्रकट करते हैं। काव्य सेवन में साधारण भावों का उन्नयन होता है। उन्नयन Sublimation की अवस्था में उदात्त भावनाओं की प्रबलता के कारण रोने में भी आनन्द आता है। फ्राइड (Freud) महोदय समस्त कलाओं से दमित भावनाओं का उदात्तीकृत (Sublimated) रूप में प्रकाशन समझाते हैं। हम दुःखात्मक भावनाओं को साधारण जीवन में दबाये रखते हैं। काव्य सेवन में सदृश्य घटनाओं से दुखात्मक भावनाओं के उद्रेक से अपनी दमित भावनाओं के निष्कासन का अवसर और बहाना मिलता है।

काव्य सेवन में पाठक या दर्शक का लोकगत वैयक्तिक संबंध का त्याग होता है। रिचार्ड का पूर्वकथित तटस्थ भावना' (Impersnal and detached attitedo) इस तथ्य को समझने में सहायक हैं। वास्तव में स्थाई भावों की जागृति और विभाव अनुभाव-संचारी भाव द्वारा परिपुष्टि के साथ सामाजिक की 'अयं निज परोवेति' जैसी क्षुद्र भावनाओं का क्षेय हो जाता है, और वह एक ऐसी उच्च भाव भूमि में पहुँच जाता है। जो लोकसामान्य की भूमि से बहुत ऊपर होती है और जहाँ पर सभी भावनायें आनन्दमय हैं। आचार्य जगन्नाथ के अनुसार काव्य की स्थिति आनन्दमय कोष में होती है जो दुःख सुख द्वन्द्व हीन है।

रस दशा का सोपान—

संक्षेप में रस दशा के निम्न सोपान हैं-

१ कवि के मन में भाव विचारों का प्रबोधन और काव्य रचना द्वारा उनकी अभिव्यक्ति।

२ सामाजिक के मन में काव्य के सेवन द्वारा स्थाई भावों की जागृति आलम्बन उद्दीपन द्वारा अनुभावों की उत्पत्ति और संचारी भावों द्वारा स्थाई भावों की पुष्टि।

३ साधारण जीवन में भले बुरे भावों का उन्नयन, रज तम का परिहार और सत् का उद्रेक।

४ साधारणीकरण।

५ रसानंद।

साधारणीकरण की व्याख्या पृथक् रूप में की जायगी।

आधुनिक काव्य में रस का स्थान—

यद्यपि काव्य में भाव तत्व को प्रधानता मिली है। परन्तु आज के कई विचारक इसके बुद्धितत्व, कल्पना तत्व सौन्दर्य तत्व को भी पृथक् रीति से प्रधानता देते हैं। मैथिल आर्नल्ड का अनुसरण करने वाले काव्य को प्रधान तथा जीवन की व्याख्या मानते हैं और रस को गौण समझते हैं,

कई विचारक सौंदर्य पक्ष को ही दुर्बल समझते हैं। ऐसी ही अवस्था मे रस की प्रतिष्ठा मे अन्तर आना स्वाभाविक है। प्रतिष्ठा के अतिरिक्त रस की व्याख्या मे भी अन्तर आ रहा है। वास्तव मे भरत मुनि से लेकर आजतक रस सिद्धांत का उत्तरोत्तर विकास होता रहा है। एक जीवित सिद्धांत मे परिवतन की गुञ्जाइश रहती ही है। अब भी रस सिद्धांत के सम्बन्ध मे निम्न दिशा मे परिवर्तन की आवश्यक्ता की मांग हो रही है।

(I) रस की सख्या का विस्तार होना चाहिए। उदाहरण के लिए भक्ति रस को एक पृथक रस मानने मे कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। भक्तिरस समस्त भक्ति साहित्य का आधार है।

(II) एक ही स्थाई भाव की अपेक्षा नहीं। विभिन्न रसों का समन्वय भी हो सकता है और कभी किसी उपन्यास मे दो रसों का सुन्दर सामजस्य भी होता है।

(III) क्या रस का स्थान काव्य के शेष उपकरणों मे सर्वोपरि है? इस बात की पूरी छानबीन होनी चाहिए। यदि रस का स्थान ही सर्वोपरि है तो 'गोदान' मे कौन-सा रस है जिसको सर्वोपरि मानते हैं?

(IV) आधुनिक हिन्दी काव्य की प्रवृत्ति है। विचार प्रधान बनना और कल्पना प्रधान बनना जिससे प्रगतिवाद, छाया वाद और रहस्यवाद को जन्म मिला है।

(V) रस की अपेक्षा भावदशा पर भी बल देना चाहिए। प्रत्येक मुक्तक काव्य मे रस ढूढना निरर्थक है। छोटे २ भावों पर भी सन्तोष करना चाहिए।

(VI) प्रगतिवादी रस का विरोध करते हैं। भावनाओं मे भी वे दलित जातियों, श्रमिकों आदि के सम्बन्ध के उत्पन्न हुए भावों को ही लेते हैं। मार्क्सवादी शृगार को अभिजाति वर्ग का विलास मानते हैं और इस वर्ग के सर्वनाश, मार काट और क्रांति मे वीर वीभत्स और रौद्र के तथा दलितजातियों श्रमिकों कृषकों और निर्धनों की दीन दशा मे ही करुणा को स्थान देते हैं। फ्राइड वादी यौन कामना मे ही सब रहने का समावेश करते हैं। नग्न शृगार ही को सर्वोपरि स्थान देते हैं। इन सब मतो की छान बीन होनी चाहिए और हस के नीर-क्षीर विवेक के हाथ सत्य और असत्य की पूरी जाच होनी चाहिए।

अंत मे यह कहना होगा कि रस सिद्धान्त की जिस प्रकार की नई व्याख्या हो जाय, यह निश्चित है कि रस की प्रतिष्ठा दृढ है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास
का
काल-विभाजन और उसके आधार

[प्रो० श्रोमानन्द रू० सारस्वत एम ए०]

जब किसी देश की भाषा उन्नति करते करते प्रौढ़ हो जाती है, तो उसके साहित्य के इतिहास लिखने की समस्या उपस्थित होती है। हिन्दी भाषा की प्रौढ़ावस्था के साथ ही यह समस्या भी उद्भव हुई कि उसके इतिहास का काल विभाजन किस आधार पर हो। काल का विभाजन टकसाली रुपयों की भाँति निश्चित और कदा छटा नही हो सकता। काल का विभाजन कर्त्ता कृति, विषय, रीति स्थान राजा, रस, ग्रन्थ अवस्था प्रवृत्ति आदि अनेक आधारों पर हो सकता है। आंग्ल भाषाओं मे राजाओं के नाम पर 'विक्टोरिया युग का नामकरण हुआ। हमारे यहाँ भी व्यक्तियों के नाम पर भारतेन्दु युग प्रसाद युग आदि नामकरण किये गये हैं, हमारे यहाँ प्रमुखता प्रवृत्ति को अधिक दी गई है।

हिन्दी-साहित्य कब से प्रारम्भ हुआ, इसका निश्चित और सामान्य हल नहीं हो सकता। ऐतिहासिक सामग्री का अभाव इस दिशा मे बहुत खटकता है। हिन्दी के इतिहास के लिखने मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का विशेष महत्व रहा है और आज के युग मे उनके इतिहास को सर्व मान्यता भी प्राप्त हुई है। शुक्लजी ने प्रवृत्तियों को महत्व दिया है। जिस काल मे जिस विषय के अधिकांश ग्रन्थ मिले हैं, उन्हीं के नाम पर नामकरण कर दिया गया है। यद्यपि एक काल मे अनेक प्रकार की प्रवृत्तियां प्राप्त होती रहती हैं, किन्तु जिस प्रवृत्ति का बाहुल्य शुक्लजी को मालूम पड़ा, उसी के आधार पर इन्होंने काल विभाजन कर दिया है। उन्होंने हिन्दी के सम्पूर्ण साहित्य को चार विभागों मे विभाजित किया है—

(१) वीरगाथा काल—स० १०५०—१३७५

(२) भक्ति काल—सं० १३७५—१७००

(३) रीति काल—स० १७०० —१९००

(४) गद्य काल—स० १९०० आज तक।

किन्तु किसी भी प्रवृत्ति को हम किसी काल विशेष मे बाँध नहीं सकते। वीरता की कविताएं आज तक होती आई है और सभवत प्राचीन वीररस आज नये रूप मे प्रस्फुटित हुआ है। यही कारण है कि बाबू श्यामसुन्दर दास ने अपने इतिहास में प्रवृत्तियों को काल के बन्धन मे नहीं बाँधा। जो प्रवृत्ति उन्हें जहाँ भी मिल गई उसे उसी काल में ले लिया। वीरगाथा काल मे उन्होंने लाल और भूषण को भी सम्मिलित कर लिया है। यह विभाजन भी साहित्य के काल विभाजन का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत नहीं करता।

इन्हीं प्रवृत्तियों के मिले-जुले आधार को लेकर डा० रामरतन भटनागर ने काल का एक नया विभाजन प्रस्तुत किया है—

आदि युग—७०० से १४०० ई० तक मान कर इसके फिर उपविभाग किये गये हैं। सिद्धा का साहित्य—७०० ई० से १००० ई० तक, नाथ साहित्य—१००० ई से १४०० तक, जैनों का साहित्य १००० स १४०० ई० तक, चारण साहित्य १००० ई० से १४०० तक और हिन्दवी या साहित्य १००० से १४०० इ० तक माना है।

मध्ययुग को १४०० से १९०० ई० तक रक्खा है। पूर्व मध्य युग को १४०० ई० से १६०० ई० तक मान कर उसम मैथिल-साहित्य, संत साहित्य,

प्रेम-साहित्य, राम-साहित्य, कृष्ण साहित्य की डिंगल साहित्य की धारा और खड़ी बोली का साहित्य नामक उपविभाग रक्खे हैं। इसी तरह से उत्तर मध्य युग को १६०० ई० १८०० ई० तक निश्चित करके, इसमें भी रीति या शृंगार साहित्य, राम-साहित्य, कृष्ण-साहित्य, सन्त साहित्य, डिंगल-साहित्य और उत्तर का खड़ी साहित्य नामक विभाजन किये हैं।

तीसरा काल नवयुग माना है, जो १८०० ई० से अब तक का है। इसमें गद्य और पद्य दो विभाग रक्खे हैं।

श्री भटनागर का काल यह विभाजन प्राचीन सभी प्रवृत्तियों को हर काल में देखने का प्रयत्न है, जो साहित्य की स्पष्टता के स्थान पर एक भ्रमक चित्र उत्पन्न कर देता है। साथ ही आदि युग को पंथ या सम्प्रदायों के रूप में विभाजन करना ठीक नहीं है।

डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने विभिन्न कालों की व्यापक विशेषताओं एवं साहित्यिक विशिष्ट परम्पराओं, प्रवृत्तियों एवं प्रगतियों के आधार पर विभाग किये हैं। साहित्य को जीवन मान कर उसकी विशेष अवस्था को आधार मान लिया गया है —

बाल्यावस्था (आदिकाल) में सं० १००० से १२०० तक पूर्वार्द्ध एवं सं० १२०० से १४०० तक उत्तरार्द्ध माना है।

किशोरावस्था (मध्यकाल) को सं० १४०० से १६०० तक पूर्वार्द्ध और सं० १६०० से १८०० तक उत्तरार्द्ध में रक्खा है।

युवावस्था (आधुनिक काल) का परिवर्तन काल में १८०० से लेकर १९०० तक और वर्तमान काल में १९०० से आज तक माना है।

साहित्य की अवस्था का निर्णय करना असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य है। कुछ आलोचक की दृष्टि से तुलसी का युग कविता की प्रौढ़ावस्था की ओर आज के खड़ी बोली का युग इस समय की तुलना में बाल्यावस्था में ही लगता है। अतः अवस्था का यह विभाजन त्रुटिपूर्ण और भ्रामक है। साथ ही इस काल विभाजन में कोई नवीनता भी नहीं है।

डा० रामकुमार वर्मा ने आदि काल का पुन निरीक्षण किया और एक निश्चित तथ्य हमारे सामने रक्खा कि एक भाषा से दूसरी भाषा के बनने के समय को निश्चित रूप (निश्चित) नहीं किया जा सकता। यह समय संधि का द्योतक है, जहाँ तक का अन्त और दूसरे का उदय निहित है। उन्होंने इस प्रकार अपने काल-विभाजन में नवीन काल रक्खे —

सन्धिकाल सं० ७५० से १०००

चारणकाल सं० १००० से १३७५

शेष काल—विभाजन शुक्ल जी से प्रभावित है। डा० वर्मा की मौलिक देन को भुलाया नहीं जा सकता। उनके सन्धिकाल के महत्व को अलग स्थान देना ही पड़ेगा। दूसरा काल वीरता के प्रतीक चारण' एक जाति विशेष पर आधारित है, किन्तु फिर शेष कालों को प्रवृत्तियों के आधार पर रखना कोई तुक नहीं है। पता नहीं डा० वर्मा ने अपनी मौलिकता को आगे बढ़ने से क्यों इन्कार कर दिया।

डा० सूर्यकान्त शास्त्री ने सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य को दो स्थूल भागों में बाँट दिया है —

पूर्वार्द्ध सं० १०५० से १८०० में तक चला गया है। इसमें आदि युग पूर्व मध्य युग और उत्तर मध्य युग रक्खे हैं।

उत्तरार्द्ध को सं० १८०० से अब तक रक्खा है।

इस वर्गीकरण में पूर्वार्द्ध लम्बा और विस्तार मय तथा उत्तरार्द्ध लघु हो गया है। इस स्थूल वर्गीकरण से हिन्दी-साहित्य की स्पष्ट प्रगति दृष्टिगोचर नहीं होती, साथ ही यह विभाजन

साधारण पाठक के मानस-पटल पर हिन्दी के क्रमिक विकास की चित्रात्मकता अंकित नहीं करता। इसका आधार मात्र समय (काल) होने से भी इसमें विविधता का स्पष्टीकरण नहीं हो पाया।

डा० इन्द्रनाथ मदान ने रसों या वादों के आधार पर नितान्त नवीन वर्गीकरण किया। यह विभाजन अपूर्ण होते हुए भी मौलिकता की दृष्टि से विशिष्ट है —

वीर कविता के प्रथम युग में 'रासो' आदि हैं। दूसरे युग मुसलमान काल के वीर कवि तथा लाल, भूषण आदि हैं। तीसरे युग में भारतेन्दु, पूर्ण गुप्त आदि से लेकर 'नवीन' तक को ले लिया गया है।

इसी तरह रहस्यवाद में कबीर नानक, जायसी से प्रसाद पंत, महादेवी तक का वर्णन है। वैष्णववाद और निराशावाद में आज तक के सभी कवियों को सम्मिलित कर लिया गया है।

डा० मदान का विभाजन मौलिक होते हुए भी अपूर्ण है। इसमें सभी वादों या रसों या प्रवृत्तियों का समावेश नहीं हो पाया है, साथ ही गद्य की प्रवृत्ति को बिलकुल ही छोड़ दिया गया है। इस तरह के इतिहास में काल की क्रमबद्धता नहीं रहती और किस विशेष युग में किन किन प्रवृत्तियों–परिस्थितियों–पद्धतियों का उद्‌बोध था–यह भी स्पष्ट नहीं हो पाता।

डा० जगदीश चन्द्र जोशी के मतानुसार इतिहास का विभाजन निम्न रूप धारण करता है—

(१) आदि धर्म साहित्य का युग (२) वीरा-ख्यान और रासक साहित्य का युग, (३) शृंगार और भक्ति का युग, (जिसमें शृंगार भक्ति की स्वतन्त्र रचनाएँ, शृंगार भक्ति की दरबारी रचनाएँ और भारतेन्दु कालीन भक्ति की नवीन रचनाएँ आती हैं। (४) सामाजिक जागृति के साहित्य का युग, (५) राष्ट्रीय जागृति का युग, (६) भावना प्रधान साहित्य का युग, (७) विचार प्रधान साहित्य का युग।

इस विभाजन में आज के (आधुनिक) साहित्य का स्पष्टीकरण तो अधिक है, किंतु सर्वांग पूर्णता की कुछ कमी खटकती है। आधुनिक साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों के दृष्टिकोण को लेकर चलने वाला यह विभाजन कुछ मौलिक होते ही अस्पष्ट अधिक है।

इसके साथ साथ अन्य कई लोगों ने भी साहित्य के इतिहास विभाजन का काम किया जो उपर्युक्त किसी न किसी प्रवृत्ति में आ ही जाता है। किसी महोदय ने वादों और प्रवृत्तियों के समन्वय से एक नवीन वर्गीकरण उपस्थित किया है —

वीरगाथा काल, भक्ति काल, रीति काल, भारतेन्दु काल, द्विवेदी काल, छायावादी काल प्रगतिवादी काल, प्रयोगवादी काल।

इस विभाजन में प्रवृत्ति, वाद, व्यक्ति सभी की पचमेल खिचड़ी हो गई है। इससे तो अच्छा हो यदि हम व्यक्तियों को ही आधार मानकर चलें और कालों को इस तरह विभाजित करदें —

चन्द काल, तुलसी काल, बिहारी काल, भारतेन्दु काल, द्विवेदी काल, प्रसाद काल, अज्ञेय काल।

इसी प्रकार पुस्तकों को आधार मान कर चलने वाला विभाजन भी हो सकता है। उसमें उपर्युक्त सभी कवियों की प्रतिनिधि रचना पर काल का नामकरण हो सकेगा। किन्तु दोनों ही भ्रामक और अपूर्ण रहेंगे।

यदि पक्षपात रहित तर्क का आधार लेकर हम मनन करें तो हमें लगेगा कि आज के हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्राय: सभी काल विभाजन पूर्ण नहीं हैं, यद्यपि अंशत सत्य सभी में

उपस्थित है। सम्पूर्ण काल विभाजनों का अश लेकर हमें एक नवीन वर्गीकरण उपस्थित करना पड़ेगा, जिसकी पृष्ठभूमि मे भाषा भाव रस, व्यक्ति आदि सभी का समावेश हो। मनोवृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ तो परिस्थिति और समय के अनुसार बदलती रहती हैं। किसी भी साहित्य को स्पष्ट करने के लिए उन बदलती हुई मनोवृत्तियो या प्रवृत्तियों को भूला नहीं सकते।

यह निश्चय है कि हम किसी भी काल को किसी नियत समय मे नहीं बाँध सकते, फिर भी स्थूल रूप से ऐसा वर्गीकरण हो सकता है जो परम्पराओं की स्पष्टता को वहन करता हुआ साहित्य का अलग अलग चित्र प्रस्तुत कर सके। अपभ्रश या उसके साथ साथ अन्य भाषाओं के सधि-स्थल पर जो भाषा बन रही थी, वह आगे जाकर हिन्दी बनी। अत प्रारम्भ का काल हमें सधियुग रखना ही पड़ेगा।

साथ ही, हिन्दी के विशाल क्षेत्र व साहित्य को दृष्टि मे रखते हुए उसके दो विभाग अवश्य करने चाहिये—(१) पद्य (२) गद्य। मेरे मतानुसार हिन्दी का सागोपाग नवीन इतिहास निम्न रूप रेखाओं को लेकर चलना चाहिये—

प्रथम भाग—हिन्दी पद्य

(१) सन्धि युग (सवत् ७०० से ११०० तक)
(२) आदि युग („ ११०० से १४०० तक)
(३) पूर्व मध्य युग (सवत् १४०० से १७०० तक)
(४) उत्तर मध्य युग (सवत १७०० से १६०० तक)
(५) आधुनिक युग १६००—
प्रथम दशक १६००-१६१०
द्वितीय दशक १६११-१६२०
तृतीय दशक १६२१-१६३०
.. क्रमश

द्वितीय भाग—गद्य

(१) प्राचीन हिन्दी गद्य (१२०० ई० से १८००)
इसमें राजस्थानी गद्य, ख्यातें, वार्ता आदि सभी आ जावेंगी।
(२) प्रारम्भिक हिन्दी गद्य (१८०० से १८२५ तक)
प्रारम्भिक उन्नायक चार-जोडी आदि इसमें आवेंगे।
(३) विकासोन्मुख हिन्दी गद्य (१८७५ से १६००)
दयानन्द, सितारे हिन्द, भारतेन्दु आदि सभी इसी युग मे आ सकेंगे।
(४) आधुनिक हिन्दी गद्य (१६०० से आज तक)
प्रथम दशक १६०० से १६१०
द्वितीय दशक १६११ से १६२०
तृतीय दशक १६२१ से १६३०
.. क्रमश

इस विभाजन मे आधुनिक गद्य पद्य को दशक मे रखने का तात्पर्य मात्र इतना है कि आज भी विभिन्न प्रवृत्तियाँ तथा अनेक लेखक इतिहासकारों से सम्भाले नहीं सभलते। जो लेखक जिस समय साहित्य-गगन में उदित हुआ हो, उसे उसी काल मे रखना चाहिये, जन्म से नहीं। मेरा विभाजन पूर्ण वैज्ञानिक नहीं है—किंतु फिर भी विद्वन्मडली का ध्यान इधर आकर्षित होगा—ऐसा मैं मानता हूँ।

'पद्मावत' में

नागमती का वियोग-वर्णन

(कुमारी माधुरी देवी त्रिपाठी)

वेदना का जितना 'निरीह, निरावरण, मार्मिक गम्भीर, निर्मल एवं पावन स्वरूप नागमती के विरह वर्णन में मिलता है, वह साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। एक अपरिचित नारी के सौन्दर्य श्रवण से उसे प्राप्त करने की उद्भट लालसा से अनुप्रेरित हो, राजा रत्नसेन का योगी बनकर अनिश्चित काल के लिए गृह-त्याग करना जबकि उसकी धर्म—परिणीता पत्नी नागमती की गोद सूनी है, नागमती के विरह के लिए एक दारुण पृष्ठभूमि उपस्थित कर देता है। बारबार विह्वल होकर वह प्रश्न करती है कि सारस जोड़ी को किस व्याधा ने मार डाला है—

'सारस जोड़ी कौन हरि, मारि बियाधा लीन्ह।'

सखी के यह विश्वास दिलाने पर भी कि यद्यपि रस लोलुप भौंरा कमल के पास चला गया है तो भी मालती के स्नेह का स्मरण होते ही वह लौट आएगा नागमती प्रसिद्ध 'बारहमासा' के रूप में अपनी वियोग वेदना का अत्यन्त निर्मल एवं कोमल वर्णन प्रस्तुत करती है जिसमें हिन्दू दाम्पत्य-जीवन का माधुर्य प्रस्फुटित हुआ है।

भँभीरी फतिंगे के समान सावन मास में पागल बनकर नागमती 'असूझ' पथ पर घूम रही है तथा सर्वत्र जल ही जल देखकर सिंहल पहुँचने की अपनी तात्कालिक असमर्थता का वेदना पूर्ण अनुभव कर रही है—उसका प्यारा कन्त वहाँ तक अपने पैरों के गया था और हीरामन उड़कर अपने पंखों से किंतु उसके पास न तो पंख ही है और न तो पाँव ही है—

"त्रिमि कै भेंटी कन्त तुम्ह।
ना मोहि पाँव न पाँख॥'

संयोग की अवस्था में जो प्रेम सृष्टि की सब वस्तुओं से आनन्द का संग्रह करता है, वही वियोग की दशा में समस्त दुःख का संचयन करता है। नागमती देखती है कि बहुतों के बिछुड़े हुए प्रिय वापस आ रहे हैं—पपीहे का प्रिय पयोधर आ गया सीपी के मुख में स्वाती की बूँद पड़ गई, किन्तु केवल उसी के कन्त नहीं लौटे। इसी कारण विरह रूपी हस्ती से सतायी जाने वाली नागमती को शैथिल्य प्रदायिनी शारदीय ज्योत्स्ना जला रही है, चतुर्दश कला-सम्पन्न चन्द्र उसके लिए राहु बन गया है। इतना ही नहीं, उस मृदुल चाँदनी में उत्ताप ही नहीं, प्रत्युत अंधकार भी है—

"चहूँ खंड लागे अंधियारा।
जो घर नाही कंत पियारा॥"

अगहन आने पर जब दिन मान घट गया तथा रात्रि लम्बी होने लगी, नागमती दीपक की बत्ती की भाँति जल रही है तथा उस विरहिणी का हृदय "सुलगि सुलगि दगधै होई छारा" ऐसी दशा में वह अत्यंत मार्मिक स्वरों में भौंरों से और काग से प्रार्थना करती है कि वे उसके स्वामी के पास यह संदेश सुना दें कि उसकी प्रदीप्त वियोगाग्नि के धूँए से वे काले पड़ गए हैं

"पिउ सों कहु संदेशड़ा हे भौंरा! हे काग!
सो धनि बिरहै जरि, मुई, तेहिक धुवाँ मोहि लागि।'

इस उक्ति में मौलिकता न होने पर भी, उसकी मर्म स्पर्शिता असंदिग्ध है।

ज्यों-ज्यों जाड़ा चढ़ता जाता है, नागमती का हृदय 'हहरि हहरि' कर अधिकाधिक काँपता

जाता है। वह प्रियतम से मिलने के लिए व्यातुर हो जाती है। उसे दिनानुदिन तीव्र से तीव्रतर अनुभूति होती जा रही है कि प्रेयसी और प्रियतम के मिलने में ही रस का मूल है। रत्नसेन भौंरा है, उसका उन्मुक्त यौवन फूल है, वह रस लोलुप है और यह रस की अखड खान—

"तू सो भौर मोर जोबन फूलू।"

अपनी भावुकता का बडा परिचय जायसी ने अपनी इस बात मे दिया है कि विरह विदग्धा अपनी दयनीय अवस्था मे अपना रानीपन एव दम विस्मरण कर जाती है और अपने को केवल साधारण स्त्री के रूप मे देखती है। इसी कारण उसके छोटे-छोटे विरह वाक्य सभी के हृदयों को समान भाव से स्पर्श करते हैं। चौमासे मे पति के न रहने से सामान्य हिन्दू गृहिणी को वियोग-जन्य जो गृह चिन्ताएँ सताती हैं, उनका परम मर्मस्पर्शी चित्र जायसी ने अपनी सहज सहानुभूति के बल से अंकित किया है। नागमती को स्वामी के बिना छप्पर छाना भी कठिन हो रहा है। उसकी पूँजी नष्ट हो गई है, तथा वह सर्वतोभावेन निरवलंब है। उधर वृष्टि हो रही है, इधर इसके निरतर प्रवहमान आँसुओ से उसका शरीर सराबोर हो रहा है। नवीन छप्पर छाने के लिए न बाँस उपलब्ध है, न थूनी न नवीन ठाट—

"कोरौ कहाँ, ठाट नव साजा
तुम बिनु कत न छाजनि छाजा।"

शुक्लजी के शब्दों मे 'यह आशिक म शूकों का निर्लज्ज प्रलाप नहीं है यह हिन्दू-गृहिणी की विरह वाणी है। उसका सात्विक मर्यादापूर्ण माधुर्य परम मनोहर है।"

'पद्मावत' मे यद्यपि हिन्दू-जीवन के परिचायक भावों की ही प्रधानता है, पर बीच बीच मे फारसी साहित्य द्वारा पोषित भावों के भी छींटे कहीं कहीं मिल जाते हैं। विदेशी प्रभाव के कारण जायसी ने वियोग दशा के वर्णन में कहीं कहीं बीभत्स चित्र अंकित किए हैं। विरह जन्य कृशता के वर्णन मे जायसी ने कवि प्रथानुसार पूर्ण अत्युक्ति की है, जैसे नागमती जाडे में अपनी क्षीणता का यों वर्णन करती है कि वह स्वय डोरे के समान क्षीण हो गई है, अत हार क्या पहने?—तथापि ये उक्तियाँ बिहारी की उक्तियों के समान मजाक नहीं होने पायी हैं। नागमती की निम्नांकित करुण दशा हृदय को द्रवीभूत कर देती है, हँसी नहीं उत्पन्न करती—

कत स्नेह मे या ही काली नागमती विरह से दग्धीभूत होकर कोयले के समान काली हो गई है, उसके शरीर मे तोला भर भी माँस नहीं है। रक्त भी अवशिष्ट नहीं है, विरह मे शरीर गल गया है और रत्ती रत्ती करके नयनों के मार्ग से बह गया है—

"रकत न रहा विरह तन गरा,
रती रती कर नैनन्ह ढरा।"

वास्तव मे, जायसी ने जिस अस्थिचर्मावशिष्ट कोयले के समान काली विरहिणी का चित्र अंकित किया है, उसकी कल्पना से सहृदयों की करुणा विगलित सवेदना उसके लिए शत शत धाराओं मे फूट पडती है। रीतिकालीन कवियों की वियोग विधुरा नायिकाओं के प्रति हममे चमत्कार मूलक कुतूहल उत्पन्न होता है, सवेदना नहीं। जायसी की गाम्भीर्य गर्भित अत्युक्तियाँ हृदय की अत्यत तीव्र वेदना के शब्द-सकेत प्रतीत होती हैं। यद्यपि नागमती का ताप रीतियुगीन नायिकाओं के गुलाब जल की शीशी को सुखा देने वाले ताप से कम नहीं है, तथापि जायसी ने उसके वेदनात्मक अंश पर ही अधिक दृष्टि रखी है, उसकी बाहरी नाप जोख पर नहीं जो प्राय ऊहात्मक हुआ करती है। इनकी अत्युक्तियाँ अधिकांशत सवेदना के स्वरूप की व्यजना के लिए नियोजित हैं, न कि उस ताप की मात्रा की नाप करने के लिए।

"नन्हू अगिनि के उठहि पहारा,
मा सब लागहिं, अ गारा ।
नरत बजगिनि करि पिउ छाहाँ,
आइ बुभाइ अ गारन्ह माहा ॥
लागिऊ जरै जरै जस भारू
फिरि फिरि भू नेसु तजिउन बारू ।"

फिर फिर भूँजेसु तजिउन बारू' भाड का तपती वालू के बीच अनाज का दाना भून जाने पर उसी मे बार बार उछल पडता है उसी प्रकार प्रेम जन्य सताप के अतिरेक से नागमती का जीव, हद हट कर भी, उस सताप के सहन की धुरी लत के कारण उसी की ओर प्रवृत्त रहता है । मतलब यह कि वियुक्त प्रिय का ध्यान आते ही चित्त ताप से विह्वल हो जाता है तो भी वह बार बार उसी के ध्यान म मग्न रहता है। प्रेम दशा घोर यत्रणमय होने पर भी मन उसे छोडना नहीं चाहता । इसी विलक्षण मन स्थि त का चित्रण यहा जायसी ने किया है। यहाँ कवि को वेदना के स्वरूप विश्लेषण मे प्रवृत्त पाते हैं, ताप की मात्रा नापने म नहीं ।

काव्य का प्रधान लक्ष्य शुक्ल जी के शब्दा म, किसी भाव या तथ्य का 'गोचर प्रत्यक्षीकरण होता है। बिहारी ने पडोसियों की जाड की रात मे भी बेचैन करने वाले अथवा बोतल मे भरे हुए गुलाब जल को सुखा देने वाले विरह ताप का उल्लेख किया है यद्यपि जायसी न भी एक स्थल पर विरहिणी के ताप से वृक्षों के पत्तो क खल जाने की बात कही है, तथापि उनकी ऊहात्मक उक्तियाँ हेतूत्प्रेक्षा पर आधारित हैं, जिससे उनमें अस्वाभाविकता नहीं प्रतीत होती है। नागमती कहती है कि उसके रक्त के आँसू घुँघुची बन कर सम्पूर्ण वन में फैल गए परवर पक गया है तथा गेहूँ का हृदय फट गया है। इस प्रकार समग्र प्रकृति नागमती के विरह रग मे रजित-सी प्रतीत हो रही है।

नागमती का विरह के आवेग मे उपवना के पेड़ों के नीचे रात व्यतीत कर देना तथा पशु पक्षियों वृक्ष पल्लवों से अपने प्रियतम का सवाद पूछना—इस मार्मिक तथ्य का चित्रण कर जायसी ने मनुष्य और पशु पक्षी सबको एक जीवन-सूत्र मे आबद्ध निदर्शित किया है। काव्य मे अ यत्र जो ऐसे उदाहरण उपलब्ध हैं वे प्राय 'उन्माद' की दशा चित्रित करने के लिए ही अ कित किए गए हैं कि तु जायसी की नागमती अर्द्ध निशीथ म एक *विहगम को अपने करुण विलाप से आकर्षित कर* ही लेती है और वह 'पद्मावती' के लिए उसका सवाद ले जाने के लिए उद्यत हो जाता है। उस नितांत मर्म-ग्राह्य सदेश मे मान गर्व आदि से रहित, सुख भोग की कामना से सर्वथा असम्पृक्त अत्यत नम्र एव विशुद्ध प्रेम की झलक दीख पडती है—

"पद्मावति से कहेउ विहगम,
कत लोभाए रही करि सगम ।
× × × ×
हमहुँ बियाही सग ओही पीऊ,
आपुहि आई जानु पर जीऊ ॥"

अ त मे, वह पद्मावती से बडी करुण विनय करती है—

'धवति न होसि तू बैरिनि, मोर कत नहि हाथ,
आनि मिलाव एक बेर, तोर पाँव मोर माथ ।'

नागमती की यह मन स्थिति कितनी करुणा मयी है। सौत से वह ये शब्द 'तोर पाँव मोर माथ" कह रही है—केवल इसलिए कि वह जादू गरनी उसके कत को एक बार मिला दे । डा० कमल कुलश्रेष्ठ के शब्दों मे, वास्तव मे "यह विरह वर्णन का चरम बिन्दु है। यह स्थिति समस्त साहित्य को नितांत दुर्लभ है ।"

सूर और नन्द के भ्रमर गीत की तुलना

[श्री रत्नसिंह शाण्डिल्य एम० ए०]

भारतीय वाङ्गमय में विरह व्यथा की कथा की अभिव्यक्ति में भ्रमर उपालम्भ का पात्र रहा है। जिस 'वियोग' ने प्रथम 'कवि' बनाया उसी ने भ्रमर को भी युग युग से चली आने वाली काव्य में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त कराने का श्रेय प्राप्त हुआ है। काव्य में नारी ने अपनी अव्यक्त भावनाओं को भ्रमर के माध्यम से निस्संकोच एवं निस्सन्देह व्यक्त किया है। वस्तुतः भ्रमर गीत को यदि हम नारी की विवशता की अभिव्यक्ति कहें तो उपयुक्त रहेगा। जिस हृदय में उठी हुई पीड़ा को जिस मन में उठे हुये भाव को नारी अपने अबलापन के कारण प्रत्यक्ष प्रकट न कर सकी वह उसको भ्रमर के माध्यम से प्रकट कर रही है। भ्रमर का गीत नहीं गीत का भ्रमर है। नारी अपनी समस्त दुर्बलताओं के साथ आँखों में बरसात लिये, हृदय में आँधी और तूफान लिये प्रियतम के संयोग की प्रतीक्षा कर रही है पर वह प्रियतम कठोर से कठोरतम की ओर अग्रसर हो रहा है। नारी के लिये प्रियतम एक, पर प्रियतम के लिये नारी अनेक। बस यही नारी की विवशता है जो उसके विद्रोह उत्पन्न कर देती है और उसको अनुभव होता है कि उसका प्रियतम स्वार्थी है परन्तु उसके इतना कहने पर अर्थात् उसकी अनुभूति की अभिव्यक्ति पर प्रतिबन्ध है वह इसीलिये पराधीन है जिसे 'सुपनेहु सुख नाहीं।' इस कटु अनुभूति की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति के लिये ही उसने भ्रमर को उपालम्भ बनाया है, यहीं से भ्रमर गीत का प्रारम्भ होगया। जिस प्रकार क्रौञ्च मिथुन की पीड़ा से उत्पन्न होने वाली करुणा कवि के लिये मीरा के जीवन की मौन व्यथा की अभिव्यक्ति का माध्यम बन गई है लगता है उसी प्रकार का काव्य एक भ्रमर का विषय उपालम्भ में भी छिपा है। इसकी साक्षी साहित्य का महान इतिहास भी दे रहा है।

भारतीय साहित्य में जिस सरस प्रबल धारा का स्रोत श्री मद्भागवत से प्रस्फुटित हुआ था वही आगे चल कर सूर के 'सागर' में विलीन होने चली। उस सागर में नन्द ने 'भँवर' पैदा किये जिसकी 'विनय' तुलसी को भी करनी पड़ी। आधुनिक कवियों ने भी अपनी काव्यधारा को प्रस्फुटित कर इस विषय को भिन्न भिन्न रूप से ग्रहण किया है। इस प्रसंग पर यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि भ्रमर पुष्प सम्बन्ध तो बहाना मात्र है। प्रस्तुत प्रत्येक कवि ने अपनी विचार धारा के प्रसार के लिये ही इस प्रसंग का चयन किया है। प्रत्येक कवि ने अपनी प्रतिभा के द्वारा मौलिकता का भी प्रदर्शन किया है यह उनके युग की देन है।

हिन्दी काव्य में अनेक भ्रमर गीतों का सृजन या मनन किया गया है किन्तु जो सूर ने अपने 'सागर' को मथकर रत्न निकाला है वह अद्वितीय है। सूर का भ्रमर गीत ज्ञान मार्ग पर भक्ति का विजय घोष है। हिन्दी साहित्य के भक्ति काल में भक्त कवियों ने ज्ञान के आडम्बर युक्त 'कृपाण की धार' सदृश्य कठिन मार्ग के खंडन के लिये या जन साधारण को बचाने के लिये जो प्रयास किये थे उनमें एक यह भी था जो साहित्य में भ्रमर गीत नाम से जाना जाता है। कुछ विद्वान आलोचकों का मत है कि सामन्त युगीन कवियों ने एक पति (राजा) की अनेक पत्नियाँ (रानियाँ) रखते हुये देखा वह प्रत्यक्ष कुछ कहने में असमर्थ थे इसी लिये उन्होंने भ्रमर पुष्प सम्बन्ध को लेकर उन अनेक पत्नियों की चुनौती दी और नारी की विवशता और मूक हृदय की भावनाओं का प्रदर्शन किया है। इस मत में बहुत कुछ सत्य है परन्तु

जिस समय 'ज्ञान का ककहरा भी न जानने वाले उसने पारगत पण्डितों के मुँह जोरी करने लगे। अज्ञान से जिन की आँखें बन्द थी वे ज्ञान-चक्षुओं को आँख दिखाने लगे —

बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन हम तुम्ह ते कछु घाटि।
जानइ ब्रह्म सो विप्रवर आँखि देखावहि डाटि॥ मानस'

जैसे तुलसी के 'मानस' मे यह लोक विरोधी भावना खटकी वैसी ही सूर की भी आँखों मे भी। अन्य कवियों ने भी इस लोक विरोधी भावना को उन्हीं क स्वर मे स्वर मिलाकर चुनौती दी। इसी भावना से प्रेरित होकर तुलसी गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग, लिखने के लिये वाध्य हुये। इसी भाव से प्रेरित होकर सूर ने भ्रमर गीत की रचना और नन्द ने भँवर गीत का सृजन किया है। अत भक्ति काव्य (भ्रमर गीत) मे गोपियां भक्त साधक के रूप मे आती हैं कामातुर नायिका के रूप मे नहीं। उनकी विरह व्यजना भी साधना की अभिव्यक्ति मात्र है। उसमे न काम जन्य पीडा है और न ईर्ष्या द्वेष।

हिन्दी काव्य में भ्रमर गीत की परम्परा निर्माण करने का श्रेय हमारे भक्त शिरोमणि सूर को ही है। जहाँ सूर ने हिन्दी जगत मे अनेक दिशाओं मे मार्ग दर्शन किया वहाँ भ्रमर गीत के नेता एव प्रणेता भी वहीं है। उद्धव की सहृदयता राधा की कल्पना और उसके चरित्र का विकास तथा उद्धव को व्रज भेज कर उसके ज्ञान गर्व को खण्डित करने के उद्देश्य-सभी सूर की मौलिकता है। जिसके उपयोग एव प्रयोग बाद के कवियों ने खूब खुल कर किया है।

सूर और नन्द ने भ्रमर गीत का विषय श्रीमद्भागवत से लिया अवश्य है पर दोनो ने अपनी अपनी विशेषताओं का समावेश उसमे किया है। श्रीमद्भागवत की तरह नन्ददास ने कृष्ण के द्वारा उद्धव को जिस लिये भेजा वह सन्देश नहीं दिलवाया परन्तु सूरदास ने तो कृष्ण के द्वारा ही उद्धव को यह कहलवा कर भेजा —

"सुग सन्देश सुनाय हमारो गोपि को दुख मेटियो।"

किन्तु कृष्ण का अभिप्राय इतने से ही सिद्ध नहीं होता क्योंकि वह तो उद्धव के ज्ञान गर्व को भी खण्डित कराके उसे प्रेम मय बनाना चाहते थे, इसीलिये कृष्ण ने उद्धव की बुद्धि पर तरस खाते हुये उसे व्रज भेजा था। जिस समय कृष्ण उद्धव को व्रज भेज रहे हैं तब उद्धव को कुछ सन्देह हो जाता है तो सूर ने कृष्ण के द्वारा भी ज्ञानियों के सन्देह को भी दूर करवाया है—

"उद्धव! यह मन निश्चय जानो।
मन क्रम बच में तुम्ह पठावत ब्रज को तुरत पलानों॥
पूरन ब्रह्म, बच में तुम्ह, अविनासी ताके तुम हो ज्ञाता।
रेख, न रूप, जाति, कुल नाही जाके नाहिं पितु माता
यह मत दै गोपिन कहँ आवहु विरह नदी में भासति।
सूर तुरत यह जाइ कहौ तुम ब्रह्म बिना नहि आसित॥

यह सब कुछ राधा, गोपियों, माता, पिता, ग्वाल बाल आदि को सान्त्वना देने का तो यह बहाना है। वास्तव मे तो उद्धव के ज्ञान गर्व को खण्डित करने का साधन ही कृष्ण द्वारा सूर ने ढूँढ पाया है। पर हमे उद्धव की बुद्धि पर तरस आता है कि इतना ज्ञान होते हुये भी उसने कृष्ण को 'मुसकाते' हुये देखकर भी कृष्ण की चाल न समझी। इससे यह भी पता लगता है कि सूर ने ज्ञान पक्ष को हराने के लिये कमर बाँधली है। अन्यथा मूर्ख व्यक्ति भी कृष्ण की मुसकराहट मे समझ जाता कि मुझे मूर्ख बनाया जा रहा है पर उद्धव तो कठपुतली है। वैसे कृष्ण आवेंगे दिन चार पाँचि मे' कहलाकर माता आदि को भी सन्तोष देना चाहते है।

इस प्रकार सूर ने कृष्ण द्वारा सन्देश दिलवा कर उद्धव को व्रज भेजने का उपक्रम किया है। पर नन्द ने यह सब कुछ नहीं किया। सूर की कुबजा, जिसका नन्द मे यहाँ खोज भी नहीं है व्रज जाते हुए उद्धव अपनी को सौत के हृदय

जैसी ईर्ष्या द्वेष की भी भावनाओं के परिपूर्ण सन्देश भेजती है :—

मात पिता को हेत जानि कै कान्ह मधुपुरी आए।
नाहिन स्याम तिहारे प्रियतम ना जसुदा के जाए॥
समझौ बूझौ अपने मन में तुम जो कहा भलो कीन्हो।
कह बालक, तुम मत्त ग्वालिनी सबै आप बस कीन्हो॥
और जसोदा माखन काजै बहुतक त्रास दिलाई।
तुमहिं सबै मिलि दाँवरि दीन्ही रच दया नहीं आई॥
अरु वृषभानसुता जो कीन्ही सो तुम सब जिय जानी।
याही लाज तजी ब्रज मोहन अब काहे दुख मानो?
सूरदास यह सुनि सुनि बातें स्याम रहे सिरनाहि।
इत कुबजा उत प्रेम ग्वालिनी कहत न कछु बनिआई॥

इस प्रकार कृष्ण द्वारा संदेश दिलवाकर उद्धव को ब्रज भेजने में सूर की मौलिकता का आभास तो मिलता ही है, साथ ही उसमें स्वाभाविकता भी आ गई है क्योंकि किसी व्यक्ति को कहीं भेजने के पूर्व वहाँ जाकर उसे क्या करना है और क्या कहना है? यह बतलाना आवश्यक भी है और स्वाभाविक भी। यह स्वाभाविकता नन्द के कृष्ण में दिखलाई नहीं देती। नन्द के भ्रमर गीत के प्रारम्भ से ऐसा लगता है जैसे उद्धव ब्रज में आकाश से टूट पड़ा हो इसके नन्द दास की क्रम बद्धता भंग होकर अस्वाभाविकता की झलक आ जाती है। जब नन्द के उद्धव गोकुल आते हैं तो वह पहले उन गोपियों के चरित्र की प्रशंसा कहता है जिनसे वह बात-चीत करने आया है :—

"उधव को उपदेश सुनो ब्रज नागरी,
रूप सील लावन्य सबै गुण आगरी।
प्रेम-धुजा रस रूपिनी उपजावनि सुख पुंज,
सुन्दर स्याम विलासिनी नव वृन्दावन कुंज।
सुनो ब्रज नागरी।

यहाँ पर नंद के उद्धव की वाक पटुता एवं कूट नीतिज्ञता के दर्शन हो जाते हैं। यह विशेषता सूर के उद्धव में नहीं है वह सीधा जाकर गोपियों को अपना उपदेश कृष्ण-सन्देश कहकर देने लग जाता है कि मनुष्य ने उस मूल प्रवृत्ति का ध्यान नहीं रहता जिसके अनुसार मनुष्य उपदेश को अपनी बुद्धि से चुनौती मानकर घृणा करने लगता है। नन्ददास ने इसके लिये एक मार्ग निकाला और उसने पहले उद्धव से गोपियों के रूप लावण्य की प्रशंसा कराई जिससे गोपिया उसकी आगे की बात सुनने के लिये तैयार हो जावें—तब उसने कहा—

'कहन स्याम सदेश एक म तुम पै आयो।'

परन्तु मैं इसलिये ठहरा हूँ-क्योंकि-

'कहत समै सकेत कहूँ अवसर नाहि पायो।

यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि प्रिया को प्रियतम के दर्शन कण-कण और क्षण-क्षण में हुआ करते हैं जिससे जो प्रेम या द्वेष करता है उसकी भ्रान्ति उसे दूसरों में हुआ करती है। इसी लिये उद्धव को देखकर सूर की गोपियों ने बस

'वैसेइ पट, वैसिय रथ बैठनि, वैसयि ही, उरदास।

इतना देखने के पश्चात्—

"जैसे छुति उठि तैसिय दौरी छाड़ि सकल गृह-काम।
रोम पुलक गद्‌गद् भई तिहि छन सोचि अंग अभिराम।
इतनी कहत आय भए ऊधो, रही ठगी तिहि ठाम।

इतना होने अपनी खीज उतारती है—

सूरदास प्रभु ह्याँ क्यों आवें बधे कुब्जा रस स्याम।"

सूर ने प्रेमी के हृदय के प्रत्येक भाव की अभि-व्यक्ति का उन्होंने प्रेम का कोई कोना अछूता नहीं छोड़ा। नन्ददास की गोपिया 'स्याम' का नाम सुनने तक बैठी रहीं और अपने धंधो में उलझी रहीं। परन्तु नयना—भिराम स्याम का नाम सुनते ही गोपिया प्रेमावेश के कारण विह्वल हो उठती है—

'सुनत स्याम को नाम ग्राम गृह की सुधि भूली,
भरि आनद रस हृदय प्रेम बेली द्रुम फूली।
पुलकि रोम सब अंग भये, भरि आये जल नैन,
कण्ठ घुटे गदगद गिरा, बोले जात न बैन।
व्यवस्था प्रेम का।

नन्ददास की गोपियां कृष्ण का सन्देश सुन कर मूर्छित होकर व पृथ्वी पर गिर पडती हैं। कृष्ण का नाम सुनकर तो गोपियों के मुख के वचन ही नहीं निकलते और अब उनका सन्देश सुनकर तो वे बिल्कुल बेसुध हो जाती हैं—

"सुन मोहन सन्देश रूप सुमिरन ह्वै आयो,
पुलकित आनन कमल अग अविस जनायो।
विवहल धरनी परी ब्रज वनिता मुरझाय,
दे जल छींट प्रबोध हीं उधव बैन सुनाय।
सुनी ब्रज नागरी।"

सूर को छोडकर भ्रमरगीत को रचेयताओं मे से कोई भी ऐसा चित्र चित्रित न कर सके जो नन्द के ऊपर चित्रित चित्र की समक्षता में रक्खा जा सके। हॉ! सूर ने इससे भी आगे पहुँच की है उसकी गोपियां तो सन्देश सुनने तक भी कुछ मे न रह सकी वे तो स्याम के सखा उद्धव मे श्याम की भ्रान्ति करके ही बेहोश हो गई थीं जैसा कि हम ऊपर कह आये।

नन्ददास के भ्रमर गीत की विशेषता एव मौलिकता उसकी कथोपकथन की शैली है जिसके कारण उसके भावों को समझने मे भी सरलता हो जाती है और भाव की क्रम बद्धता भी भग नहीं होती।

उद्धव गोपियों को योग शिक्षा दे रहा है—

'वै तुमतें नहीं दूरि ग्यान की आँखिन देखी,
अखिल विस्व भूरिपूरि रूप सब उनहि विसेखौ।

गोपियों का उत्तर कितना मार्मिक एव सरल है—

कौन ब्रह्म की जोति श्याम कासो कहो उधो,
हमरे सुदर स्याम प्रेम को मारग सूधो।

इतने पर भी जब गोपियों की बात उद्धव मानने को तैयार ही नहीं होते हैं और वह वेदों की दुहाई देने लग जाता है तब गोपियां उसके निर्गुण ब्रह्म की आलोचना कर उसे निर्मूल कर डालती हैं।

'जो उनके गुन नाहि और गुन भये कहाँते,
बीज बिना तरु जमै मोहि तुम कहो कहाँ ते।

इस प्रकार नन्द की गोपियां तर्क मे पारगता शास्त्रार्थ मे महारथी वाद विवाद मे कुशल हैं इनके इस तर्क का भी आयोजन नन्द ने एक क्रम से किया है अर्थात् नन्ददास की समस्त रचना म वह सूत्रात्मकता है जो सूर मे हमे नहीं मिलती। सूर के भाव बिखरे हुये हैं। परन्तु नन्ददास ने तो 'श्रीमद्भागवत का उलथा किया है।" इस लिये भावो मे क्रम बद्धता आना स्वाभाविक है, पर सूरदास ने तो अलग अलग पद बना कर गाये हैं जिनका कोई क्रम नहीं है। वस्तु सूर के पदों मे क्रम की आवश्यकता भी नहीं है क्योंकि उसका प्रत्येक पद अपने मे पूर्ण उसे अन्य पद की आवश्यकता नहीं।

नन्ददास ने विरह वर्णन किया परन्तु न तो उसे इतनी फुरसत है और न उसके पास इतना समय और स्थान है जिससे वह विरह की वेदना को इतने विस्तार से व्यक्त करता जितना सूर दास ने किया है। सूर की गोपियां अधिक भाव प्रवण हैं। सूरदास ने बुद्धि और हृदय को समान रूप से छूने का प्रयत्न किया है पर नन्द ने बुद्धि को अधिक।

सूरदास ने प्रेम के दोनों ही पक्षों का वर्णन किया परन्तु अन्य भाव प्रवण कवियों की भांति सूर भी विरह वेदना की अभिव्यक्त मे अधिक लगे हैं। विरह की कथा मे प्रकृति अटपटी सी लगने लगती है, चन्द्रमा आग उगलने लगता है। त्रिविधि वायु मे से लपटें निकलकर आग को ज्वाला करने के काम आती है। सूर ने भी प्रकृति को वैसे ही चित्रित किया है—

" बिन गोपाल बैरिन भई कुजें।
तब ये लता लगति अति सीतल अब भई विषम,
ज्वाल की पुजैं॥
वृथा बहति जमुना, खग बोलत, वृथा कमल फूलैं,
अलि गुजैं।

पवन पानि धनकार सजीवनि दधि सुत किरन भानु
भई भुँजैं ॥
ए, ऊधो, कहियो माधव सों बिरह करन करि
मारत लु जैं ।
सूरदास प्रभु को मग जोवत अँखियाँ भई लाल
ओं गुजैं ॥

नन्द दास के भँवर गीत मे प्रकृति चित्रण नहीं है उसके बिना वह सूना-सा लगता है।

परन्तु जैसा कि हम पहले लिख चुके है कि नन्ददास के भँवर गीत में जो कथोपकथन की शैली अपनाई गई है उससे उसके भाव बोध मे जितनी सरलता है उतनी और कहाँ। नन्ददास ने भ्रमर के प्रवेश की जितनी सुन्दर योजना की है उतनी सूर मे नहीं है—

"ताहि दिन इक भ वर कहूँ, तह आयो।
व्रज बनियत के पु ज माहि गु'जत छबि छायो।
बैठयौ चाटवे पायँ पर अरुन कमल दल जानि,
बनु मधुकर उद्धव भयौ प्रथमहि प्रगटयौ आनि।
मधुप को भेस धरि।

सूरदास ने अपनी गोपियों के द्वारा उद्धव का आगमन भी सव्यंग्य अच्छा कहलवा दिया है जो उनकी अपनी विशेपता है—

ऊधो! भली करी तुम आए।
ये बातें कहि कहि या दुख में व्रज के लोग हसाए॥
कौन काज वृन्दावन को सुख, दही भात की छाक?
अब वे कान्ह कूबरी राचे बने एक ही ताक॥
मोर मुकुट मुरली पीताम्बर, पठवौ सौज हमारी।
अपनी जटाजूट अरु मुद्रा लीजै भस्म अधारी॥
वे तो बड़े, सखा तुम उनके, तुमको सुगम अनीति।
सूर सबै मति भलि स्याम का जमुना जलसों प्रीति॥

इसमे भी उन्होंने कृष्ण के प्रेम पर व्यंग्य किया, है जो स्यात् नन्ददास की सूझ के परे की वस्तु है।

सूर ने ज्ञान पर भक्ति की विजय ही दिखाई है। उसने कम मार्ग को नहीं छेड़ा परन्तु नन्द दास ने उस पर भी भक्ति (प्रेम) की विजय की घोषणा की है क्योंकि नन्ददास पुष्टि-मार्गी है। इसलिये उसने कर्म मार्ग का भी खण्डन किया है। उसे कर्म (चाहे पुण्यात्मक हो चाहे पापात्मक) बन्धन लगते हैं—

'कर्म पाप, अरु पुन्य लोहे सोने की बेरी,
पायन बधन दोउ कोउ मानो बहुतेरी।
ऊँच कर्म ते स्वग है नीच कर्म ते भोग,
प्रेम बिना सब पचि मरै विषम वासना रोग।
सखा सुन श्याम के॥"

सूर की गोपियों मे चंचलता है पर वे उद्धव के मुख के सन्देश सुनते ही उस पर बरस पड़ती हैं. फिर काफी देर तक उसकी बात तक भी नहीं सुनती। परन्तु नन्ददास की गोपियों में वह चचलता नहीं, वह उद्धव की बाते सुनकर एक एक बात तर्कयुक्त उत्तर देती हुई तथा अपने प्रश्न का उत्तर लेती हुई चलती है इस शैली के कारण ऐसा लगता है कि नन्ददास पद्यमय नाटक लिखने का उपक्रम कर रहे हैं। एक बात सत्य है कि 'सूर की तरह नन्ददास ने भ्रमर गीत का विस्तार से वर्णन नहीं किया, परन्तु वे थोडे मे तर्क एवं प्रेम भाव का अच्छा चित्र चित्रित कर सके है। इसमे सन्देह नहीं कि नन्ददास का *भ्रमर गीत विशेष व्यापक और विस्तृत* तो नहीं है परन्तु गम्भीर अवश्य है।

प्रेमी के बहुत फड फड़ाने पर भी जब प्रियतम से भेंट नहीं होती, तब प्रेमी का हृदय विदीर्ण होने लगता है और वह अपने प्रियतम की याद मे रोने लगता है। कृष्ण के वियोग मे गोपियों का रुदन सुनिये—

वा पाछे इक वार ही रोई सकल *व्रज नारी*,
हा करुनामय नाथ होके सब कृष्ण-मुरारी।
फटि हियरो चलयो॥

यह नन्ददास की गोपियों की भावुकता सूर की गोपियों को पछाड़ देती है। इस कथन मे स्वाभाविकता के साथ-साथ नारोचित भाव प्रवणता है ऐसा लगता है कि नन्ददास ने अपनी सारी

भावना यहाँ गोपियों के कण्ठ के उण्डेल दी है। नन्ददास का हृदय उदार है पुष्टि मार्ग की पुष्टि करते हुये भी उसने साम्प्रदायिकता की झलक नहीं आने दी। उसकी गोपियों ने उद्धव के निर्गुण, निराकार ब्रह्म को सगुण और साकार रूप में प्रस्तुत करने की बात नहीं की। वह अपने कृष्ण की ही मूर्ति की प्रतिष्ठा करने में लगा रहता है। परन्तु सूरदास घोर साम्प्रदायिक है। इसी प्रकार जिस प्रकार तुलसी ने कहा था तुलसी मस्तक जब नवे, जब धनुषबान हो हाथ'। सूर ने अपनी गोपियों द्वारा उद्धव से तो हम मानैं बात तुम्हारी' पद में स्पष्ट साकारता मानने के लिये कहता है।

इस प्रकार सूर ने उद्धव के निर्गुण ब्रह्म सिद्धांत को (गोपियों द्वारा) चुनौती ही नहीं दी वरन् उसे साकार रूप धारण करके आने को कहा जो सूर की साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का ही परिचायक है जो नन्ददास के भँवर गीत में खोजने पर भी नहीं मिलेगी।

अब हम भ्रमरगीत एवं भँवरगीत के कला पक्ष पर दृष्टिपात करें। सूरदास का भ्रमरगीत राग है जो भिन्न भिन्न तरजों में निकलता है उनके नाम सारंग, सोरठ, बिलावल, रामकली, टोडी, नट, कल्याण आदि हैं। इन रागों के अतिरिक्त भी सूर ने राग अलापे हैं नन्ददास ने 'मिश्रित छन्दों' में अपने भ्रमर गीत की रचना की है। जिसमें कुछ छन्द सोरठा और दोहों का मिश्रण है और अन्य अन्य का। अन्त में उन्होंने एक टेक दी है जो नन्द दास की विशेषता है।

अलंकारों की दृष्टि से सूर और नंद दोनों ही 'बिन भूषण बिराजहिं' कविता कविता मित्त' वाली बात तो मानते नहीं है इस अलंकार के लिये उन्होंने कुछ प्रयास किया है ऐसी कोई बात नहीं है, उनकी कविता तो प्रकृति की प्राकृत रूप है जिसमें स्वाभाविक सरसता के साथ ही साथ सालंकारिता भी आगई है। अलंकारों में उत्प्रेक्षा, अनुप्रास आदि का प्रयोग काफी हुआ है।

भाषा दोनों की एक ही है वह है ब्रज भाषा जिसके माध्यम से और नन्ददास की कविता का प्रस्फुटन हुआ। दोनों की भाषा में अन्तर अवश्य है। कदाचित सूर ने अपनी भाषा का इतना परिमार्जन नहीं किया जितना नन्ददास ने किया है। इसलिये नन्ददास की कविता में संस्कृत तत्सम शब्द और अधिक है और सूर की भाषा में लौकिक प्रयोग के। भाषा की सुबोधता में नन्ददास सूरदास से बाजी मार ले गये हैं। उनकी भाषा में भाव प्रवण के साथ ही प्रसाद गुण का स्वाभाविक समावेश हो गया है।

सूर का भ्रमरगीत 'सागर' में से मथ कर निकाला हुआ रत्न अवश्य है पर उसमें भावक्रम बद्धता न होने कारण वह सुबोधता और सारल्य, नहीं आ पाया जो नन्द दास ने मानस की स्वाभाविकता एवं भावक्रम बद्धता के कारण भँवर गीत में हमें मिलता है। सूर का भ्रमर गीत विस्तृत होने के कारण सभी क्षेत्रों पर प्रकाश डालता है। पर नन्द दास में वह गुण विलीन हो गये। यदि नन्ददास की भाव क्रम बद्धता और सूर का विस्तार सम्मिश्रत कर एक नया भ्रमर गीत तैयार किया जावे तो वह भ्रमर गीत हिन्दी के लिये अनुपम एवं अद्वितीय रहेगी।

गीतावली

(डा० कन्हैयालाल सहल एम० ए०, पी-एच० डी०)

मूलगोसाईं चरित के अनुसार गीतावली तुलसीदास की प्रथम रचना है किन्तु इसकी शैली और कथावस्तु को देखते हुए यह अनुमान करना पड़ता है कि इसकी रचना मानस के पीछे हुई होगी। डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार गीतावली की रचना लगभग सवत् १६४३ मे हुई होगी। गीतावली की कथा उत्तरकाण्ड मे अधिकतर बाल्मीकि रामायण से साम्य रखती है।

गीतावली की रचना क्रम-बद्ध रूप मे नहीं होगी। 'मानस' के ढंग पर इस पुस्तक मे प्रबन्ध की सम्यक कल्पना नहीं है, यहाँ तक कि रावण-युद्ध भी वर्णित नहीं है, केवल उसका लक्ष्य करा दिया गया है—इसमे कोई मंगलाचरण नहीं। ग्रन्थ का प्रारम्भ राम के जन्मोत्सव से होता है। 'आज सुदिन सुमसरी सुहाई।' काडो के विस्तार मे अनुपात का ध्यान नहीं रखा गया है, कि किरकन्धा कांड मे तो केवल २ पद है। घटनाओं का स्वरूप भी विशृंखल है, चरित्र चित्रण भी पूर्ण नहीं, कैकेयी वरदान की मार्मिक कथा का अभाव है तथा भरत का चित्रण अधूरा है।*

गीतावली पर 'सूरसागर' की छाप है, कृष्ण के समान ही राम का बाल—वर्णन किया गया है किन्तु तुलसी का बाल-वर्णन अधिक वर्णनात्मक है—वे राम की छवि का ही अधिक वर्णन करना चाहते है पर वे बालक की मनोवृत्तियों मे प्रवेश नहीं करना चाहते। 'मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी' मे संभाषण का आश्रय लेकर अभिनयात्मक ढंग से बालक की मनोवृत्ति का चित्रण है किन्तु गीतावली मे अभिनयात्मक अथवा संभाषण-तत्त्व का अभाव है। रूठना, गिर पडना आदि बालोचित क्रीडाओं का अभाव होने से वर्णन मे उतनी स्वाभाविकता नहीं है। तुलसी ने राम के अंग, वस्त्र और आभूषणों आदि का ही विशेष वर्णन किया है। एक ही प्रकार की उपमा और उत्प्रेक्षा कामदेव, कमल, बादल, मयूर आदि का न जाने कितनी बार प्रयोग किया गया है। दास्य भाव अपनाने के कारण तुलसी राम का बाह्य रूप ही वर्णन कर सके राम के मनोवेगों मे वे नहीं घुस सके। जहाँ कृष्ण की लीलाओं मे बालोचित प्रवृत्तियों के विकास के लिए अधिक अवसर है वहाँ मर्यादापुरुषोत्तम राम मे थोड़ी-सी भी उच्छृं-खलता के लिए स्थान नहीं।

गीतावली मे संगीत का तो प्रधान स्थान है पर गीति-काव्य के अन्य गुणों की अवहेलना-सी की गई है। गीतावली के कुछ पद तो बहुत लंबे हो गये है—एक पद तो ५० पंक्तियों मे समाप्त होता है। विविध घटनाओं की सृष्टि के कारण बहुत से पदों मे भाव की एक रूपता भी नहीं है। गीतावली मे गीत रचना होने के कारण केवल कोमल भावनाओं को ही स्थान मिला है। कोमल घटनाओं का सविस्तार वर्णन हुआ है जब कि परुष घटनाओं का संकेत मात्र कर दिया गया है। कैकेयी-दशरथ-संवाद, लंका-दहन और रावण-युद्ध का कहीं वर्णन ही नहीं। ये स्थल गीत के कोमल वातावरण के अनुपयुक्त थे। अयोध्याकांड मे मनोवैज्ञानिक चित्रण की कमी है। 'बिछुरत चरन तिहारे' माता का पुत्र से उसके चरण-वियोग के संबन्ध मे कहना अस्वाभाविक लगता है। वन मार्ग की स्त्रियों द्वारा राम-लक्ष्मण-सीता के रूप की प्रशंसा सुन्दर बन पड़ी है। 'राघो एक बार फिरि आवौ' और सूर के 'मधुकर इतनी कहियो जाय' मे कितना साम्य है। इस पद्य से

* लेख का अधिकांश संकलित है। —लेखक

ध्वनित होता है कि जिस राम के वियोग में घोड़े इतने विकल हैं उसके वियोग में माता की न जाने क्या दशा हुई होगी।

गीतावली में व्यक्तिगत भावना का अभाव है। तुलसीदास राम कथा कहना चाहते हैं। वर्णनात्मक प्रसगों में आत्माभिव्यक्ति के लिए कोई स्थान नहीं रहता। गीतावली न तो पूर्ण रूप से वर्णनात्मक काव्य ही है और न आत्माभिव्यक्ति का उदाहरण का ही। कवि मध्य स्थिति में है वह कभी इस ओर, कभी उस ओर प्रवाहित हो जाता है। तुलसीदास गीतावली द्वारा केवल सौन्दर्य की सृष्टि कर सके किसी उत्कृष्ट काव्यादर्श की नहीं। न तो वे विनय-पत्रिका के समान आत्म निवेदन ही कर सके हो और न मानस के समान कथा प्रसग की सृष्टि ही।

गीतावली में ब्रज भाषा का माधुर्य और भावों की कोमलता है। इसमें शृंगार रस की प्रधानता है। यदि वात्सल्य को सयोग शृंगार के अंतर्गत मान लिया जाय तो सयोग शृंगार का ही प्राचुर्य है। क्योंकि राम का बाल वर्णन सयोगात्मक अधिक है। वियोग शृंगार के वर्णन में कवि कौशल अधिक है यद्यपि वह परिमाण में कम है। 'राघौ एक बार' वाला पद वियोग वात्सल्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। दशरथ का स्वर्गारोहण और लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम के विलाप में करुण रस है। गीतावली में सबसे कमजोर रस हास्य है। जो हौं अब अनुशासन पावौं' में उत्साह की अच्छी व्यंजना हुई है। रौद्र और भयानक के लिए गीतावली में विशेष स्थान नहीं है। वीभत्स का तो पूर्ण अभाव है। हनुमान का सजीवनी लाना आदि में अद्भुत रस है। शान्त रस के लिये भी अधिक अवकाश नहीं। गीतावली में तुलसी की बहुत मधुर अनुभूति है। अनेक स्थानों पर मनोदशा के बड़े करुण चित्र है। 'लषनलाल कृपाल। निपटाई उगरिबी न बिसारि' वाला पद बड़ा कारुणिक है। 'हम पल पाई पीं नरनि तरसत अधिक अभाग हमारो' वाला पद भी करुण्य से भरा है।

भाषा और शैली—गीतावली की रचना अष्टछाप के कवियों की शैली पर हुई। कुछ विद्वानों के मतानुसार गीतावली की रचना रामचरितमानस के पहले की है। इसमें सीता के दूसरे वनवास का भी प्रसग है जिसको रामचरितमानस में छोड़ दिया गया है। गीतावली के कई स्थल बहुत सरस हैं ऐसा लगता है जैसे कवि ने अपना हृदय निकाल कर रख दिया हो। प० रामचन्द्र शुक्ल के कथनानुसार गोस्वामी जी ने गीतावली की रचना ही सूरदास जी के अनुकरण पर की है। गीतावली में लालित्य और माधुर्य का स्रोत बहता है। ब्रजभाषा का माधुर्य पाकर रचना और मधुर हो गई है भाषा परिष्कृत और सुगठित है, तत्सम शब्दों के साथ तद्भव शब्दों के प्रयोग से स्वाभाविकता और मधुरता आ गई। अलंकारों में अधिकतर उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का ही प्रयोग हुआ है। गुणों माधुर्य और प्रसाद का प्राधान्य है। एक ही प्रकार की उपमाओं का बार बार प्रयोग खटकता है। राम से सौन्दर्य की उपमा के लिए न जाने कितनी बार काम का आह्वान किया गया है। गीतावली में कवि की भावुकता का तो इसी से पता चल जाता है कि उसने मर्मस्पर्शी स्थल ही चुन चुन कर गीतों के लिए रखे हैं। गीतावली में मुहावरों का भी प्रचुर प्रयोग हुआ है। भाषा प्रवाह युक्त है। अलंकारों का भी स्थान-स्थान पर सुन्दर प्रयोग हुआ है। हृदय घाव मेरे पीर रघुवीरै' असगति अलंकार का यह उदाहरण तो अत्यन्त प्रसिद्ध ही है। रूपक द्वारा कहीं कहीं सौन्दर्य वर्णन बहुत उत्कृष्ट है 'सिलालवनि रति काम लही री' उदाहरणार्थ रखा जा सकता है।

वस्तु सकलन की दृष्टि से गीतावली महत्त्वपूर्ण रचना नहीं। इस ग्रन्थ में भावनाओं का

(शेष पृष्ठ १४७ पर)

अलंकारों को जटिल भी नहीं बनने दिया। उनकी कविता में अलंकारों की स्थिति अत्यन्त स्पष्ट है—

दृगन उरझत टूटत कुटुम्ब जुरत चतुर चित प्रीत।
परति गांठ दुरजन हिए दई नई यह रीत॥

अर्थालंकारों के अतिरिक्त शब्दालंकारों का भी सुन्दर निरूपण उन्होंने किया है। यमक तथा अनुप्रास कितनी सुन्दरता पूर्वक एक ही दोहे में निरूपित है—

'रनित भृंग घटावाली झरतदान मधुनीर।
मंद मंद आवत चल्यो कुंजर कुंज समीर॥'

इतना होते हुए भी हम यह स्वीकार नहीं कर सकते कि बिहारी के अलंकार सदा ही स्पष्ट होते हैं, उनमें उलझन बिलकुल नहीं आते। 'अज्यो तरौना ही रहयो' आदि दोहों में अवश्य ही बिहारी के अलंकार सम्बन्धी नागजाल आ उपस्थित हुए हैं। पर ऐसे दोहों की संख्या बहुत ही कम है।

रस की दृष्टि से बिहारी की कविता शृंगार के दोनों पक्ष संयोग एवं वियोग से आप्लावित है। बिहारी ने संयोग शृंगार का स्वाभाविक पर विलासपूर्ण सरस चित्रण किया है उन्होंने अपने पूर्ववर्ती शृंगारी कवियों से कहीं अधिक सुन्दर एवं सरस चित्र, आँखमिचौनी, जलक्रीड़ा, झूला, फाग आदि से सम्बधित उपस्थित किया है। बिहारी अनुराग के कवि थे अतः उनकी कविता में प्रेम का सच्चा एवं स्वाभाविक चित्रण एवं अभिव्यक्ति उनकी अपनी विशेषता है।

संयोग शृंगार में बिहारी को जितनी सफलता मिली वियोग शृंगार में उतनी नहीं। उसका कारण यह है कि बिहारी संयोग के कवि हैं वियोग के नहीं। कहीं कहीं बिहारी की अभिव्यक्ति वियोग के वर्णन में अस्वाभाविक हो गई है। यह कहा जा सकता है कि उन्होंने वियोग का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है। इसी प्रकार के वर्णन में 'औंधाई सीसी' आदि पंक्तियाँ आती हैं। कुछ आलोचकों का विश्वास है कि ऐसी प्रवृति बिहारी को अपनी नहीं पर विदेशी प्रभाव है।

जैसा ऊपर कहा गया है बिहारी ने रसानुकूल एवं आकर्षक चेष्टाओं का अनुपम परिचय दिया है। बिहारी की कविता के एक एक शब्द में हाव भाव और उससे सम्बन्धित शृंगारिक चेष्टाओं का अत्यन्त सूक्ष्म वर्णन वर्तमान है—

'बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सोहे करै भौंहनु हसै देन कहै नटि जाय॥

तथा

त्रिवली नाभि दिखाइ कर सिर ढकि सकुचि समाहि,
गली गली की ओट कै चली चली निधि माहि।

बिहारी की कविता में हर्ष अमर्ष, अभिलाषा तथा स्मिति आदि अनेक भावों का एक साथ ही यदि कोई दर्शन करना एवं उनका आनन्द लेना चाहे तो उसे—

'कहत नटत रीझत, खिजत मिलत खिलत लजियात।
भरे भौन में करत है नैनन ही सब बातें॥"

जैसी अनेकों पंक्तियाँ मिल जायेंगी। बिहारी की कविता के अतिरिक्त ऐसी पंक्तियाँ यदि अन्यत्र दुर्लभ नहीं तो कठिन अवश्य है। बिहारी के पहले भी ऐसे हावों भावों आदि का वर्णन सदा हुआ करता था। बिहारी ने प्राचीन वस्तुओं का ही वर्णन किया है ऐसी बात भी नहीं है। उन्होंने अपनी स्वतन्त्र एवं नवीन प्रतिभा का परिचय दिया और नवीन और मौलिक भावों का प्रयोग किया।

बिहारीलाल रूप चित्रण करने में भी किसी से पीछे नहीं रहते हैं। रूप चित्रण का ढंग ही उनका अद्भुत था। उन्होंने कम से कम शब्दों का प्रयोग कर सुन्दर से सुन्दर चित्र उपस्थित किया है—

"सीस मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल।
इहि बानिक मो मन बसौ, सदा बिहारी लाल॥'

बिहारी ने कृष्ण भक्ति सम्बन्धी भी कुछ रचनाएँ की हैं। पर इतने पर ही हम उन्हें कृष्ण

भक्त नहीं कह सकते। "भक्तों के हृदय की सी पवित्रता आर्द्रता कोमलता कातरता दीनता और भाव मग्नता उनमे सामान्यत नहीं पाई जाती।"* हम उन्हें भक्त कदापि नहीं कह सकते, वे केवल कवि थे। उनकी भावना शृगारिक थी। कृष्ण और राधा उनके लिए सामान्य नायक नायिका से भिन्न नहीं।

विहारी ने नीति के दोहों एव सूक्तियों की रचना भी की है। उनकी सूक्तियां अति प्रसिद्ध हैं —

'कनक कनक ते सौ गुणी मादकता अधिकाय।
वह खाय बौरात नर यह पाये बौराय॥

विहारी की सफलता पर *Imperial Gazetter* (Vol II page 423) मे लिखा है—

"Surdar had many successors, the most famous of whom was Bihari Lal of Jaipur, whose Satsaiya or collection of Seven hundred detached verses is one of the daintiest piece of Art in any Indian language
Never the le s each (verse) was a complete picture in itself, a miniature description of a mood or phase of Nature in which every touch of crush is exactly needed one and not one is superfluous यही कारण है कि आगे चल कर Gazetter ने विहारी को "The mine of commentator" की उपाधि प्रदान किया और यह भी कहा कि "No one who reads the u can resist admitting the appropria teness and delegence alike of his diction and thought ' इतना ही नहीं A History of Hindi Literature मे F E Key महोदय ने कहा—"The work of Bihari Lal is a triu npel of Skill and facility in expression '

'Bihari Lal has been rightly called the thompson of India I know no thing alike his verses in any susopean language" निश्चय ही विहारी की कविता रीति कालीन कवियों की कविता मे सर्वश्रेष्ठ है। विहारी की प्रतिभा के कारण की उनकी कविता का अनुवाद सस्कृत एव उर्दू मे हुआ। विहारी की प्रतिभा सर्वोतमुखी थी। विहारी लाल रीति काल के ही नहीं पर हिन्दी साहित्याकाश के एक दीप्त नक्षत्र है जिसकी ज्योति कभी क्षीण होने वाली नहीं।

(शेष पृष्ठ १४४ का)

प्राधान्य है घटनाओं का नहीं। ओज पूर्ण स्थलों का एकान्त अभाव है। लका दहन और राम रावणयुद्ध की इसमे उपेक्षा की गई है। गीतिकाव्य मे जो व्यक्तिगत भावना की अभिव्यक्ति होनी चाहिए वह इसमे नहीं है। राम के सौन्दर्य वर्णन को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया गया है, अत लोक शिक्षा का स्वरूप इसमें नहीं मिलता, वह कवि का इष्ट भी नहीं। उत्तरकाण्ड में जहाँ लवे साग रूपक है वहाँ जी ऊबने लगता है। केवल वर्णनात्मकता से काव्य का सौन्दर्य कम हो जाता है, गीतावली की बाल वर्णन भी सूर की कोटि को नहीं पहुँचता, गीतावली सुर सागर की धुँधली छाया ज्ञात होती है। "कहा सौ विपिन है धौं केतिक दूरि" यह प्रसग तुलसी दास को बहुत प्रिय जान पडता है—कवितावली मे भी तुलसीदास इस प्रसग का उल्लेख कर चुके है।

गीतावली की रचना भी विनयपत्रिका की तरह बहुतसी राग रागनियों मे हुई है। तुलसी की चार सर्वोत्कृष्ट पुस्तकों मे गीतावली का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

---

* विश्वम्भर 'मानव', आलोचना अ क, ५, पृ० २९

कामायनी का "लज्जासर्ग"

[प्रो प्रेमचन्द एम ए]

कामायनी में कुल १५ सर्ग हैं। सर्ग क्रम के अनुसार लज्जा उसका छठा सर्ग है। जिस प्रकार प्रसाद ने कामायनी के लगभग सभी सर्गों का नामकरण भाव विशेष के आधार पर किया है वैसे ही लज्जा सर्ग का नामकरण भी भाव-विशेष के रूप में ही किया गया है। परन्तु, जिस प्रकार अन्यान्य भाव कामायनी में पात्र स्वरूप से भी प्रस्तुत हैं। वैसे ही लज्जा भाव और पात्र दोनों रूपों में प्रस्तुत की गई है। मानव जीवन के भाव क्रम में लज्जा का जो स्थान है, वही कामायनी में भा उसे दिया गया है। चिंता आशा, श्रद्धा, काम वासना और लज्जा यह एक नितांत स्वाभाविक क्रम है। प्रसाद ने लज्जा की प्रथम अनुभूति श्रद्धा में ही जाग्रत कर नारी के स्वभावगत यथार्थ की रक्षा की है। मनु के स्पर्श एवम् उपचार से उत्पन्न समर्पण की भावना के साथ ही साथ श्रद्धा में भी लज्जा का उदय होता है। यह एक जीवन की विडंबना ही है कि "प्रणय की अनुभूति तथा लज्जा की अनुभूति दोनों पारस्परिक विरोधी हो हुये भी एक साथ ही उत्पन्न होती हैं। लज्जा की यह प्रथम अनुभूति नारी में कब और किस प्रकार उत्पन्न होती है, यह वस्तुतः स्यात्, वह स्वय भी नहीं समझती जानती। वह उसे प्रकट तो कैसे कर सकती है इसीलिये श्रद्धा लज्जा के उस प्रथम पदार्पण को केवल उपमानों के सहारे ही अनुभूति और अभिव्यक्त कर पाती है—वह कहती है—

> कोमल किसलय के अंचल में
> नन्ही कलिका ज्यों छिपती सी
> गोधूलि के धूमिल पट में
> दीपक के स्वर में दिपती-सी

जब हम अनेक वार स्थूल वस्तुओं के रूप और सौंदर्य की अभिव्यक्त करने के लिये ही साधारण और सीधी भाषा में असफल हो जाते हैं, तो उपमान और उत्प्रेक्षाओं का सहारा लेते हैं तब फिर लज्जा जैसे सूक्ष्म अदृश्य भाव के चित्रण के लिये श्रद्धा के माध्यम से प्रसाद ने जो उपमानों का सहारा लिया है—वह आवश्यक, उपयुक्त एवम् स्वाभाविक ही कहा जायगा। परतु प्रसाद ने भावरूप में चित्रण के साथ-साथ लज्जा के पात्र रूप में बाह्य-अनुभाविक [अनुभाव संबंधी] स्व रूप को भी चित्रित किया है। जैसे—

> वैसी हा माया में लिपटी
> अधरों पर उँगली धरे हुए
> माधव के सरस कुतूहल का
> आँखों में पानी भरे हुए।

अधरों पर उँगली धरे हुए और आँखों में पानी भरे हुए कहने से एक लज्जाशील नारी का सजीव चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है—क्योंकि अधरों का मौन और आँखों का पानी—यह दो ही गुण किसी नारी को लज्जाशील कहने के लिये पर्याप्त हैं।

> 'सिर नीचा कर हो गूँथ रही'

कहने के साथ ही मानो लज्जा का और इस प्रकार लज्जाशील नारी का एक पूर्ण स्वरूप चित्रित हो जाता है। वस्तुतः लज्जा के दोनों स्वरूप हैं—शरीर जन्य और मानसिक। दूसरे शब्दों में—सात्विक और मानसिक। मानसिक प्रभाव के रूप में लज्जा मन को भी प्रभावित करती है। माना मन अपने ही फलों के बोझ से लदी किसी डाली के समान झुक झुक जाता हो—और यह नारी जिसमें यह लज्जा जागृत होती है, अपने में ही सिमटती-सी जाती है। लज्जा का यह प्रभाव, विशेष रूप में यौवन की उद्दाम लालसाओं को रोकने टोकने में अभिव्यक्त होता है। जब स्वप्नों

से भरा हुआ कलरव का ससार आँखें खोलकर अनुराग के समीरों पर तिरता सा इतराता सा डोल रहा हो, अभिलाषाएँ अपने यौवन में जीवन के समस्त बल वैभव से दूरागत मिलन के सुख का स्वागत करने का सभार करती हों तब यही लज्जा न जाने क्यों उन कोमल भावनाओं की रेशमी डोरियों को खींच लेती है और तब—

छूने में हिचक देखने में
पलक आँखों पर झुकती है
कलरव परिहास भरी गूँजें
अधरों तक सहमा रुकती है।

उस समय रोमालि मौन सकेत करती हुई मानों चुपचाप बरसती खड़ी रहती है। और—भौंहों की काली रेखा मौन भाषा से अपने ही सभ्रम में खो जाती है। वह एक परवशता है जो हृदय की समस्त स्वछन्द स्वतन्त्रता को छीन लेती है और जीवन वन में बिखरे हुए उन्मुक्त फूलों को बीन लेती है। श्रद्धा की उसी अनुभूति को, इसी अनुभूति भरी जिज्ञासा को, लज्जा भी अपने आत्म परिचय में सन्तोष जनक अभिव्यक्ति देती है—उसके स्वय के शब्दों में वह उस चपल यौवन की [धात्री] अभिभाविका है, जिसमें एक अजस्र चेतन धारा निरतर प्रवाहित होती रहती है, जिसमें भोला सुहाग इठलाता है आँखों का कल्याण आनद के फूलों सा विकसित होता है, जो मनुष्य के नस नस में मूर्च्छना के समान मचलता रहता है, जिसके आगमन से नयनों की नीलम घाटी रस घन से छा जाती है, जिसमें ऋतुपति का हिल्लोल गोधूली की ममता, प्रभात का उल्लास और मध्याह्न का विलास है, जो मानस की लहरों पर नवल-चन्द्रिका सा बिछलता रहता है, जिसके अभिनन्दन में हृदय के भाव-कुसुमों की कोमल पखुड़ियाँ बिखर बिखर पड़ती हैं, जिसमें अनत अभिलाषा के सपने प्रत्येक सुनहले प्रभात में जागते हैं और प्रत्येक धूमिल साझ में सोते रहते हैं। वस्तुत लज्जा यौवन का प्रहरी है जो उसकी उनींदी रातों में उसके बिछलन की रखवाली करता है। वह एक आधार है जो ठोकर खाकर गिरते हुए यौवन के हाथ को थाम लेता है लेकिन जिसकी अनुभूति गिरने वाले को नहीं होती।

लज्जा के इस जीवनगत व्यवहारिक स्वरूप का ही चित्रण प्रसाद ने स्वय लज्जा के शब्दों से नहीं किया है वरन् उसके—मनोवैज्ञानिक स्वरूप को भी उदघाटित किया है। अपने मनोवैज्ञानिक स्वरूप में लज्जा रति का ही एक स्वरूप है परन्तु उस रीति का जिसमें कामभावना नहीं है। यदि हम लज्जा का सूक्ष्म विश्लेषण करें तो वह एक ऐसी अतृप्ति है जो स्वय तृप्ति के लिए मना करती है वह एक ऐसी असफलता है जो भावी सफलता को झुठलाती है वह एक ऐसा अवसाद है जो उल्लास के पहले ही आ जाता है। स्पष्ट शब्दों में हम कहें तो स्वय लज्जा के शब्दों में ही कहना होगा कि—

मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ
मैं शालीनता सिखाती हूँ
मतवाली सुन्दरता पग में
नूपुर सी लिपट, मनाती हूँ।

लज्जा का रूप चित्रण यदि हम एक साथ देखना हो तो इन पक्तियों में देख सकते हैं—

लाली बन सरल कपोलों में
आँखों में अजन सी लगती
कुचित अलकों सी घुघराली
मन की मरोर बनकर जगती।

मतवाली सुन्दरता की नूपुर सरल कपोलों की लाली, आँखों की अजन, मन की मरोर, वह लज्जा चचल, किशोर सुन्दरता की रखवाली करती रहती है। वह कान की उस हल्की सी मसलन के समान है, जो अपराध करने से पहले रोकती तो है पर जिसका दण्ड सौन्दर्य बन जाता है।

यद्यपि यह सब प्रमुखत लज्जा से सबंधित है, परन्तु इसमें श्रद्धा की भाव भरे चचल हृदय की विवशता का भी चित्रण दिखलाई पड़ता है।

श्रद्धा लज्जा के इस उपरोक्त अभिभावक स्वरूप को स्वीकृत करती है, परन्तु वह अपने मन का क्या करे ? जिस मन में एक ओर लज्जा जागृत होती है उसी में तो दूसरी ओर यौवन विह्वलता है—नारी का सौन्दर्य ही उसके हृदय की, भाव सुलभ कोमलता ही उसके जीवन की सबसे बडी पराजय ह। न जाने क्यों लज्जा भरी पलकों के क्षितिज पर पर ही प्रेम के श्यामल मेघखड छाजाते है न जाने क्यों अपने ही आप मन के बधन शिथिल मे जाते हैं। और—

> सर्वस्व समर्पण करने की।
> विश्वास महातरु छाया में-
> चुप चप पड़े रहने की क्यों,
> ममता जगती है माया म।

इसका कारण न श्रद्धा जानती है और न सभवत कोई नारी । उस समय तो बस एक यही इच्छा होती है कि पुरुष के जीवन की आकाश गगा मे वह एक झिलमिल नक्षत्र सी चमचमा उठे। और दूसरी ओर चाहती है कि वह अपनी ही मानस की गहराइयों में ऐसी डूब जाए कि कोई उसे उभार न सके अपने ही स्वप्नों की सुघराई मे ऐसी सो जाय कि जिससे उसे कोई न जगा सके। उसके अन्तर मे लज्जा और यौवन का ऐसा भीषण अन्तर्द्वन्द्व चलता है कि—जब कभी वह उन दोनों मे सतुलन रखने का प्रयत्न करती है तो स्वय असतुलित हो उठती है—जब तोलने का उपचार करती है तो स्वय तुल जाती है। और जब लता बनकर पुष्प पादप के विशाल वक्षस्थल को अपनी भुजाओं मे भरना चाहती है तो उसकी शाखाओं में स्वय ही भूल जाती है। जब स्वय कुछ पाना चाहती है तभी स्वय उत्सर्ग बनकर समर्पित हो जाती है। श्रद्धा यह मानती है कि यद्यपि—नारी के इस प्रणय मे केवल आत्म समर्पण है, वासना नहीं परन्तु फिर भी यह विवशता क्यों है—यही नारी का एक वह प्रश्न है, जिसका समाधान इस विवशता को भूल जाने मे है।

लज्जा ही स्वय इसका उचित समाधान दे सकी क्योंकि नारी के वास्तविक जीवन मे भी यदि यौवन नारी का एक प्रश्न है तो लज्जा उसका समाधान। और इस समाधान की परिणति है विश्वास के रजत नग के पगतल म पीयूष स्रोत के समान बहना, केवल बहते रहना।

जीवन मे जो देवी और दानवी भावों का सतत सघर्ष चलता है—उसका समाधान भी नारी की लज्जा के पास है। जो उसे यही कहता है कि—

> आँसू के भीगे अचल पर,
> मनका सब कुछ रखना होगा।
> तुमको अपनी स्मित रेखा से
> यह सधि पत्र लिखना होगा॥

यदि हम कामायनी के इस लज्जा सर्ग पर एक विहगम दृष्टि डालें और उसका सर्वेक्षण [Survey] करें तो हमें अनुभव होगा कि इस सर्ग के द्वारा प्रसाद ने जहाँ एक ओर लज्जा की की विशेषताओं तथा उसके बाह्य स्वरूप पर प्रकाश डाला है। वहाँ यह भी बतलाया है कि किस प्रकार-नारी की स्वाभाविक लज्जा ही उसके मानस मे उसकी यौवन सुलभ भावनाओं के साथ एक अंतर्द्वंद्व उपस्थि त करती है। नारी लज्जा को तिरस्कृत तो नहीं करती परतु वह उसको उसके सपूर्ण प्रभाव के साथ ग्रहण करने म स्वय को असमर्थ भी पाती है। लेकिन प्रसाद ने लज्जा द्वारा दिए गए अन्तिम सन्देश के द्वारा यह प्रतिपादित कर दिया है कि नारी लज्जा को अपनी ही भावनाओं की प्रतिद्वन्द्विनी न समझे। विरोधी न माने। क्योंकि यही लज्जा तो उसे उस आत्म-समर्पण की ओर ले जाती है जिसमे उसके जीवन महिमामयी परिणति है। क्योंकि-लज्जा के विपरीत-यदि कोई दूसरा भाव है तो वह है निलज्जता

जिसका अर्थ है उद्दता और जिसकी परिणति है संघर्ष।

सम्पूर्ण कामायनी के समान लज्जा सर्ग भी अपने काव्य वैभव में उत्कृष्ट है। कवि की प्रतिभा का सर्वाधिक प्रमाण इससे अधिक और क्या हो सकता है कि उसे इस सर्ग में कोई कथा न कह कर लज्जा और श्रद्धा जैसे दो सूक्ष्म भावों का चित्रण और रूप चित्रण दोनों करते हुए उनके पारस्परिक सम्बन्ध को भी मनोवैज्ञानिक आधार पर निर्देशित किया है। इसके लिए कवि को जितना मानवमन की गहराइयों में उतरना पड़ा है उतना ही और सम्भवतः उससे भी अधिक उसको काव्य की आत्मा की गहराई में डुबकी लगानी पड़ी है। सूक्ष्म भावों के चित्रण के लिए सूक्ष्म भाव वाहिनी भाषा योजना की भी आवश्यकता होती है। प्रसाद ने भी अपने चित्रण में भाषा की उसी सूक्ष्म अभिव्यंजना शक्ति का प्रयोग किया है जो लक्षणा और व्यंजना में निहित होती है। उन्होंने प्रमुखतः अमूर्त व्यञ्जनाओं का ही आधार लिया है। यह अमूर्त उपादान प्रकृति के सौन्दर्यगत प्रभाव से चुने गए हैं। लज्जा के लज्जाशील चित्रण में प्रकृति का आधार अवश्य लिया गया है परन्तु उपमान रूप में प्रकृति नहीं प्रकृति का सौन्दर्यगत प्रभाव उपस्थित किया गया है।

मञ्जुल स्वप्नों का विस्मृति में,
मन का उन्माद निखरता ज्यों।
सुरभित लहरों की छाया में,
बुल्ले का विभव बिखरता ज्यों।

अमूर्त का मूर्तिकरण और मानवी करण भी इस सर्ग में हुआ है जैसे—

भरे स्वप्नों में कलरव का,
संसार आँख जब खोल रहा।
अनुराग समीरों पर तिरता था,
इतराता सा डोल रहा॥

इसी प्रकार—

अभिलाषा अपने यौवन में
उठती उस सुख के स्वागत को॥
जीवन भर के बल वैभव से,
सत्कृत करती दूरागत को॥

इसी प्रकार विशेषण विपर्यय भी इस सर्ग में अनेक स्थानों पर आया है जैसे—

(१) भोला सुहाग इठलाता हो।
(२) जागरण प्रात सा हँसता हो।

अलङ्कारों की दृष्टि से कवि ने उपमा और रूपक का प्रयोग अधिकांश में किया है। उपमा—

कोमल किसलय के अंचल में,
नन्हीं कलिका ज्यों छिपती सी॥
गोधूलि के धूमिल पट में,
दीपक के स्वर में दिपती सी॥

रूपक—

मैं देव सृष्टि की रतिरानी,
निज पचबाण से वञ्चित हो॥
बन आवर्जना मूर्ति दीना,
अपनी अतृप्ति से सचित हो॥

इस प्रकार काव्य कला की दृष्टि से भी लज्जा सर्ग में प्रसाद की भाषा और उनकी छंद योजना कवि के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों को उसकी अमूर्त व्यञ्जनाओं को वहन करने में सफल हुई है। प्रसाद इस दृष्टि से हिन्दी कवियों में अपना एकान्तिक और अद्वितीय स्थान रखते हैं।

दिनकर का 'रश्मि-रथी'

[प्रो० वासुदेव, एम० ए०]
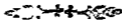
कुरुक्षेत्र' (सन '४६) के बाद सन् '५२ में 'रश्मिरथी' नामक दिनकर दूसरा महाकाव्य प्रकाशित हुआ। पहले महाकाव्य की रचना से न तो कवि को सन्तोष हुआ और न आलोचकों को, क्योंकि कुरुक्षेत्र में महाकाव्यत्व की अपेक्षा विचार तत्व और चिन्तन की ही प्रमुखता है। अत महाकाव्य अथवा प्रबन्धकाव्य की दृष्टि से यह ग्रन्थ सफल नहीं हुआ। इस कमी को दूर करने के लिये दिनकर ने रश्मिरथी' की रचना की जिसमें कवि ने प्रबन्धकाव्य के समस्त अवयवों का समावेश करने का प्रयत्न किया है। यहाँ उसने अनेक मार्मिक स्थलों का उद्घाटन किया है, तथा कथा-तत्व को गतिशील बनाए रखने में अनेक कथोपकथनों का आयोजन किया है। दिनकर जी ने 'रश्मिरथी' की भूमिका में इस काव्यकृति के दो उद्देश्य बतलाए हैं। उन्हीं के शब्दों में, 'हजारों वर्षों से हमारे सामने उपेक्षित एवं कलंकित मानवता का प्रतीक बनकर कर्ण ने अपने वर्ग के 'उद्धार के लिए 'नई मानवता की स्थापना का प्रयास' किया है।" इससे यह स्पष्ट है कि रश्मिरथी' के द्वारा कवि दिनकर एक ओर उपेक्षित एवं कलंकित मानवता के मूक प्रतीक कर्ण का उद्धार करना चाहते हैं और दूसरी ओर उसके द्वारा नई मानवता की स्थापना का प्रयास भी करना चाहते हैं। इन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रखकर इस प्रबन्ध-काव्य की रचना हुई है। इसके अतिरिक्त, कवि ने 'अपने समय और समाज के विषय में' कुछ कह देने का भी लोभ संवरण नहीं किया। हिन्दी के एक आलोचक ने कवि के इस प्रयास को 'निरर्थक, गलत, अनैतिहासिक, खोखला और असामाजिक कहा है।[1] वास्तव में, इस पुस्तक का कर्ण चरित्र एक गहरे विवाद का विषय बन गया है। प्रबन्धकाव्य की दृष्टि से भी 'रश्मिरथी' को कहाँ तक सफलता मिली है यह भी एक सन्देह की बात है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसमें कथासूत्र का सम्यक् निर्वाह, मार्मिक स्थलों का उद्घाटन, चरित्र चित्रण, संवाद और दृश्य विधान आदि का सर्गबद्ध आयोजन हुआ है, लेकिन केवल प्रबन्ध काव्य के तत्त्वों को गिना देने से ही कोई कृति महाकाव्य अथवा प्रबन्ध काव्य नहीं हो जाती। महाकाव्य के लिए जीवन में जिस विराटता, गंभीरता और विशदता की आवश्यकता होती है, उसका 'रश्मिरथी' में सर्वथा अभाव है। यहाँ चरित्र और कथानक वक्र रेखाओं से न उलझकर, एक सरल रेखा की तरह आगे बढ़ते गए हैं। इसी तरह किसी भी सफल उपन्यास के लिए यह आवश्यक है कि वह युग का दर्पण हमारे सामने उपस्थित करे। लेकिन हमें खेद है कि इस दिशा में भी कवि को सफलता नहीं मिली है। 'रश्मिरथी' में जिस युग का स्वर मुखरित हुआ है, वह न तो महाभारत का है और न आधुनिक युग का। ऐसा लगता है, जैसे दिनकर एक साथ अतीत और वर्तमान दोनों को। ऐतिहासिक और पौराणिक युगों को आत्मसात् कर लेना चाहते हैं। इस कृति में जहाँ कहीं भी दैव घटना का नियोजन हुआ है, वहाँ हम अपने को पौराणिक युग के बहुत समीप पाते हैं और जहाँ कवि कर्ण के अस्पृश्यता निवारण का पक्ष समर्थन करने लगता

---

[1] निर्धमित राष्ट्रकवि—ले०—श्री कामेश्वर शर्मा, पृष्ठ ६१।

है, वहाँ हम युगों को लाँघकर 'गाँधी-युग' में लौट आते हैं। सच तो यह है कि इसमें न तो युग बोलता है और युग-युग की चिन्ताधारा प्रवहमान हुई है। महाकाव्य को क्लासिकल (Classical) बनाने वाली एकमात्र शक्ति तब पैदा होती है, जब कवि की चिन्तना देश और काल की सीमा का उल्लंघन कर विश्वात्मा की स्थापना में सहायक होती है। इस दृष्टि से 'रश्मिरथी' का महाकाव्यत्व सफल नहीं हुआ, क्योंकि स्थायी सन्देश का अभाव बुरी तरह खटकता है। अतः 'रश्मिरथी' महाकाव्य की कोटि में नहीं आ सकता। ऐसी स्थिति में, महाकाव्य-परम्परा के आधुनिक सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त की समता ग्रहण करना कवि दिनकर के लिए समुचित न होगा। मैं तो कहूँगा कि अगर दिनकर 'कुरुक्षेत्र' की तरह ही कोई विचारोत्तेजक काव्य लिखे होते तो ज्यादा अच्छा होता।

'रश्मिरथी' एक विफल प्रबन्ध-काव्य है। इसके लिए कर्ण का चरित्र ही उत्तरदायी है। दिनकर ने इस महाकाव्य के लिए जिस कर्ण को नायक का पद दिया है, वह हमारे युग के लिए न तो उपयोगी है, और न अपेक्षित है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि दिनकर जी ने 'कुरुक्षेत्र' में युद्ध के जिन कारणों का स्पष्ट निर्देश किया है, उनका जीता-जागता प्रतीक 'रश्मिरथी' का कर्ण है। 'कुरुक्षेत्र' में कवि ने युद्ध के कारणों और उसके स्वरूप पर इस प्रकार प्रकाश डाला है :—

> यों ही नरों में भी विकारों की शिखाएँ आग-सी
> एक से मिल एक जलती हैं प्रचण्ड वेग से,
> तप्त होता क्षुद्र अन्तर्व्योम पहले व्यक्ति का
> और तब उठता धधक समुदाय का आकाश भी—
> क्षोभ से, दाहक घृणा से, गरल ईर्ष्या, द्वेष से।
> भट्ठियाँ इस भाँति जब तैयार होती हैं तभी
> युद्ध का ज्वालामुखी है फूटता
> राजनीतिक उलझनों के व्याज से,
> या कि देश प्रेम का अवलम्ब ले।
> किन्तु सबके मूल में रहता हलाहल है वही,
> फैलता है घृणा से स्वार्थमय विद्वेष से।
>
> —'कुरुक्षेत्र'।

इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि युद्ध की संभावना तभी बढ़ती है, जब व्यक्ति में विकारों की अग्नि-शिखाएँ भभकने लगती हैं और जब मन क्षोभ, घृणा, ईर्ष्या और द्वेष से भर जाता है। युद्ध की ज्वाला किसी राजनैतिक उलझन का बहाना लेकर अथवा देश-प्रेम का अवलम्ब लेकर दो गुटों में फूट पड़ती है। 'रश्मिरथी' का कर्ण एक ऐसा ही व्यक्ति है जो स्वभाव से हठी और विचार से दृढ़व्रती है। हठ के साथ दृढ़ता का योग जीवन, समाज और सभ्यता के लिए एक ऐसा खतरा है, जो सबको मिटाकर दम लेता है। संसार के इतिहास में इसके अनेक उद्धरण दिए जा सकते हैं। कर्ण के हठ का एक ज्वलंत उदाहरण निम्नांकित पंक्तियों में द्रष्टव्य है,

> "मुझको भी प्रलय मचाना है,
> कुछ खेल नया दिखलाना है,
>
> × × ×
>
> अर्जुन का शीश उड़ाना है,
> कुरुपति का हृदय जुड़ाना है
> करने को पिता! अमर मुझको
> है बुला रहा समर मुझको।"

भीम कर्ण को युद्ध से विमुख होने का उपदेश देते हैं। वे कहते हैं,

> "चल सके सुयोधन यदि कुश,
> बेटा! लोग जग में नया सुयश,
> लड़ने से बढ़ यह काम करो,
> आज ही बंद संग्राम करो,
> यदि इसे रोक तुम पाओगे,
> जग के त्राता कहलाओगे।"

लेकिन कर्ण ने इस ऐतिहासिक प्रस्ताव को ठुकरा दिया। इसके विपरीत, वह युद्ध को सद्धर्म तक पहुँचने का एक साधन समझता है। उसने कहा—

'सब आख मू दकर लड़ते हैं
जय इसी लोक में पाने को,
पर कर्ण जूझता है कोई
ऊ चा सद्धर्म निबाहने को।'

कर्ण की युद्ध ललकार मे हमें अ ग्रेजों के 'क्रुसेड' और मुसलमानों के 'जेहाद' की स्पष्ट प्रतिध्वनि सुनाई पडती है। इन बातों से यह स्पष्ट है कि कवि दिनकर ने कुरुक्षेत्र मे युद्ध के जिन कारणों पर प्रकाश डाला है, उसकी व्यवहारिक सचाई कर्ण चरित्र क द्वारा प्रमाणित कर दी है। इस तरह हम कह सकते हैं कि 'कुरुक्षेत्र' अगर दिनकर जी का युद्ध सबधी सिद्धान्त काव्य है, तो 'रश्मिरथी उसके व्यवहारपक्ष। यहाँ तो बात ठीक जचती है, पर कवि ने कर्ण के चरित्र के साथ अनावश्यक पक्षपात कर और उसके चरित्र को अनाकांक्षित उत्कर्ष देकर अपने मतवाद को भी कु ठित किया है। 'कुरुक्षेत्र मे दिनकर का कवि युधिष्ठर का प्रतीक बन कर शकाओ और जिज्ञासाओं के साथ उपस्थित हुआ था। लेकिन 'रश्मिरथी मे कर्ण को अपन हृदय की समवेदना और सहानुभूति दकर अपने को कर्ण का प्रवक्ता (Spokesman) बना दिया है। ऐसा लगता है कि निम्नांकित पक्तियाँ दिनकर के परिवर्तित कृतित्व को दिया है स्पष्ट कर रही है—

'इस चार दिनों क जीवन को,
मै तो कुछ नहीं समझता हू ।
करता हू वही सदा जिसको,
भीतर स सही समझता हू ॥"

इन पक्तियों से हमें स्वतत्र प्रकृति के पुरुष का बोध अवश्य होता है। लेकिन समाज मे इस प्रकृति का सही मूल्य माना नहीं जाता। विवेक के अभाव मे भावना लूली लॅगड़ी है। कर्ण के चरित्र का सबसे बडा दोष नहीं है कि वह विवेक हीन है। ऐसा व्यक्ति उपेक्षित और कलकित मानवता का प्रतीक कैसे हो सकता है, जो भगवान कृष्ण का कहना नहीं मानता, पितामह भीष्म को दो टूक उत्तर देता है, माँ कुन्ती की भर्त्सना करता है और पिता सूर्य की आकाशवाणी को अनसुना कर अठारह अक्षौहिणी सेना के मटियामेट करने पर बाल हठ करता महाभारत के समाम मे अनावश्यक बल और पराक्रम दिखलाता है। 'रश्मिरथी' मे ऐसा एक भी प्रसग सामन नहीं आया, जिसमे कर्ण के द्वारा पीड़ित मानवता, दरिद्र और दुखियों को दान दिया जाता दिखलाया गया हो। सच तो यह है कि दिनकर जी ने महाभारत के कर्ण के जीवन से सम्बन्धित अनेक घटनाओं का कहीं कोई उल्लेख नहीं किया, जो उसके चरित्र को हीन और निम्न कोटि का बनाती' है। उस व्यक्ति को, आदर्श पुरुष कैसे कहा जा सकता है, कलिंग देश के अन्तर्गत राजपुर नगर के राजा चित्रांगद की राजकुमारी का अपहरण भरी स्वयवर-सभा से दुर्योधन के लिए करता है। दुर्योधन जैसे व्यक्ति को अपना मित्र मान कर उसकी हर तरह की सहायता कर अपने को धन्य समझना उसके तथाकथित आदर्श पर प्रश्न रूप चिह्न आज भी बना हुआ है। इसके अतिरिक्त, यह युद्धवीर मगधराज जरा सन्ध को द्वन्द्व-युद्ध मे पराजित कर उसके प्रसिद्ध नगर मालिनी' अर्थात् 'चम्पा' को अपने राज्य अङ्ग देश म मिला लेता है। वीर धनुर्धर कर्ण पितामह भीष्म द्वारा केवल अर्द्ध रथी' कहे जाने पर भीष्म से वैर बदला चुकाने की सोचना कहाँ की आदर्शवादिता है। रश्मि रथी' मे इन प्रसगों का कहीं कोई उल्लेख नहीं

हुआ है। क्योंकि कवि कर्ण के चरित्र को ऊपर उठाना चाहता है, और कल्पना के गगाजल से इस 'सुतपुत्र' का उद्धार करना चाहता है। यह कहना ठीक ही होगा कि 'रश्मिरथी' मे कर्ण के सारे प्रयत्न प्रारम्भ से अन्त तक सिर्फ एक व्यक्ति अर्जुन को परास्त करने के लिए किए गए थे। वह स्वय कहता है—

"रण में कुरुपति का विजय वरण,
या पार्थ हाथ कर्ण का मरण॥
हे कृष्ण! यही मति मेरी है।
तीसरी नहीं गति मरी है॥"

कुन्ती ने भी एक स्थान पर कर्ण से कहा था—
'सच पूछो तो यह कर्ण पार्थ का रण है।'

सिर्फ एक व्यक्ति के हठ के लिए अठारह अक्षौहिणी सेना का सर्वनाश हुआ—ससार के इतिहास में कर्ण जैसा युद्धवीर कहाँ मिलेगा। और दिनकर जी कहते हैं—

"कर्ण चरित्र का उद्धार एक तरह से नई मानवता की स्थापना का ही प्रयास है।" प्रो० रामेश्वर शर्मा का कहना ठीक ही है, "सम्पूर्ण 'रश्मिरथी' मे कर्ण का यह व्यक्तिगत प्रतिशोध ही दिखाया गया है। प्रारभ से अ त तक इसी प्रतिशोध भावना को क्रमश जागरित रखने की चेष्टाएँ हैं। सात सर्गों वाली एक सौ-पचासी पृष्ठों की इस मोटी पुस्तक में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं दिखाया गया है, जहाँ कर्ण से मानवता की रक्षा की हो दलितों की भावनाओं को वाणी दी हो और उनके लिए थोडा भी प्रयत्न किया हो।"

कर्ण के चरित्र का सबसे प्रभावशाली अ श वहाँ दृष्टिगत होता है, जहाँ उसने दैव तथा नियति को ललकारा है। उस स्थल पर कर्ण की आंतरिक वीरता और मनुष्योचित चरित्र का व्यक्तित्व अधिक निखरा है जब वह इन्द्र के द्वारा कवच और कु डल माग लिए जाने पर कर्ण अपनी कर्म वीरता और अभाग्यवादिता का परिचय देता हुआ कहता है—

'विधि ने था क्या लिखा भ ग्य में खूब जानता हू मे,
बाँहों को पर कहीं भाग्य स बली मानता हूँ म।
महाराज, उद्यम से विधि का अ क उलट जाता है,
किस्मत का प्यासा पौरुष से हार पलट जाता है।

कर्ण के चरित्र का यह रूप अधिक आकर्षक है, जो हमे कर्मशीलता का अमर सदेश देता है। इस प्रकार हमने देखा कि दिनकर का 'रश्मि रथी' एक विफल प्रयास है, जिसके द्वारा हमें कोई स्वस्थ सदेश नहीं मिलता।

(शेष पृष्ठ १६० का)

सकलनत्रयी का उचित निर्वाह भी इस कृति मे हो गया है।

विषय गत दुरूहता एव वस्तुगत जटिलता के अभाव में यह कृति आत्मानिष्ठ प्रणयानुभूति का सहज विकास प्रस्तुत कर सकी है। अत सम्भव है कहीं नियमों की आवश्यता का उल्लघन मिले पर नाटिका की आन्तरिक गहराई से किसी को आपत्ति न होगी। और फिर क्या किया जाय—नाटिका का प्रतिपाद्य तो प्रणय है जिसकी प्राणवत्ता प्रतिबन्धों को तोड कर ही विकसित होती है।

(शेष पृष्ठ १५७ का)

को जाना, कठों की वीरत्व देखकर व्यास के इस पार यौधेयों की शक्ति से घबराकर उसका पीछे लौटना आदि बातों का कोई भी ऐसी नहीं, जिसकी साक्षी इतिहास में देता हो।

लौटकर झेलम के किनारे किनारे दक्षिण को जाना, क्षुद्रक और मालवों का मुकाबला, मालवों के तीर से घायल होना, क्षुद्रकों को भेट पूजा से प्रसन्न करना, दक्षिण वाहीक के अम्बष्ठ, क्षत्रिय, मुचिकर्ण आदि गण राज्यो को अधीन करना, फिलिप्स को क्षत्रप नियुक्त करना, पातानप्रस्थ होकर स्थल मार्ग से होकर यूनान गया।

उपन्यास "चाणक्य" में इतिहास और कल्पना

(डा० पद्मसिंह शर्मा "कमलेश" M. A PH D)

जाते समय सिकन्दर ने फिलिप्स को सिंध के पश्चिम प्रदेश का क्षत्रप नियुक्त किया था। चद्रगुप्त ने जब सिकन्दर के चले जाने पर विद्रोह किया और फिलिप्स की हत्या कराई तो सिकन्दर ने सिंध पर यूनानी शिविर के अध्यक्ष यूथिदमस को फिलिप्स का उत्तराधिकारी बनाया था। लेकिन चद्रगुप्त के सामने उसकी भी कुछ न चली। सिकन्दर की मृत्यु के बिसरत मेसोडिनियन साम्राज्य के उत्तराधिकार के लिए झगडे होने शुरू हुए। मुख्यत ऐण्टीगोनस और सेल्युक्स में ही उत्तराधिकार का झगडा था। सेल्युक्स अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुआ। उसने भारत पर आक्रमण किया था। चद्रगुप्त ने उसे पराजित कर दिया और उसे कैद कर पाटलिपुत्र लाया गया। उससे जो सधि हुई उसमे निम्नलिखित शर्तें तय हुई —

१ चंद्रगुप्त सेल्यूक्स को ५०० हाथी दे।

२ सेल्यूक्स सिंध के पश्चिम किनारे के इन प्रांतों को चद्रगुप्त के अधीन कर दे। पैरोपे निसडेई एरिया और आर्कोसिया इसकी वतमान राजधानिया काबुल हिरात और कान्धार हैं।

३ दोनों सम्राटों मे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया गया जिसके अनुसार सेल्यूक्स ने अपनी लडकी का विवाह चद्रगुप्त के साथ कर दिया।

इस सधि से चन्द्रगुप्त के राज्य की पश्चिमीय सीमा हिन्दूकुश पर्वत श्रेणी, जिसे यूनानी लोग पैरोपोनिसस या भारतीय काकेशश कहते थे, बनाई। यह भारतीय राष्ट्र की स्वाभाविक सीमा थी। मेगस्थनीज पाटलिपुत्र मे यवन राजदूत बनकर चिरकाल तक रहा।

इतिहास के आधार पर सिकन्दर केवल एक सेनापति न था। वह ससार को जीतने के साथ साथ ससार की सभी जातियों को मिलाकर एक कर देने के सपने भी देखता था। उसने यूनानी पारसी और भारतीय आर्यों के सम्बन्ध को परस्पर विवाहो से पुष्ट किया और जगह जगह ऐसे केन्द्र स्थापित किये जिनसे इन जातियों मे ज्ञान और व्यापार का सम्बन्ध बना रहे। यह निर्विवाद है कि उसकी नीति से जातियों मे दृष्टिकोण की विशालता आई।

लेकिन वह बडा क्रूर था। उसने अपने प्रति द्वन्द्वियों के प्रति बड़ी कठोरता का व्यवहार किया। उसने वैक्ट्रिया के ईरानी सूबेदार बेलस को, जो दारयवहु के बाद ईरान का सम्राट बना, कोडे लगवाये और नाक-कान कटवाकर मरवा डाला। अपने गुरु एरिस्टाटिल के भतीजे केलस्थनीज को उसने इसलिये शिकजे मे कसवाकर मरवा दिया कि उसने सिकन्दर के ईरानी बादशाहो की नक्ल करने का विरोध किया था। क्लीटस नामक अपनी धाय के लडके को, जिसे वह सगा भाई मानता था, इसलिये मरवा दिया कि उसने सिकन्दर के पिता फिलिप की प्रशसा की था। भारतीय सैनिको को, जिन्हें लोटने की आज्ञा मिल चुकी थी, रात को सोते हुए मार डालना उसकी कठोरता का प्रमाण है। सम्पन्न नगरों को नष्ट करना, और स्त्रियों बच्चों को मारना जैसे उसके स्वभाव में था। सिन्ध और पजाब मे सर्वत्र उसने अपनी इसी पाशविकता और आततायीपन का परिचय दिया। भारत से लौटने पर जब हेफेसियन नामक उसके सेवक की और मित्र की मृत्यु हो गई तो क्रोधावेश और शोकावेश मे उसने सारे घोड़ों और खच्चरों के बाल कटवा डाले और फिर काकेशस पर स्वय

घटाई कर हेफेशियन की यादगार में वहाँ स्त्री पुरुषों को बिना बात गिन गिन कर मरवा डाला और अन्त में मदिरा पान और विषयों में लिप्त होकर दुनिया से चला गया।

सिकन्दर तथा अन्य यवन शासकों सम्बन्धी ऐतिहासिक वृत्त के आधार पर यदि 'आचार्य चाणक्य' का मूल्यांकन किया जाय तो पता चलेगा कि सिकन्दर के सम्बन्ध में तक्षशिला में हलचल' नामक ७ वें प्रकरण में हमें शरणार्थियों द्वारा उसके मिश्र, पार्स आदि राज्यों के विजय करने की सूचना मिलती है। इन्द्रपुरी के समान पार्सपुरी और उसके राजा दारयवहु को जिसका राज्य पश्चिम सागर से हिन्दूकुश पर्वत तक था। बात की बात म अस्कर ने जीत लिया। सारी नगरी को अग्नि के समर्पित कर देव मदिरों तक को नष्ट कर दिया। इसके बाद शक स्थान हरउवती, वाल्मी आदि के ग्राम नगरों को उसके द्वारा ध्वंश करने का वर्णन है जो अक्षरश सत्य है। "हँसते खेलते नगरों को ध्वंश कर देना लहलहाते खेतों को उजाड देना। नर नारियों को मौत के घाट उतार देना उसके बॉए हाथ का खेल है। उसकी सेना में अदम्य बल है, उसकी रणनीति अलौकिक है।' (पृष्ठ ५८) शरणार्थियों के ये शब्द इतिहास में वर्णित सिकन्दर से हूबहू मिलते हैं। ८ वें प्रकरण में पृष्ठ ६५ पर सिकन्दर के महत्त्वाकांक्षी होने और साथ ही पृथ्वी पर अधिकार करने के उसके मनसूबों के उल्लेख हैं। सब देशों में उसके द्वार 'सिकन्दरिया' नगरी को बसाने और यवनों से वहाँ की स्त्रियों से विवाह कर नई नस्ल को जन्म देने का वर्णन है। वह सब देशों को अपने अधीन कर सर्वत्र यवन सभ्यता, यवन भाषा, यवन संस्कृति का प्रचार करना तथा वह सम्पूर्ण मानव समाज को एक रूप में सगठित करना चाहता है आदि बातें भी इतिहास की दृष्टि से सत्य है।

उद्यानपुरी का पान्थागण' और सिंहनाद का विद्रोह' नामक १० वें और ग्यारह वें प्रकरण में सेनापति सिंहनाद और उद्यानपुरी के पान्थागण में काण्ड के गूढ पुरुषों द्वारा पान्थागण के सचालक की स्त्री द्वारा प्रमाद रूप म भोजन में विष मिल जाने से मरने वाले व्यक्ति को छोड दें तो सजय भी ऐतिहासिक ही ठहरता है, जिसे इतिहास में आम्भि का पिछलग्गू कहा गया है पर जो उपन्यास में उसका पितृक पुत्र है। मत्सग में चण्डवर्मा, जिसने सिंहनाद के साथ युद्ध करते-करते अपनी टुकडी के बाहीर पुरुष और स्त्रियों को बलिदान कर दिया। अश्वक जाति के शशि गुप्त का ही परिवर्तन रूप है, जिसने पहले सिकन्दर का साथ दिया था पर पीछे से विद्रोही हो गया था।

आम्भि और केकय राज को भी ऐतिहासिक दृष्टि से जैसे का तैसा रखा गया है। सिन्ध के पश्चिम में आम्भि स्वय सिकन्दर से मिलने जाता है और पुष्करावती में हस्ती से सिकन्दर के युद्ध में सिकन्दर की ओर से लडता है। इस पुष्करावती पर सिकन्दर का अधिकार होने पर सजय को उसका शासन सूत्र सौंपा जाता है। हस्ती का वीरता से लडना भी इतिहास-सम्मत है। आम्भि केकय राज से शत्रुता रखता था। अभिसार और उरग केकय राज्य के अधीन थे। गान्धार का पूर्वी भाग जिसका शासक आम्भि था, उसने हथिया लिया था। उसे नीचा दिखाने को ही आम्भि ने सिकन्दर को सहायता दी थी, ये सब बातें इतिहास के अनुकूल है। पारु का हारना और युद्ध का वर्णन जो केकय की पराजय नामक १७ वें प्रकरण में है, सब अक्षरस सत्य है। उसके बाद पोरु का भी सिकन्दर से मिल जाना, कठजनपद और राजधानी साकल का विध्वंश, कठ नर नारियों की युद्धाग्नि में आहुति, साकल नगरी की श्मशान

(शेष पृष्ठ १५५ पर)

चन्द्रावली नाटिका का वस्तु-संगठन

[श्री परमानन्द श्रीवास्तव एम० ए०]

भारतेन्दु के समस्त कृतित्व के बीच 'चन्द्रावली' का एक विशिष्ट स्थान है। प्रेमचर्या एवं भावुकता सवलित इस रचना में भक्ति एवं प्रणय के अन्तर्गूढ़ स्तरों की मार्मिक अभिव्यञ्जना लक्षित होती है—जिसका लक्ष्य है चित्तवृत्ति की परोन्मुख करना का मगलमय पुनीत कात्यात्मक चित्रण[1]।

चन्द्रावली 'नाटिका' है, जिसकी रचना शास्त्रीय पद्धति पर हुई है। शास्त्रीय नियमों के अनुसार नाटिका उपरूपक की कथा उत्पाद्य (कवि कल्पनाश्रित) होती है। अधिकांश पात्र स्त्रियाँ होती हैं। वस्तु योजना चार अंकों में विभाजित होती है। नायक धीर ललित राजा होता है और नायिका कनिष्ठा[2] होती है नायिका राजवंश से सम्बद्ध या नई प्रणयिनी होती है। उसका सम्बन्ध अंतःपुर से होता है तथा वह संगीत प्रवीण होती है। पूर्व प्रणयिनी महिषी के आतंक से नायक नायिका का प्रणय सहमा-सा रहता है। महिषी की ही कृपा से नायक-नायिका मिल पायें तो मिल पायें क्योंकि वे कभी तो मान करती हैं कभी रूठती हैं और आतंक बनाये ही रखती हैं। नाटिका में मुख्य रस शृंगार और वृत्ति तदनुरूप कैशिकी होती है। सन्धियाँ विमर्शशून्य या 'अल्प विमर्शयुक्त' होती हैं।

'नाटिका' के उक्त स्वरूप, गुण, धर्म के अनुकूल अनेक विशेषताएँ 'चन्द्रावली' में मिलती हैं। जिस रूप में यहाँ चन्द्रावली की कथा है वैसी इतिहास पुराण में उपलब्ध नहीं जिसे लक्ष्य कर कहा गया है, "कथा मूलतः पौराणिक है और भागवत् सूर सागर में चन्द्रावली का सखी के रूप में उल्लेख मिलता है किन्तु जो कथा विस्तार इस नाटिका में है वह भारतेन्दु की अपनी कल्पना की उपज है[3]।" कृष्ण, नारद तथा शुकदेव के अतिरिक्त सभी स्त्रियाँ ही हैं। नारद शुकदेव का नाटिका की व्यापार शृंखला से रचमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। रह जाते हैं कृष्ण जिनका सम्बन्ध 'परिणाम' से है, जो फल भोक्ता हैं। श्री कृष्ण का धीरललितत्व सर्वविदित है शृंगार की दृष्टि से वे दक्षिण नायक ही ठहरते हैं। महिषी (राधा, प्रियाजू प्यारी जू) के भय से नायिका (चन्द्रावली कनिष्ठा) का प्रेम आतंकित रहता है यद्यपि नायिका समस्त परिसीमाओं के बावजूद, लोकलाज त्यागकर प्रेम की बाजी जीत कर ही रहती है। तो भी आतंक तो गुरुगम्भीर है ही। नारद का कथन है "कैसा विलक्षण प्रेम है यद्यपि माता पिता, भाई बन्धु सभी निषेध करते हैं और उधर श्रीमती जी का भी भय है" और माधवी ने कृष्ण को लक्ष्य कर कहा है "केऊ का करें। प्रिया जू के डर सों कछू नाहीं कर सकें।" मिलन का अवसर भी महिषी की कृपा का ही परिणाम है "स्वामिनी ने आज्ञा दई है के प्यारे सों कही दे चन्द्रावली की कुंज में सुखेन पधारो।' तो भी जैसा डॉ० शर्मा का कथन है—महारानी या पट्टमहिषी का कृतित्व

१—डा० जगन्नाथ शर्मा नागरी प्रचारणी पत्रिका।

२—भारतेन्दु 'नाटक' में 'नाटिका की नायिका कनिष्ठा होती है अर्थात् नाटिका के नायक की पूर्व प्रणयिनी के वश में होती है।"

३—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—भूमिका चन्द्रावली नाटिका।

या स्वरूप नहीं के समान है ।[1] नाटिका का सम्पूर्ण कथा व्यापार चार अंकों में विभाजित है। मुख्य रस शृंगार ही है—प्रारम्भ में वियोग, अंत में संयोग। 'शृंगारे कौशिकी'[2] के अनुसार यहाँ भी कौशिकी वृत्ति के भिन्न भिन्न रूपों का क्रमशः चारों अंकों में प्रयोग हुआ है। नायक नायिका मिलन में विशेष व्यवधान न होने के कारण विमर्श संधि का अभाव-सा ही है।

इन लक्षणों के प्रकाश में यह बात प्रमाणित होती है, कि प्रस्तुत नाटिका की रचना प्राचीन नाट्यशास्त्र के नियमानुसार हुई है। अपवारित तथा अर्थोपक्षेपकों में भरतवाक्य एवं विष्कम्भक की योजना भी इन नियमों की एक कड़ी है। यहाँ हम 'चंद्रावली' के वस्तु संगठन पर पृथक् रूप से विचार करेंगे और देखने का प्रयास करेंगे कि इस वस्तु योजना में विभिन्न कार्यावस्थाओं, अर्थप्रकृतियों तथा संधियों का कहाँ तक उचित निर्वाह हो सका है।

'चन्द्रावली' नाटिका की कथा चार अंकों में विभाजित है। प्रथम अंक की कथा चंद्रावली और अंतरंग सखी ललिता के आत्मीयतापूर्ण एवं व्यक्तिगत सम्वाद से प्रारम्भ होती है। धीरे-धीरे चंद्रावली अपने तीव्र प्रणय का मर्म खोलती है और अपने उत्कट प्रेम के निश्चित लक्ष्य का स्पष्ट उल्लेख सखी से करती है। आरम्भ में 'प्रेमियों के मण्डल को पवित्र करने वाली चन्द्रावली कुलशील मर्यादादि विशिष्ठ परिधियों में सचाई को छिपाना चाहती है किन्तु रह रहकर निठुर प्रियतम की छवि के दृग जल में छलक उठने से ऐसा कर नहीं पाती। ललिता सखी की विवशता से विदग्ध सहानुभूति के स्वरों में 'जो तेरी इच्छा हो पूरी करने को उद्यत हूँ—ऐसा कहकर आश्वासन का भाव प्रकट करती है और सान्त्वना की तरह सखी के हृदय-तल पर लहरा उठती है। यहाँ नाटिका के चरम फल' की ओर संकेत है और यही प्रारम्भ नामक कार्यावस्था को लक्ष्य कर सकते हैं। ललिता के इस कथन से सखी तू धन्य है बड़ी भारी प्रेमिन है और प्रेम शब्द को सार्थक करने वाली और प्रेमियों की मंडली की शोभा है' बीज नामक अर्थ प्रकृति स्थापित होती है और यही 'मुख संधि का आरम्भ माना जा सकता है।

द्वितीय अंक में चंद्रावली की विरहावस्था का चित्रण है। विप्रलम्भ की विविध अन्तर्दशाओं को यहाँ सजीव तथा काव्यात्मक स्वरूप प्रदान करने की चेष्टा की गई है। वनदेवी संध्या और वर्षा के योग से चंद्रावली के विरहोन्माद का जो विवरण यहाँ प्रस्तुत किया गया है उसमें 'मात्रा धिक्य अवश्य है पर सखी भावुकता को खुल खेलने का भी अच्छा अवसर मिला है।' चंद्रावली इस अंक में अपने निरमोही प्रियतम को 'मोह' की याद दिलाकर उससे प्रकट होने के लिए निवेदन करती है और स्वयं उसे प्राप्त करने के प्रयास में 'बावरी' हो डोलती है। यहीं कार्यावस्थाओं में 'प्रयत्न' का प्रत्यक्ष आभास अपेक्षित था। पृथक अंकावतार व्यवस्था के कारण प्रयत्न रेखायें हल्की पड़ गई हैं। फिर भी प्रकारान्तर से प्रियतम के पास भेजे गए चंद्रावली के पत्र प्रकाशन से नाटककार ने प्रयत्न नामक कार्यावस्था का संकेत किया है—चंपकलता सखी के पत्र को प्रियतम तक पहुँचायेगी, यह धारणा 'प्रयत्न' सिद्धी में सहायक होती है। इस प्रकार चंद्रावली की प्रणयकथा अनवरत विकसित होती है। निस्संदेह यहाँ 'विंदु' नामक अर्थ प्रकृति है और प्रतिमुख सन्धि भी क्योंकि 'बीज' का 'लक्ष्य अलक्ष्य रूप से उद्भेद' आरम्भ हो गया है।

१—डॉ० जगन्नाथ शर्मा—नागरी प्रचारिणी पत्रिका।
२—साहित्यदर्पण।

तृतीय अंक में चन्द्रावली सखियों के साथ स्नान—विहार के लिये गई मिलती है। प्रकृति का दूर दूर तक फैला सहज रमणीय परिवेश विरह विदग्धा के लिए उद्दीपन का कार्य करता है। वर्षा मंगल के क्षणों में चन्द्रावली की विरह भावना अनुक्षण उद्दीप्त होने के कारण कई पृष्ठों के स्वागत भाषण में व्यक्त होकर ही रहती है। यह स्वागत भाषण रंगमंच की दृष्टि से अक्षम्य हो आत्मनिष्ठ तन्मयता एवं भावुकता की दृष्टि से, या मधुर प्रेम भावना के प्रसारगामी काव्यत्व की दृष्टि से अरुचिकर नहीं। यह सच है कि नाटककार इस मार्मिक बिन्दु पर भावावेग में बह गया है, फिर भी 'संविधानक की आकांक्षा का ज्ञान' उसे है। सखियों के इस संकल्प एवं दायित्व विभाजन के मूल में—प्राप्त्याशा' की प्रत्यक्ष प्रतिष्ठा है—'हम तीनि हैं सो तीनि काम बांटि लैं। प्यारी जू के मनाइबे को मेरो जिम्मा। बीच बीच में शकायें तथा उलझनें तो हैं ही— उदाहरण के लिए कामिनी का यह कथन लिया जा सकता है— 'हाँ चन्द्रावली बिचारी तो आप ही गई बीती है उसमें भी अब तो पहरे में है। नजरबन्द रहती है।' इस प्रकार गर्भ सन्धि इस अंक के अन्त तक है। *वर्षा वर्णन तथा हिंडोला* वर्णन की योजना 'पताका' एवं 'प्रकरी के रूप में की गई है। कथा को आगे विकसित करने तथा नायिका की प्रणय भावना को उत्कर्ष प्रदान करने के ये माध्यम हैं।

/

चतुर्थ अंक में 'प्राप्त्याशा' 'नियताप्ति' में परिणत होती है। *नायक कृष्ण जोगिन के रूप में* स्वतः खिंच कर चले आते हैं। चन्द्रावली की बैठक में सखियाँ जुटती हैं। विरोधी परिस्थितियाँ शामित सी हैं। अनुकूल वातावरण में नायिका को शुभसूचक शकुन होते हैं। नायिका के मन में यह बात घिर घुमड कर आने लगती है[1] 'हाँ स्वामी कहीं तुम्हीं तो जोगिन बन कर नहीं आये हो।' निश्चय सा होने लगता है कि प्रेमी प्रेमिका का मिलन हो जायगा। गोप्य गोपन प्रवृत्ति चलती है पर विमर्श का कोई प्रसंग नहीं आता है। चन्द्रावली के बेसुध हो गिरते ही विद्युत सी कौंध जाती है और कृष्ण (जोगिन) प्रकट हो चन्द्रावली को भुजपाश में आबद्ध कर लेते हैं। यों इसके उपरांत भी फलसिद्धि का विस्तार प्रदर्शित किया गया है पर "यह सब व्यर्थ है, उसकी कोई विशेष उपादेयता नहीं है।" 'पीतम' के 'गलबाहां' देने में ही नाटिका की परिणाम सिद्धि है। अतः यहाँ फलागम नामक कार्यावस्था है तथा कार्य नामक अर्थ प्रकृति भी। मूर्छा से आगे ही निर्वहण सन्धि की कड़ी आरम्भ हो जाती है। *ललिता कहती है* "सखी बधाई है लाखन बधाई है। देख तो तुझे कौन गोद में लिए हुए हैं।" मूर्छादि शंकाओं के रूप में क्षीण विमर्श सन्धि देखी जा सकती है यों *परिणाम सिद्धि में विशेष व्यवधान नहीं आ* पाया है।

इस प्रकार नाटिका की वस्तु योजना पर्याप्त संगठित और इस रूप में विभाजित है कि अवस्थाओं, अर्थ प्रकृतियों एवं सन्धियों का सम्यक् निर्वाह हो गया है। विषय वस्तु की दृष्टि से प्रेम विरह—मिलन में समस्त परिस्थिति व्यापार सीमित है और रस परिपाक में कोई बाधा उपस्थित नहीं हो सकी है। व्रज रत्नदास के शब्दों में 'इस नाटिका का वस्तु संगठन प्रेम विरह और मिलन तीन ही शब्दों में हुआ है और इसी क्रम में इतने *सुशृंखलित रूप में गठित हुआ है कि कहीं* उखड़ा सा नहीं है।[2] अतिरिक्त भारतीय नाट्य शास्त्र सम्मत विशेषताओं के, पाश्चात्य पद्धति के अनुकूल समय स्थान तथा कार्य सम्बन्धी यवनानी

(शेष पृष्ठ १५५ पर)

[1] 'हा, इन बादलों को देख कर तो और भी जी दुखी होता है"—चन्द्रावली।

[2] व्रजरत्नदास हिन्दी नाट्य साहित्य।

सम्पादकीय

हिन्दी पर कुठाराघात :—केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय के तत्वाधन मे भारत के समस्त राज्यों के शिक्षा मंत्रियों का एक सम्मेलन हुआ है जिसमे एक प्रस्ताव के निर्णय मे यह निश्चित हुआ है कि प्राविधिक वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा अंग्रेजी मे देना जारी रखा जावे। पाठक गण विचारें कि हिन्दी को लेकर प्रतिदिन एक न एक वितण्डा खड़ा कर दिया जाता है और जो शक्ति हिन्दी प्रचार व प्रसार की ओर होनी चाहिए वह नहीं होती। यह निश्चय संविधान की उस धारा को खण्डन करता है जिसमें १५ वर्षों मे हिन्दी को अँग्रेजी स्थान पर प्रतिष्ठित करना है। दूसरा राष्ट्र भाषा आयोग के प्रति वेदन के अभी प्रकाशित न होने से पूर्व यह निर्णय एक भूल कही जाएगी। एक मामूली सी भूल बुरे परिणाम मे परिवर्तित हो जाती है। विदेशी भाषा अब हमारे लिए कलंक और दासता का चिन्ह है। हम उन निर्णायकों से पूछते है कि क्या अँग्रेजी मे शब्द कोष मे जितने भी वैज्ञानिक शब्द है क्या वह सबके सब अँग्रेजी भाषा के ही है? क्या ग्रीक लेटिन व जर्मन के नहीं। यदि आप विषयावार और विवरण सहित हिन्दी के इस प्रकार के वृहद ग्रंथों की सूची तैयार करेंगे आपको ज्ञान हो जायेगा और आप हैरान होंगे। अँग्रेजी के प्रेमियों को पुनः घर का ज्ञान कराने की आवश्यकता होगी। जिस प्रकार अंग्रेजो ने अंग्रेजी का माध्यम चुन कर अपना स्वार्थ पूरा किया—देश की एकता को भंग किया—अब हमे अपनी संस्कृति अपनी भाषा मे रंगना है। हमें डाक्टर इंजीनियर अथवा वैज्ञानिक अपनी भाषा मे तैयार करने है ताकि वह किसी भी देश के सामने अपनी भाषा के गौरव को महसूस कर सकें। अंग देश अपनी भाषाओं को उच्च से उच्च बनाने में लगे हुए है। क्या भारत मे यह विकास संभव नहीं। 'दशमलव प्रणाली" सदियों पुरानी प्रणाली सिक्कों की बदल सकती है तो क्या भारत मे वैज्ञानिक शब्दों का निर्माण नहीं हो सकता—क्या उसका प्रशिक्षण नहीं दिया जा सकता? सब कुछ संभव है यदि हम उस अंग्रेजी भाषा से अपना मोह छोड़ दे हिंदी एक सरल भाषा है। इसकी लिपी देवनागरी एक वैज्ञानिक लिपि है। संस्कृत भाषा का आश्रय प्राप्त है। तब जो कुछ विषय पूर्ण नहीं है उनको पूरा कराने व समृद्धि की ओर हमारा तथा हमारी सरकार और गैर सरकारी संस्थाओं का ध्यान होना चाहिए, न कि ऐसे निर्णय को पूरा कराने की ओर।

प्रकाशक—फूलचन्द गुप्त, मुद्रक—आगरा अखबार प्रेस आगरा।

हमारे आगामी अंकों के आकर्षण

- साधारणीकरण
- सूर की भावना
- तुलसी की भक्ति भावना तथा अन्य भक्त कवियों की भक्ति भावना
- सूर का विरहवर्णन
- कवि पद्माकर

× क्रान्तिकारी कवि दिनकर
× साहित्य और राजनीति
× पन्तजी का काव्य सौष्ठव
× प्राच्य और प्रतीच्य का अद्भुत समन्वयकार 'प्रसाद'
× शकुन्तला नाटक में नैतिकता ?
× चन्द्रावली नाटिका का वस्तु सगठन

- हिन्दी साहित्य में एकांकी विकास
- लोक गीतों में करुण वातावरण
- वत्सराज की समस्या और उसका उद्देश्य
- प्रेमचन्द का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद गबन के आधार पर
- उपन्यास "चाणक्य" का ऐतिहासिक महत्त्व

卐 औपन्यासिक रचनातंत्र (Tenchnique) और प्रेमचन्द
卐 कहानी आलोचना के मान
卐 विद्यापति का कलापक्ष एवं हृदयपक्ष
卐 प्राचीन हिन्दी कवि और गीतकाव्य
卐 नाटिका के लक्षण और 'चन्द्रावली'
卐 उपन्यास चाणक्य में इतिहास और कल्पना
卐 सापथ एक अध्ययन

केवल मुख पृष्ठ रायल फाइन आर्ट प्रेस, मेठगली, आगरा में छपा।

नवम्बर ५७

वर्ष ५

अंक ४

सम्पादक
डा० शम्भूनाथ पाण्डेय
एम० ए०, पी-एच० डी०

वार्षिक मूल्य ४)
इस प्रति का ।=)

सरस्वती संवाद के सम्बन्ध में विद्वानों की सम्मति

१—सरस्वती संवाद एक अच्छी पत्रिका है और हिन्दी विद्यार्थियों में साहित्यिक चेतना जाग्रत करेगी।

आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, अध्यक्ष—हिन्दी विभाग सागर विश्व विद्यालय सागर।

२—लेख सुरुचि पूर्ण हैं और इनमें विषयों की विविधता है।

श्री हरिहरनाथ टण्डन, अध्यक्ष—हिन्दी विभाग, सेन्ट जोन्स कालेज आगरा।

३—यह मासिक पत्र साहित्य का अनुशीलन करने वाले विद्वानों और हिन्दी की उच्च परीक्षा में बैठने वाले विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त उपयुक्त है।

सम्पादक (जयभारती) पूना.

इस अंक के लेख

सरस्वती संवाद के नियम

१—सरस्वती संवाद मासिक पत्र है। अंग्रेजी महीने की १ तारीख को प्रकाशित होता है।

२—सरस्वती संवाद का वार्षिक चंदा ४) है ग्राहक किसी भी मास से बनाये जा सक्ते हैं। वर्ष अगस्त से प्रारम्भ होता है।

३—पत्र व्यवहार करते समय अपनी ग्राहक संख्या व पूरा पता लिखना आवश्यक है

४—नियमानुसार नमूने की प्रति के लिये आठ आना पेशगी आना आवश्यक है।

५—महीने की १२ तारीख तक अंक न मिलने पर स्थानीय पोस्ट आफिस से पूछताछ करें, उसके बाद पोस्ट आफिस से प्राप्त उत्तर कार्यालय को भेजें। उत्तर के लिये जवाबी कार्ड अवश्य भेजें।

६—प्रत्येक वर्ष जनवरी का अंक "विशेषांक" होगा, वह वार्षिक चंदा में ही दिया जायेगा।

७—स्तरीय लेखों पर यथा योग्य पुरस्कार दिया जाता है।

८—रचनायें वे ही भेजी जायें जो अन्यत्र प्रकाशित न हुई हों और सरस्वती संवाद के लिये ही लिखी गई हों। प्रकाशित रचनाओं पर प्रकाशक का पूर्ण अधिकार होगा।

वर्ष ५] आगरा, नवम्बर १६५६ [अङ्क ४

विशेष लेख :—

लोक गीतों में करुण वातावरण

(कुमारी रमासिंह एम० ए०)

लोक गीतों मे कौटु बिक जीवन के छोटे-छोटे चित्र होते हैं। लोक सस्कृति की परपराए और प्रचलित प्रथाएँ इनमे बड़ी ही भावुकता और मार्मिक्ता के साथ अ कित रहती है। लोक गीत कारों ने किसी सामाजिक परिष्कार के आदर्श को न लेकर, केवल अपनी अनुभूति को ही मूल प्रेरणा बना कर इन गीतों मे लोक जीवन को आंका है। यों तो सभी लोक-गीतों मे भावना का सरल आकर्षण देखने को मिलता है, परतु जिन गीतों मे करुण वातावरण की प्रस्तावना हुई है वे सबसे अधिक मर्मस्पर्शी और प्रभावोत्पादक है।

लोक गीतों मे करुण वातावरण से तात्पर्य यह है कि अनेक लोक गीतों मे शोक और करुणा तो जाग्रत होती ही है परतु साथ ही साथ यह भी देखने को मिलता है कि गीत की प्रत्येक पक्ती किस प्रकार क्रमिक रूप से करुण वातावरण की सृष्टि करती चलती है। इस प्रकार के गीतों मे प्रश्नोत्तर की शृ खला चलती है और कहीं कहीं बडे ही करुण कथानक का उल्लेख कवि कर देता है। एक गीत मे हरिण और हरिणी के प्रेम तथा हरिणी की व्यथा का अ कन इस प्रकार हुआ है,

'छापक पेड छिउलिया त पतवन गहवर
अरे रामा, तेहि तर ठाढी हरिनिया त मन
अति अनमनि ॥
चरते चरत हरिनवा व हरिनी से पूछई।
हरिनी ! की तोर चरहा झुरान कि पानी—
बिनु मुरझइ ॥"

यहाँ पर गीतकार ने वातावरण का आरभ इस प्रकार किया है कि ढाक का एक छोटासा घने पत्तों वाला पेड है। उसके नीचे हरिणी खडी

नेहि पर उतरे ले सोनरा बेटवना
गहना गढे अनमोल रे।
सभवा बैठि बावा गहना गढावें बिछुवा
मे घुंघर लगाउ रे।"

इन पंक्तियों मे गीतकार ने बताया है कि लौंग के बाग मे लौंग के पेड क नीचे सोनार का लडका उतरा है वह बडे अनमोल गहने गढता है। सभा मे कन्या के पिता कन्या के लिए सुदर गहने गढवाने का आदेश देते चलते हैं। कन्या की उदासी का वर्णन इसके उपरान्त है, पिता प्रश्न करते हैं कि बेटी क्यों उदास है, क्या दहेज थोडा है या भाई ने कुछ कह दिया है अथवा कन्या की सेवा में उन्होंने कुछ चूक की है। इसके उत्तर में कन्या कहती है कि उदासी का यह कोई कारण नहीं है वरन उसे तो यह दुख है कि पिता ने कहा था उसका ब्याह निकट ही करेंगे और वैसा न करके उसका ब्याह देश के एक छोर पर हो र । है जहाँ नहर के लोग उसे दुर्लभ हो जायगे। इन सब प्रश्न और उत्तरो मे गीतकार वास्तव में बडी ही कुशलता के साथ करुण वातावरण को चित्रित करता चलता है। इस गीत के अन्त में बेटी के इस कथन पर पिता का अत्यन्त स्नेह कातर उत्तर इस प्रकार है —

"बोलिया न अइसन बोलहू बेटी
मरलू करेजवा म बान रे।
अगिले के घोड़वा बीरन तोर जइ
है पीछे लागि चार कहार रे॥

अर्थात् हे बेटी। जैसी बात तुमने कही है उससे कलेजे मे बाण सा लग गया। तुम्हारे पीछे ही तुम्हारे भाई घोडे पर चढकर तुम्हारे पास आयगे और उनके पीछे हो विदाई के लिए कहार जायगे।

एक अन्य गीत मे विदा के वातावरण को गीतकार ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि कन्या का विवाह हो चुका है दूसरे दिन सवेरे उसकी विदा होनी है। माता कन्या से कहती है कि हे बेटी दही भात खालो सवेरे तुम्हारी विदाई है। कन्या के मन मे यह क्षोभ है कि उसके तथा उसके भाई के प्रति जो व्यवहार था उसमे बडा अन्तर था। इसी क्षोभ को व्यक्त करती हुई वह कहती है, विरना मैया को तो तुम खुशी से कलेवा देती थी परन्तु मुझे खिसिया कर। भाई और मैं साथ साथ जन्मे है, साथ साथ खेले और खाये है। भाई को तो बाबा का राज्य लिखा है और हमारा घर बडा दूर। इस कथोपकथन के उपरान्त गीतकार ने बताया है कि बेटी की विदा के उपरान्त कन्या के बाबा घूम घूम कर रो रहे हैं और कहते हैं कि बेटी क नुपुर की झनकार कहां सुनाई पडती। बेटी का विदा के उपरान्त किस प्रकार घर सूना हो जाता है उसकी ही व्यञ्जना इस गीत में हुई है, इस गीत की पंक्तिया इस प्रकार है—

"खाइ लेहू खाइ रे लेहू दहिया से रे भातवा।
तोहरी विदइया ऐ बेटी बडे रे भिनुसार॥
विरना कलेउआ ऐ अम्मा हसी खुसी दीहिला।
हमारा कलेउआ ऐ अम्मा दिहेलू खिसिअइ॥
हम विरना ऐ अम्मा जन्मे एक के सगी।
सगे सगे खेलही अम्मा खइलो एक सग॥
भइया के लिखल मे अम्मा बाबा कह राजवा।
हमरा लिखल मे अम्मा घर बडी दूरि॥
अंगना घूमि घूमि बाबा रोजे रोवैल।
कतहूँ ना सकीला हा बेटी के ने पुरवा की
झनकार॥

विवदा के ही एक अन्य गीत मे घर के सभी लोग किस प्रकार दुखी हो जाते हैं इसका मार्मिक वर्णन हुआ है। गीत की यह पंक्तियाँ इस प्रकार है —

'भितरे ते माया जो रोवइ अंचले
मा आँसू पोंछै हो।

ऐहो मोरी बिटिया चली परदेस
कोठरिय मोरी सूनी भईना॥
बैठक से बाबूजी रोवइ पटुके मा
आँसू पोंछई हो।
मोरी धीरिया चली परदेश भवन
मोरा सून भये ना॥
भितरे से भया जे रोवइ पटुके मां
मा आँसू पोंछै हो।
मोरी बहिन चली परदेश पिटिया
मोरी सून भई ना॥
ओबरी से भौजी जो रोवइ चुनरिया
माँ आंसू पोंछइ हो।
एहो मोरी ननदी चली परदेस
रसोइया मोरी सूनी भई ना॥

इस गीत में घर के लोगों की मनोभावनाओं का अंकन है। भीतर से लेकर बाहर तक सभी के मन में कन्या की विदा के उपरान्त की सूनापन व्याप्त है। माता, पिता, भाई और भाभी सभी के मन की कसक का क्रमश उल्लेख करते हुए कवि ने सूनेपन का वातावरण ला दिया है। अन्दर मां रो रही है कि उनकी कोठरी सूनी हो गई बैठक में बाबू पटके में आँसू पोंछते हुए कहते हैं कि अब भवन सूना हो गया, भीतर भाई रो रहे हैं और पगड़ी में आँसू पोंछ रहे हैं कि उसकी पीठ सूनी हो गई और अन्दर कोठरी में चुनरी से आँसू पोंछती हुई भाभी रो रही हैं कि उनकी रसोई सूनी हो गई। प्रत्येक पंक्ति वातावरण को और भी अधिक सजीव करती हुई चली आती है। जिस प्रकार एक चित्रकार की तूलिका से खिंची हुई छोटी से छोटी रेखा भी पूरे चित्र को सार्थक और भावपूर्ण बनाती चलती है उसी प्रकार इन लोक गीतों की प्रत्येक पंक्ति वातावरण की प्रभावोत्पादकता अंकित करती चलती है। इस विदा के गीत में माता, पिता और भाई, भाभी सभी की वेदना की चित्र करुण वातावरण की पूर्ण सफलता के साथ प्रस्तुत कर देता है। इस सब के स्थान पर यदि केवल यह कहा जाता कि बेटी के बिना घर सूना हो जाता है तो करुण वातावरण की सृष्टि न होकर एक रूखे से सिद्धान्त का प्रतिपादन सा हो जाता है।

लोक गीतों में विरहिणी की दशा के भी बड़े मर्मस्पर्शी चित्र मिलते हैं। हिन्दी साहित्य में करुण रस का परिचय मुख्य रूप से विरह दशा के वर्णन में ही होता है परन्तु लोक गीत में विरहिणी की दशा का यह करुण वर्णन एक अंश के रूप में आता है, प्रधान रूप में नहीं। करुणा की भावना के अंकन के लिए लोकगीतकारों के पास विषय की कमी नहीं है—लौकिक जीवन के पहलुओं में उन्होंने करुण वातावरण के प्रसंग ढूँढ लिए हैं और उन्हें गहरी अनुभूति के साथ चित्रित किया है। जहाँ पर विरहिणी की दशा को इन गीतों में लिया गया है वहाँ सभी प्रकार की आलंकारिक शैली को छोड़कर स्वाभाविकता को दृष्टि में रख कर विरह वर्णन हुआ है। एक गीत में एक विरहिणी और एक बटोही का वार्तालाप इस प्रकार है —

"अमवा महुलिया धन पड जेही रे
बीच राह परी।
रामा तेहि तर ठाढ़ी एक तिरिया
मने मां बैराग भरी॥
पूछै लाग बाट के बटोहिया अकेली
धन काहे रे खड़ी।
भैया चले जाहू बाट के बटोहिया
हमें रे तुहे काह परी॥
की रे तुहें सास ससुर दुख की
नैहर दूरि बसै।

भैया, नाहीं हमें सास ससुर दुख
नाहीं नैहर दूरिबसै ।।
भैया हमारा बलम परदेस मनै मां
वैराग भर ।
बहिनी तोहरा बलम परदेस तुहं
कुछु कहि न गये ।।
भैया है गये कुपपन तेल
हर पवन सेंदुर ।
भैया है गये चदंन चरखवा
उठाइ गजा ओवरी ।।
भैया है गये अपनी दुहइया
सतड जिनि डोले ।
भैया चुकै लागे कुपवन तेल
डरपवन सेन्दुर ।।
भैया घुनै लागे चदन चरखवा
ढहइ गजा ओवरी ।
भैया चुके लागे मोरी उमरिया हरी
जी नहिं आयेन ।।'

इस गीत में वातावरण इस प्रकार आरभ हुआ है कि आम और महुये के घने पेडों के बीच जो राह है, उस पर वैराग्य से भरी एक स्त्री खडी है। राह चलने वाला बटोही उससे प्रश्न करता है कि वह क्यों अकेली खडी है। उसे कौन सा दुख है। स्त्री ने कहा न उसे सास ससूर का है, न नैहर दूर है बरन उसका *पति परदेश गया* है और इसीलिए वह उदास है। बटोही के यह पूछने पर कि क्या वह कुछ कह नहीं गया है, वह स्त्री कहती है कि उसका पति उसे तेल और सिन्दूर, चरखा तथा बैठने के लिए कोठरी दे गये थे परतु अब तो तेल और सिन्दूर भी छुकने लगा, चरखा घुनने लगा आयु क्षीण हो गई है और उसका पति अभी तक नहीं लौटा है। बटोही और स्त्री के वार्तालाप मे निश्चय ही इस बात का सकेत मिल जाता है कि स्त्री की उदासी इतनी तीव्र है कि राह चलने वाला भी उसकी ओर आकृष्ट हो गया है। इसके उपरान्त बटोही के प्रश्नों मे सहानुभूति तथा विरहिणी के उत्तर मे वेदना की तीव्रता के दर्शन होते चलते है। विरह की खिन्नता पूरे वातावरण मे छाई हुई प्रतीत होती है। अन्तिम पक्तियों मे जब वह स्त्री बताती है कि उसका तेल और सिन्दूर चुक रहा है, जीवन बीता जा रहा है तो इस करुणा वातावरण की पूर्ण और सफल सृष्टि हो जाती है। करुणा का यह उद्रेक भावों की सरलता और स्वाभाविकता के कारण ही होता है। लोक गीतों मे किसी भी प्रकार के शब्दाडम्बर मे अथवा अलकारों के व्यूह में सरल भावनाएँ खो नहीं नहीं जाती। लोक गीतों मे प्रत्येक पक्ति मे स्वाभाविक मनोविज्ञान के तार बँधते चलते हैं। जिन गीतों मे करुण वातावरण का कथन हुआ है वहा रस शास्त्र को दृष्टिकोण में न रख कर हृदय की निष्कपट और निश्छल उक्तियो द्वारा ही *करुणा का निर्बाध धारा बही है*, और यह लोकगीतों की बहुत बडी विशेषता है।

ध्वनि-विज्ञान

[श्री कैलाशचन्द्र भाटिया एम० ए०, साहित्यरत्न]

सामान्य परिभाषा के अनुसार भाषा ध्वनि-संकेतों का समूहमात्र है।[1] वस्तुतः देखा जाय तो ध्वनि का एक बड़ा व्यापक अर्थ है—[अ] वह विषय जिसका ग्रहण श्रवणेन्द्रि से हो—शब्द, नाद, आवाज [ब] शब्द का स्फोट-आवाज की गूँज—लय। [स] वह काव्य जिसमे वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक विशेषता वाला हो।[2] भाषा विज्ञान के विद्यार्थी के नाते हमारा सम्बन्ध (स) भाग से नहीं है। साधारणत. ध्वनि से तात्पर्य है :—

(अ) भाषण ध्वनि[3]

(ब) ध्वनि मात्र

भाषण ध्वनि का सम्बन्ध व्यक्तिगत उच्चारण से होता है। प्रत्येक भाषण ध्वनि का उच्चारण एक ही व्यक्ति भिन्न भिन्न स्थलों पर कुछ थोड़े से परिवर्तन के साथ करता है; साथ ही भिन्न-भिन्न व्यक्ति एक ही ध्वनि का उच्चारण कुछ पृथक् ढंग से करते है। उदाहरण स्वरूप हम कह सकते है, कि गा, गी, गू इन तीनों मे 'ग् ध्वनि के उच्चारण स्थान मे भेद सम्भव है। दूसरी ध्यान देने की बात यह है, कि प ध्वनि का उच्चारण हिन्दी भाषा भाषी किसी अन्य ढंग से करता है और अंग्रेजी भाषा भाषी इंगलैण्ड का निवासी किसी दूसरे ढंग से। इस प्रकार भाषण ध्वनियाँ प्रत्येक भाषा ही नहीं व्यक्ति के अनुसार पृथक होती हैं, नहीं पकड़ पाती हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो (ग्) ध्वनि के अनेक रूप विभिन्न भाषण ध्वनियाँ है पर व्यावहारिक रूप मे (ग्) से मिलती जुलती सभी ध्वनियों को हम एक श्रेणी मे रख सकते है और यह ध्वनि ग्) अर ग्) ध्वनि मात्र कहलावेगी। इस प्रकार प्रोफेसर डेनियल जोन्स के शब्दों मे "ध्वनि मनुष्य के विकल्प परिहीन नियत स्थान और निश्चित प्रयत्न द्वारा उत्पादित और श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा अविकल्प रूप से गृहीत शब्द लहरी है।"[4] भाषण ध्वनि क्या है, इसके सम्बन्ध मे डा० चटर्जी इस प्रकार लिखते है," भाषण अवयवों द्वारा उत्पन्न निश्चित श्रावण गुण वाली ध्वनि भाषण ध्वनि कही जा सकती है।[5] ध्वनि मात्र (Phouo ne) क्या है? इस पर विशद विवेचन की आवश्यकता है, जिस पर फिर कभी प्रकाश डाला जावेगा. पर इतना इस समय समझ लेना अनुचित न होगा कि प्रत्येक भाषा के ध्वनि मात्र (Phonomes) पृथक पृथक् होते हैं। इस समय तो हमारा सम्बन्ध सामान्यतः ध्वनि और ध्वनि विज्ञान से है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से प्रथम मनुष्य के ध्वनियन्त्र से निःसृत शब्द को ध्वनि कहते है।[6] ध्वनियन्त्र से निकली हुई ध्वनियों का ही दूसरा स्वरूप उच्चारण है। यह उच्चारण बोलने वाले और (ग्राहक) सुनने वाले दोनों के लिए ही महत्व

इस प्रकार भाषा के अध्ययन' में उच्चारण का अपना निजी महत्व है, जिसकी ओर बहुत कम लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ है। जब कभी कोई विद्यार्थी किसी विदेशी भाषा का अध्ययन प्रारम्भ करता है, तो उसके समक्ष सबसे अधिक गम्भीर समस्या उच्चारण की ही उपस्थित होती है। जब तक उन विद्यार्थी को उस भाषा से सम्बन्धित ध्वनियों का ठीक ठीक उच्चारण करना नहीं आ जाता, उसका उस भाषा से सम्बन्धित सारा ज्ञान व्यर्थ हो जाता है। यह 'उच्चारण' या तो उस विदेशी भाषा भाषियों के मध्य रहकर प्राप्त किया जा सकता है अथवा किसी उस भाषा के ध्वनि शास्त्र के द्वारा। अगर वह उस भाषा का उच्चारण उस ढंग से करने लगता है, जिससे उस भाषा के बोलने वाले समझ सकें तो उसका प्रयत्न सफल समझा जावेगा और फिर समझ लेना चाहिए कि उसे उस भाषा की 'आत्मा' पर अधिकार हो गया चाहे शरीर पर अभी न हुआ हो और जो विद्यार्थी बिना ध्वनि विज्ञान के आश्रय से उस भाषा की ओर उसके व्याकरण को उसके लिखित रूप से ग्रहण कर लेता है, वह वस्तुतः भाषा की आत्मा को ग्रहण नहीं कर पाता।

सम्भवतः उच्चारण के इस महत्व को ही ध्यान में रख कर 'वार्ड' ने ध्वनि विज्ञान की निम्न परिभाषा दी है 'ध्वनि विज्ञान वह विज्ञान है जिससे शिक्षक स्वयं समझता है और उच्चारण के व्यावहारिक स्वरूप का ज्ञान दूसरों को कराता है।' वही फिर लिखते हैं कि "ध्वनि विज्ञान वह विज्ञान है जो भाषण ध्वनियों और उसके तत्वों का विश्लेषण करता है तथा सम्बन्धित वाक्य में उसका उपयोग बतलाता है।" स्वीट महोदय भी भाषा विज्ञान के तुलनात्मक व ऐतिहासिक दोनों ही क्षेत्रों में 'ध्वनि विज्ञान' व ध्वनि परिवर्तन के नियमों को महत्वपूर्ण स्थान देते हैं।[६] जेसपर्सन महोदय ध्वनि विज्ञान से तात्पर्य उस अध्ययन से समझते हैं जो "भाषण के श्रवण गुण (Acoustics) व उसके प्रभाव तथा उत्पादन के सम्बन्ध में किया जाय।"

भाषा विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में से एक शाखा ध्वनि विज्ञान की है जिसका महत्व अन्य शाखाओं रूप विचार व अर्थ विचार के समान ही नहीं, वरन् देखा जाय तो ध्वनि विज्ञान की सहायता से ही उनका अध्ययन सम्भव है। "ध्वनि विज्ञान तो किसी भाषा का आधार स्तम्भ है।" ध्वनि विज्ञान सम्बन्धित उक्त सभी परिभाषा से यह निष्कर्ष निकलता है कि यह शास्त्र भाषण ध्वनियों के अध्ययन से सम्बन्ध रखता है। यह बतलाता है, कि उनका उत्पादन कैसे होता है और उनका वैज्ञानिक विभाजन तथा वर्गीकरण किस प्रकार किया जाय। 'ध्वनि विज्ञान' के इस स्वरूप पर आगे प्रकाश डाला जायगा।

'ध्वनि-विज्ञान' की शिक्षा पाये हुए विद्यार्थी को तीन लाभ हैं —

१—ध्वनि यन्त्र व उसकी कार्य प्रणाली का ज्ञान। विदेशी ध्वनियों की पहिचान व उनका विश्लेषण करके उनका वर्गीकरण करना। प्रत्येक 'ध्वनि' मात्र की इतना सूक्ष्म एवं विस्तृत *व्याख्या करना, कि कोई भी अन्य विद्यार्थी* प्रयत्न द्वारा उस विदेशी ध्वनि का अपने ध्वनि यन्त्र से ठीक ठीक उच्चारण कर सके।

२—विदेशी ध्वनियों का इस रूप में वर्गीकरण तथा विभाजन इस प्रकार कर सकता है, कि

उन ध्वनियों के एक दूसरे से सम्बन्ध स्पष्ट हो जाय।

६—इस प्रणाली द्वारा वह सरलता से विदेशी भाषा के व्यावहारिक कार्य रूप की निधि को प्राप्त कर लेगा और उसका लिखित व पाठ्य रूप तो फिर स्वतः ही आसानी से ग्राह्य हो ही जायगा।

उच्चारण के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन अपेक्षित है, पर यहाँ पर तो केवल कुछ मूल सिद्धान्तों पर ही प्रकाश डाला जावेगा, जिन पर ध्यान देना अत्यावश्यक है।

१—वे ध्वनियाँ जिनका हम अपनी भाषा में प्रयोग करते हैं और जिनको हम स्वतः उच्चारित करते हैं, वे सब वही नहीं हैं, जिनका प्रयोग हमारे पड़ोसी करते हैं—मेरी भाषण ध्वनियाँ मेरे पड़ोसी की भाषण ध्वनियों से भिन्न होंगी।

२—जिन ध्वनियों का प्रयोग मैं स्वयं भी करता हूँ उनके भी वास्तविक स्वरूप का ज्ञान वस्तुतः मुझे नहीं है। ठीक ठीक 'ध्वनि' का विश्लेषण वैज्ञानिक यन्त्रों की सहायता से किया जा सकता है।

३—मेरी व मेरे पड़ोसी द्वारा प्रयुक्त भाषण ध्वनियाँ उन भाषण ध्वनियों से सर्वथा पृथक् हैं, जिनका प्रयोग हमारे पूर्वज करते थे।

४—हमको स्वीकार करना चाहिए, कि कोई भी भाषा अपना कोई परिनिष्ठित सर्वमान्य स्थिर स्वरूप नहीं रखती है क्योंकि हम ऊपर देख चुके हैं, कि किसी 'भाषण ध्वनि' का दो व्यक्तियों के उच्चारण में तो क्या एक व्यक्ति द्वारा दो बार प्रयुक्त उसी भाषण ध्वनि में अन्तर हो जाता है वह चाहे कितना भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्यों न हो, जिसका ज्ञान केवल वैज्ञानिक यन्त्रों की सहायता से ही हो सकता है।

प्रत्येक भाषण ध्वनि के उच्चारण के तीन स्वरूप होते हैं —

(अ) शरीर विज्ञान सम्बन्धी—भाषण ध्वनियों का उच्चारण ध्वनि यन्त्र के विभिन्न अवयवों की सहायता से किया जाता है—जैसे जिह्वा ओष्ठ। इन अवयवों के समूह का नाम ध्वनि यन्त्र मनुष्य ने सुविधा की दृष्टि से रख लिया है। वस्तुतः लगभग ये सभी अवयव सभी प्राणियों में होते हैं, फिर भी पशु पक्षी मानव के समान ध्वनियों का उच्चारण करने में असमर्थ होते हैं।

(ब) श्रावण गुण सम्बन्धी—'भाषण ध्वनियों का उच्चारण करते समय मुख व नासिका में जो स्वर लहरी गुंफित होती है, उनको 'ध्वनि तरंग' कहते हैं। यह अपने श्रावण गुण के साथ सुनने वाले (श्रोता) के कर्णेन्द्रिय पर प्रभाव डालती है।

(स) कर्णेन्द्रिय सम्बन्धी—बोलने वाला स्वयं भी अपनी उच्चरित ध्वनियों का ज्ञान कर्णेन्द्रियों की सहायता से कर लेता है।

ध्वनि विज्ञान के इन तीनों स्वरूपों में से हमारा इस समय विशेष सम्बन्ध प्रथम से ही है। द्वितीय श्रावण गुण सम्बन्धी ध्वनि विज्ञान का सम्बन्ध तो भौतिक शास्त्र की एक शाखा से है, जो ध्वनि तरंगों के कम्पन का माप करता है। यह माप प्रयोग शाला में ध्वनि यन्त्रों की सहायता से ही सम्भव है। तृतीय का कोई विशेष महत्व नहीं है। इस प्रकार हमारा विशेष सम्बन्ध ध्वनि विज्ञान की केवल प्रथम शाखा से ही रह गया।

ध्वनियों का उत्पादन—मनुष्य जीवन भर निरन्तर श्वास लेता और बाहर फेंकता रहता है। जिस श्वास को हम बाहर फेंकते हैं उसी की विचित्र विकृति से ध्वनियों की सृष्टि होती है।[१२] शब्द की उत्पत्ति प्रश्वास से होती है।[१३]

पाइक महोदय ने अपने 'ध्वनि शास्त्र' में उन ध्वनियों का भी विस्तृत विवेचन किया है, जिनकी उत्पत्ति श्वास से भी होती है—अग्रजी का 'No का उच्चारण भी साँस खींचते हुए किया जा सकता है।

सामान्य रूप से हम मानव के ध्वनि यन्त्र की तुलना मुरली से कर सकते हैं। दोनों मे ही 'ध्वनि उत्पादन किसी न किसी रूप में रुकावट' द्वारा होता है। सकुचित मार्ग मे प्रवाहित वायु की अबाध गति में बाधा पहुँचने से ही ध्वनि तरग' उत्पन्न होती है। मानव के ध्वनि यन्त्र मे वायु फेंफड़ों से चलकर श्वास नालिका द्वारा स्वर यन्त्र[14] मे प्रवेश करती हुई मुख माग से बाहर आती है। मुख के अवयवों की विभिन्न अवस्थाओं मे ध्वनि विभिन्न रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार सभी ध्वनियों का उत्पादन उस प्रश्वास से होता है, जो फेफड़ों से चलकर ओठ अथवा नासिका द्वारा बाहर जाती है।

'स्वर यन्त्र' क्या है ? स्वर यन्त्र' स्वर तन्त्रियों का समूह है। इसमें बहुत महीन महीन तन्त्रियाँ होती हैं, ये सूक्ष्मातिसूक्ष्म बाजे के तारों से भी महीन होती हैं। ये तन्त्रियाँ रबर की भाँति खिच कर सुकड़ जाती है। स्वर तन्त्रियों की चार अवस्थाएँ रहती हैं —

१—दोनों समूह पृथक् पृथक् निष्पद पडे रहते है और इनके मध्य से श्वास बडी सरलता से आती जाती रहती है।

२—दोनों के मध्य म स्थान बिल्कुल नहीं रहता—स्वर तन्त्रियाँ एक दूसरे से इतनी मिली रहती हैं कि श्वास का आना जाना ही रुक जाता है।

३—ये कभी इतनी कम खुली रहती है, कि बीच म से प्राण वायु निकल तो जाती है, पर वीणा के तारों की भाँति झनझनाहट थोडी देर तक होती रहती है।

४—दोनों समूह एक दूसरे से एक ओर जुटे रहते हैं और दूसरी ओर नीचे की ओर थोडा-सा भाग श्वास के आने जाने के लिए खुला रहता है।

जब पहली अवस्था मे स्वरतन्त्रियाँ रहती हैं और ध्वनि उत्पन्न होता है, तो उन्हें हम अघोष ध्वनि कहते हैं। तीसरी अवस्था म उत्पन्न ध्वनियाँ सघोष होती हैं।[15] चौथी अवस्था में उत्पन्न ध्वनियों को हम फुसफुसाहट वाली ध्वनि या जपित जाप' अथवा उपाशु ध्वनि कह सकते हैं। द्वितीय अवस्था मे उत्पन्न ध्वनि तब होती है, जब कि हम हमजा [ॽ] बालना चाहते हैं।[16]

इस प्रकार स्वर तन्त्रियों के मध्य से आने वाली प्रश्वास (अघोष अथवा सघोष रूप में) जब मुख विवर में प्रवेश करती है तो उच्चारण की प्रकृति और प्रयत्न के अनुसार ध्वनियों का निम्न वर्गीकरण किया जा सकता है —

१—स्पर्श (स्फाट)[17]—उन ध्वनियों को कहते है जिनके उच्चारण मे मुख के अन्दर या बाहर के दो उच्चारण अवयव एक दूसरे से इतनी जोर से स्पर्श करके सहसा खुलते हैं, कि नि श्वास थोडी देर के लिए बिल्कुल रुककर फिर वेग के साथ सहसा बाहर निकलता है—जैसे प्, त्, द्, क, ब, ट्, ड, ग्। स्पर्श ध्वनियों के दो भेद हैं—अल्प प्राण और महा प्राण। अल्प प्राण ध्वनियों मे हकार की ध्वनि का मिश्रण नहीं होता है, जैसे

१४—श्याम सुन्दरदास जी ने इस कठ पिटक स्वर यन्त्र या ध्वनि यन्त्र कहा है—देखो भाषा रहस्य पृष्ठ—२२१। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने Vocal Cards के लिए स्वर तन्त्री का प्रयोग किया है। देखो हिन्दी भाषा का इतिहास पृष्ठ—२३७।

१५—अघोष को 'श्वास' और सघोष को नाद कहा गया है।

१६—डा० बाबूराम सक्सना—सामान्य भाषा विज्ञान पृष्ठ ३६।

१७—इनको अग्रेजी में Stop, Mute, Explosive, Plosive, आदि विभिन्न नामों स पुकारते हैं।

उक्त उदाहरण में दी गई ध्वनियाँ हैं। महाप्राण ध्वनियों में 'हकार' की ध्वनि का मिश्रण होता है जैसे फ्, थ्, ठ्, ख्, भ्, ध्, ढ़, घ। स्पर्श व्यंजनों में ही जब कुछ श्वास नासिका मार्ग से कोमल तालु के उठ जाने के कारण बाहर चली जाती है, तो उन ध्वनियों को सानुनासिक कहते हैं जैसे—म्, न, ण, ङ।

२—घर्ष (संघर्षी)[१८]—इनके उच्चारण में मुख विवर इतना संकीर्ण हो जाता है अर्थात् किन्हीं दो अवयवों के मध्य इतना कम स्थान रह जाता है, कि हवा के बाहर निकलने में सर्प की जैसी शीत्कार अथवा ऊष्म ध्वनि निकलती है जैसे हिन्दी श, स, ष, अंग्रेजी f, v, θ, thing फारसी ज आदि। इसको सप्रवाह, अव्याहत अथवा अनवरुद्ध भी कहते हैं।

३—पार्श्विक[१९]—उन ध्वनियों को कहते हैं, जिनके उच्चारण में मुख विवर को सामने से तो जीभ बन्द कर दे, किन्तु दोनों पार्श्वों से निःश्वास निकलती रहे—जैसे हिन्दी [ल्]।

४—उत्क्षिप्त[२०]—उन ध्वनियों को कहते हैं, जिनमें जीभ तालु के किसी भाग को वेग से मार कर हट आये जैसे—[ड़]।

५—लुंठित[२१]—उन ध्वनियों को कहते हैं, जिनके उच्चारण में जीभ बेलन की तरह लपेट खाकर तालू को छुए जैसे— र]।

६—स्पर्श घर्ष—इन ध्वनियों के उच्चारण में स्पर्श तो होता है, पर साथ ही वायु कुछ घर्ष ध्वनि की तरह भी ऊष्म ध्वनि के साथ निकल जाती है—जैसे [च] [ज]।

उक्त सभी—स्पर्श, संघर्षी, पार्श्विक, उत्क्षिप्त, लुंठित तथा स्पर्श-घर्ष व्यंजन ध्वनियों को उत्पन्न करते हैं।

७—स्वर—'स्वर' वे ध्वनियाँ कहलाती हैं जिनके उच्चारण में मुख द्वार कम अधिक तो किया जा सकता है, किन्तु न तो कभी बिल्कुल बन्द किया जाता है और न इतना बन्द कि निःश्वास रगड़ खाकर निकले। जिह्वा व ओष्ठयों की विभिन्न अवस्था से विभिन्न स्वर उच्चरित होते हैं। ध्वनि-विज्ञान के अनुसार स्वर वह सघोष ध्वनि है, जिसके उच्चारण में श्वास नालिका से आती हुई प्रश्वास धारा प्रवाह से अबाध गति से मुख से निकलती जाती है और मुख विवर में ऐसा कोई संकोच नहीं होता, कि किंचिन्मात्र भी संघर्ष या स्पर्श हो।[२२] (क्रमशः)

१८—इन ध्वनियों को अंग्रेजी में Fricative, Spirant, Contimeant भी कहते हैं।

१९—यह ध्वनि अंग्रेजी में Lateral कहलाती है।

२०—इसके लिए अंग्रेजी का पारिभाषिक शब्द है—Flapped.

२१—लुंठित के लिए Rolled शब्द का व्यवहार किया गया है। [र] का उच्चारण (Trilled) जिह्वोत्कम्पी हो सकता है।

२२—In ordinary speech a Vowel is a Voiced Sound in the pronunciation of which the air passes through the mouth in a continuous stream, there being no obstruction and no narrowing such as would produce audible friction. All other sounds are consonants.

I. D. A. Ward The Phonetics of English Chapter IX Page 65.

"साधारणीकरण"

[श्री रघुनाथ सफाया एम० ए०]

साधारणीकरण का सिद्धान्त सर्व प्रथम भट्टनायक ने प्रतिपादित किया। उनका कथन है कि दर्शक अभिधा शक्ति से नायक नायिका के सवादों का अर्थ ग्रहण करता है और भावकत्व शक्ति से उनका रमण होता है। जो भाव काव्यगत नायक नायिका में होते हैं वे व्यक्ति विशेष के न रह कर सर्वसाधारण के हो जाते हैं अथवा सहृदय पाठकों में साधारणीकृत हो जाते हैं। आचार्य मम्मट के काव्य प्रकाश की टीका में प्रदीपकार लिखते हैं —

"भावकत्व साधारणीकरणम्। तेन हि व्यापारेण विभावादय स्थायी च साधारणी क्रियते। साधारणीकरणम् चतदेव यत् सीतादी नाम् कामनीत्वादि सामान्येनापस्थिति। स्थाय्यनुभावादीनाम् सम्बधि विशेषोनवच्छिन्नत्वेन"।

इसके अनुसार भावनाओं का साधारणीकरण होता है। भावकत्व ही साधारणीकरण है। इसी से ही विभावादि तथा स्थायीभाव का साधारणीकरण होता है सीतादि विशेष पात्रों को साधारण स्त्री समझ लेना ही साधारणीकरण है। अभिनव गुप्त ने भी इन विचारों का अनुसरण किया है। साधारणीकरण के सम्बन्ध में अभिनव गुप्त का मत है कि साधारणीकरण सामाजिक का हृदय करता है। सभी सामाजिकों के मन में एक ही भाव उत्पन्न होते हैं।

आचार्य विश्वनाथ ने एक कदम आगे बढ़ कर पाठक या दर्शक का आश्रय के साथ तादात्म्य सम्बन्ध की व्याख्या की है।

"व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणी कृत तत्प्रभावेन यस्यासन पाथोधिप्लवनादय प्रमाता तदभेदेन स्वात्मान प्रतिपद्यते।" आचार्य शुक्ल विश्वनाथ के विचार के समर्थक हैं। डा० नगेन्द्र इसका विरोध करते हैं। आचार्य गुलाबराय कवि का साधारणीकरण भी जोड़ देते हैं।

संक्षेप में साधारणीकरण के सम्बन्ध में अब तक तीन विचार आये हैं।

१. भावनाओं का साधारणीकरण।
२ सामाजिक का साधारणीकरण।
३ कवि का साधारणीकरण।

तीनों विचारों की विवेचना अपेक्षित है।

१ "भावनाओं का साधारणीकरण"

यही भट्टनायक द्वारा प्रतिपादित प्रारम्भिक *सिद्धात है। जो भाव काव्यगत नायक नायिका* में व्यक्तिगत सम्बन्ध के होते हैं वे सामाजिक में साधारणीकृत होते हैं। ऐसी अवस्था में लौकिक अनुभूति की कटुता जाती रहती है और दुखात्मक अनुभूति भी सात्विक आनन्द में परिणत हो जाती है। यह दशा देशकाल के बधनों से मुक्त होती है। भट्टनायक के 'भावकत्व साधारणीकरणम्" वाले सिद्धान्त में किसी को आपत्ति नहीं।

२ 'सामाजिक का साधारणीकरण"

यह दो प्रकार से होता है।

(अ) सब *सामाजिकों* का समान रूप से प्रभावित होना। एक काव्य अनेक जनों को एक साथ रसानुभूति कराता है। सारे सामाजिक अपने व्यक्तित्व के क्षुद्र बन्धनों को तोड़कर लोक सामान्य भावभूमि में आ जाते हैं। आलम्बन के प्रति सारे हृदयों का एक ही भाव उदय हो जाता है जैसे मस्तिष्क की मुक्तावस्था में सब में एक प्रकार का ज्ञान होता है वैसे ही हृदय की मुक्तावस्था में एक प्रकार का रस उत्पन्न होता है। एकता मानव जाति की नैसर्गिक माग है। काव्य के सेवन से सभी सामाजिक एकता के

सूत्र में बध जाते हैं। आलम्बन का ऐसा सामान्य होना आवश्यक है कि वह मनुष्य मात्र के किसी भाव का आलम्बन हो सके। यह सामान्यता (Commonness) काव्य के लिये आवश्यक है। उपर्युक्त विचार के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं।

(आ) सामाजिक का आश्रय और कवि के साथ तादात्म्य :—

इस सिद्धांत के अनुसार आश्रय कवि की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता है कवि के अपने भाव सामाजिक में प्रविष्ट होते हैं। इस विचार को सर्व प्रथम साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ ने उपस्थित किया। आचार्य शुक्ल के शब्दों में ' साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती है। वह जैसे काव्य में वर्णित आश्रय के भाव का आलम्बन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भावों का आलम्बन हो जाती है।" सामाजिक और आश्रय के तादात्म्य सम्बन्ध की विस्तृत व्याख्या अपेक्षित है।

(i) घटना प्रधान काव्य जैसे महाकाव्य, उपन्यास नाटक आदि में नायक का जो आलम्बन होता है वही सामाजिक का भी आलम्बन बन जाता है। साधारणतया पुरुष सामाजिक नायक के साथ अर्थात् पुरुष प्रधान पात्र से साथ अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं और स्त्री सामाजिक नायिका के साथ यदि स्त्री पात्र न भी हो तो भी सभी पुरुष स्त्रियाँ पुरुष पात्र के साथ ही तादात्म्य सम्बन्ध जोड़ते हैं। प्रधान पात्र नायक होने पर वह सबका आश्रय बन जाता है।

(ii) विशेषतया नाटक में भावतादात्म्य से आलम्बन अभिनेता द्वारा आश्रय अभिनेता में जगाया गया स्थायीभाव सामाजिक में भी जागृत होता है और इस प्रकार प्रत्येक सामाजिक का सम्बन्ध आश्रय अभिनेता के साथ जुड़ता है।

आश्रय अभिनेता और आलम्बन अभिनेता सामाजिक —

साधारणीकरण के इस मत पर निम्न प्रकार के आक्षेप उठे हैं।

(i) यदि आश्रय का प्रेम दुर्बल हो या दुर्बल पात्र से तो सामाजिक में रस दशा कैसे उत्पन्न हो सकती है? उसका उत्तर शुक्ल जी देते हैं। उनके अनुसार ऐसा भाव दुर्बल होने के कारण रस दशा तक नहीं पहुँच सकता। ऐसे रचना केवल भाव प्रदर्शक रचना होगी।

(ii) काव्य व्यक्ति विशेष की वस्तु है। साधारणीकरण सारी जाति या सभी सामाजिकों में कैसे हो सकता है? इस आक्षेप का उत्तर भी शुक्ल जी ने 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद' शीर्षक लेख में दिया है। उनके अनुसार भिन्न भिन्न विशेषों में भी सामान्य का उद्घाटन होता है। भिन्नता में भी अभिन्नता (Unity in diversity) दृष्टिगोचर होती है।

(iii) तीसरा आक्षेप यह है कि यदि आश्रय का व्यवहार निकृष्ट हो जिससे सामाजिक के मन में उससे प्रति सहानुभूति उत्पन्न न हो सकती तो ऐसी अवस्था में भावतादात्म्य के अभाव में साधारणीकरण कैसे हो सकता है।

इस आक्षेप के उत्तर में शुक्ल जी कहते हैं कि पाठक आरम्भ में ही काव्य के किसी प्रधान पात्र के साथ सम्बन्ध जोड़ता है बाद में उस प्रधान पात्र के किसी क्रूर कर्म पर दृष्टि नहीं रहती परन्तु रसानुभूति में अन्तर पड़ जाता है। ऐसे रस निम्न कोटि का होता है। नाटककार वैसे किसी अशील पात्र को नायक नहीं बनाता यदि बनायेगा भी तो दर्शक किसी दूसरे शील पात्र के साथ तादात्म्य जोड़गे। यहाँ पर पूर्ण साधारणीकरण के लिये जहाँ सामाजिकों का परस्पर

भाव तादात्म्य है वहाँ आश्रय सामाजिक का भी भाव तादात्म्य होता है। जहाँ पूर्ण साधारणीकरण नहीं होता वहाँ रस की निम्न कोटि होती है। डाक्टर नगेन्द्र इस कथन का खण्डन करते हैं, वे कहते हैं कि शुक्ल जी ने रसानुभूति की जो पृथक् कोटियाँ मानी हैं वे उचित नहीं। रसानुभूति में कोटियाँ कहाँ? रस अखण्ड और अभेद है। उनके अनुसार आश्रय सामाजिक तादात्म्य सम्बन्ध निरर्थक है अत साधारणीकरण भावनाओं का होता है। जैसे भट्टनायक ने प्रतिपादित किया है। आचार्य गुलाबराय शुक्ल जी का समर्थन करते हैं। वास्तव में आश्रय हो या आलम्बन, किसी मुख्य पात्र के साथ सामाजिक का तादात्म्य भाव सरल और ऐसी दशा भी साधारणीकरण कहलाई जा सकती है। सम्भव है कि उपर्युक्त आक्षेपों का उत्तर अन्य प्रकार से दिया जा सके परन्तु आश्रय सामाजिक तादात्मय एक अनुपम सिद्धान्त है। आधुनिक मनोविज्ञान इस तथ्य का साक्षी है प्रत्येक सामाजिक नाटक या चल चित्र देखते समय अपने भावों या हृदय को किसी प्रधान पात्र में प्रक्षेप Project करता है। प्रक्षेपन (Projection) का सिद्धान्त आजकल सर्वमान्य है।

प्रसिद्ध रूसी विद्वान टालस्टाय अपने सवेदन सिद्धान्त (Infection theory) को समझाते हुए कहते हैं 'यदि कोई व्यक्ति लेखक की आत्मिक दशा से तुरन्त प्रभावित हो जाय, यदि उसके भाव की अनुभूति हो जाय, और वह अन्य मनुष्यों से एकता का अनुभव करने लगे तो जिस वस्तु द्वारा वह कार्य सम्पादित होता है उसे कला कृति कहते हैं। यह प्रभाव Infection) कला का सबसे बड़ा चिन्ह है। और जितना ही अधिक यह होगा उतना ही अधिक कलाकृति का महत्व होगा।"

निश्चय ही कवि की कला कृति तभी सवेद्य बनती है जब पाठक उस पात्र के साथ अपना तादात्मय सम्बन्ध जोड़े जिसमें कवि ने अपने भाव दर्शाये हों।

रस की विभिन्न कोटि के सम्बन्ध में हमारे आचार्यों ने पूर्ण रस और रसाभास माना है। जहाँ रस में दुर्बलता आए वहाँ रसाभास होता है। अत पात्रों की दुर्बलता की अवस्था में रस की मध्य कोटि व सही रसाभास माना जा सकता है।

(४) चौथा आक्षेप यह है कि साधारणीकरण की अवस्था में यदि सामाजिक आश्रय के साथ तादात्मय करेगा तो रामायण पढते हुए पुरुष सामाजिक राम के साथ तादात्म्य जोड़कर सीता को पत्नी रूप में देखेगा।

इसका उत्तर यह है कि राम और सीता का शृंगारिक वर्णन रामायण के मध्य में आता है आरम्भ में नहीं। अत आरम्भ से सामाजिकों के मन में राम तथा सीता के प्रति श्रद्धा और भक्ति भाव उत्पन्न होते हैं। ये भाव आदि से अन्त तक रहेंगे। अत मध्य का शृंगारिक वर्णन में भी सामाजिकों का भाव तादात्मय लक्ष्मण, भरत, हनुमान जैसे रामभक्तों के साथ होगा, और राम सीता दोनों भक्ति भाव के आलम्बन होंगे। स्थाई भाव भक्ति ही है, जो भक्ति रस में परिणत हो जाता है, रति नहीं।

३—मूल रूप में कवि का साधारणीकरण — आचार्य गुलाबराय भावों का साधारणीकरण सामाजिकों का साधारणीकरण के अतिरिक्त कवि का साधारणीकरण प्रतिपादित करते हैं। कवि के साधारणीकरण से तात्पर्य है कि कवि के निजी व्यक्तित्व को ऊँचा उठना और इतना ऊँचा उठना कि वह समस्त विश्व का प्रतिनिधित्व कर सके। जिस कवि में विश्व बन्धुत्व की भावना घर करती है और जो अपनी क्षुद्र भावनाओं का अनुसरण न

(शेष पृष्ठ १७६ पर)

विद्यापति का कलापक्ष एवं हृदयपक्ष

(श्री निज़ामउद्दीन 'रश्मि', एम० ए०)

काव्य हृदय की सामग्री है मस्तिष्क की नहीं। हृदय का सम्बंध भाव से है और मस्तिष्क का बुद्धि से। भाव से ही कविता की सृष्टि होती है, और बुद्धि से विज्ञान का बृहत् कलेवर उपलब्ध होता है। कविता का जन्म-स्थान अंतःकरण है। अंतःकरण में भावों का वेग उमड़ता है तो उन भावों को संगीतमय तथा व्यवस्थित कर काव्य रूप में ही अभिव्यक्त किया जाता है। काव्य के दो पक्ष प्राचीन शास्त्रज्ञों ने प्रतिपादित किये हैं हृदय पक्ष और कलापक्ष मैथिल कोकिल विद्यापति एक राजाश्रित कवि थे। उनकी कविता का प्रमुख विषय था प्रेम—केवल अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के हेतु। राजा शिवसिंह विद्यापति के आश्रयदाता विद्वान वीर एवं गुणग्राही थे। स्वयं उनकी धर्मपत्नि लखिमा भी उच्चकोटि की विदुषी ही नहीं अपितु लावण्य में भी अनूठी थी। इस पुष्पकाय रमणी का रस पान करने के लिये शिवसिंह द्विरेफ की भाँति विह्वल रहते थे। इस स्वर्णावसर को प्राप्त कर विद्यापति ने शृंगार रस की वेगमयी शैवलिनी प्रवाहित की जिसकी एक-एक बूंद ने उनके साहित्य को अमरत्व प्रदान कर दिया।

वैसे जब हमें यह ज्ञात हो गया कि उनकी कविता का विषय शृंगार था तो यह कहने में अत्युक्ति न होगी कि उनका साहित्य अथवा काव्य अतिरंजनापूर्ण है। शृंगारिक रचना में जब तक शब्दों तथा अलंकारों की मणि-मुक्ताओं को जड़ा नहीं जाता, तब तक वह आह्लादित नहीं करती। कवि की पदावली में अत्यधिक पदों में कला ही कला दृष्टिगोचर होती है, इस विषय को हृदयंगम करने के निमित्त उनके पदों की अभिव्यंजना करना ही अपेक्षित होगा।

कवि ने एक ही शब्द को लेकर अपने पद की रचना कर डाली—

"हरि सम आनन हरि सम लोचन,
हरि तहाँ हरि वर आगी" ......

इस पद में 'हरि' शब्द का कवि ने समस्त पद में प्रयोग किया है। यहाँ तो यमक अलंकार का सौन्दर्य भी कुछ विवरण सा हो गया, क्योंकि इसी की पुनरावृत्ति कवि ने पूरे पद में की है। कवि ने वयः संधि, नख-शिख वर्णन, सद्यः स्नाता वसन्त, अभिसार आदि पदों में जो अपनी काव्य पटुता तथा विलक्षण चमत्कार का निदर्शन कराया है वह निस्संदेह अद्वितीय है। कवि कण्ठहार विद्यापति ने नायिका के नख-शिख वर्णन में अतिशयोक्ति का सहारा लेकर एक अच्छा मनोविनोद का साधन-सा बना लिया है—

"हरिन इन्दु अरविंद करिनि हेम पिक
बूझल अनुमानी।
नयन वदन परिमल गति तनरुचि अति
सललित वानी॥
कुच जुग परसि चिकुर फुजि फसरल
ता अरुझायल हारा।
जनि सुमेरू ऊपर मिलि उगल चांद
विहुन सब तारा॥"

इस पद में कितनी सुन्दरता है, कितना माधुर्य है, कितना, काम, कितनी वासना! इसे कसौटी पर कसने से कौन गंभीर भाव का उदय होता है? केवल एक चमत्कार ही परिलक्षित होता है। कवि की उत्प्रेक्षा प्रशस्त है, श्लाघनीय है। देखिये नायिका के दोनों कुचों पर परेशान से केश पड़े हैं और उन केशों में मणि-खचित से मुक्त हार भी झिलमिला रहा है। इस दृश्य को

निरख कवि उत्प्रेक्षा करता है कि मानों सुमेरु पर्वत पर शशि नक्षत्रों से विहीन उदित हो। कवि की उत्प्रेक्षा अनूठी है। फिर नीचे की इन दो पंक्तियों में तो कवि अत्यधिक शब्द रचना करता ही लक्षित होता है।

विद्यापति पहले कवि हैं और तत्पश्चात् भक्त सूरदास जी पहले महान भक्त और पश्चात् में कवि। विद्यापति ने भक्ति का स्वरूप अपने अन्तिम समय में ग्रहण किया था और वह भी अपनी कृतियों के पश्चात्। विद्यापति ने तो देखा ही क्या? अपने समस्त जीवन में प्रेम शृंगार वह भी किसी निम्न व्यक्ति का नहीं राजा नरेश शिवसिंह और रूप लावण्य युक्त लखिमा देवी का। अतएव उच्च वस्तु का वर्णन करने में भी तो कुछ विलक्षण ही अभिव्यक्ति करनी पड़ती है— और कवि ने किया भी यही। उन्होंने एक पद में कितना सुन्दर वर्णन अपनी अभीष्ट नायिका का किया है—

'पल्लवराज चरन-जुग सोभित गति
गजराज क भाने।
कनकदलि पर सिंह समारल तापर
मेरु समाने॥
मेरु ऊपर दुई कमल फुलायल नाल
बिना रुचि पाई।
मनिमय हार धार बहु सुरसरी तओ
नहिं कमल सुखाई॥

कवि की कला का अनुसरण उनके परवर्ती *कवियों ने भी किया। उनका काव्य वैभव भी उच्च* कोटि का था। तभी तो सूर ने भी उनके उपरोक्त पदाधार पर नायिका के नखशिख का यह रूपक बांधा है—

"अद्भुत एक अनुपम बाग।
जुगल कमल पर गजक्रीडत है, तापर
सिंह करत अनुराग।
हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर,
गिरि पर फूले कंज पराग॥'

पर यहाँ पर विद्यापति महाकवि सूरदास जी से कहीं आगे बढ़े हैं। उनका वर्णन अधिकतर चमत्कारपूर्ण है। जहाँ विद्यापति बिना नाल के ही कमल विकसित करना चाहते हैं वहाँ कितना चमत्कार है, कितना कला कौशल है।

शब्द योजना तथा अलंकार बाहुल्य के अतिरिक्त भी कवि की भाषा उपयोगी एवं कोमल-कान्त पदावली से युक्त है। उसमें संगीत है और है अत्यधिक चमत्कार। उसे अपनी भाषा का कोमल तथा सुन्दर बनाने का विशेष ध्यान था। वह यह भली भाँति जानते थे कि कौन शब्द किस स्थान पर उपयुक्त होगा। इस पंक्ति पर तनिक दृष्टि डालिए— कामिनि करए स्नाने हेरितहि हृदय हनय पचबाने"। 'कामिनी' शब्द का विन्यास कवि ने कितना अनूठा किया है। कामिनी में काम का निवास होता है। अतः जो भी उस कामिनी की ओर एक नजर से देख लेता है उस पर काम शरों से आक्रमण होना स्वाभाविक है और लीजिये—*'तिमल वसन तन* लागू। मुनिहुक मानस मनमथ जागू।' यहाँ *मनमथ (मन को मथन वाला)* होकर ही तो वह मुनियों के हृदय को व्याकुल बना देता है, पर यदि मनमथ के स्थान पर मनसिज शब्द प्रयुक्त हुआ होता तो सारा सौंदर्य ही नष्ट हो गया होता। इस प्रकार उनका भाषा में शब्द विन्यास भी प्रशस्त ही परिलक्षित होता है। फिर भाषा मधुरता में भी कुछ निम्न नहीं। भाषा के *माधुर्य के विषय में तो कवि का निम्न पंक्तियाँ* सहज ही स्मरण आ जाती हैं—

'बाल चन्द विज्जवइ भाषा।
दुइ नहि लग्गइ दुज्जन हासा॥
ओ परमेसर हर सिर सोहइ।
ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ॥

विद्यापति के इस पद से हमें उनकी गर्वोक्ति नहीं समझनी चाहिये। वह अपनी भाषा के माधुर्य तथा लावण्य के कारण ही तो 'अभिनव

जयदेव' की उपाधि से प्रतिष्ठित किये गये। उनकी कविता सरिता से प्रसाद और माधुर्य की लघु धाराएँ भी प्रवाहित होती हैं।

प्रकृति वर्णन में तो कवि ने कमाल ही कर दिया। उनका वसंत तथा पावस का वर्णन पढ़कर मंत्रमुग्ध हो जाना पड़ता है। माधव में मिथिला की शस्यश्यामला भूमि नूतन पुष्पों तथा पल्लवों से अलंकृत हो जाती है। और पावस में हिमालय की गहन गंभीर शैलियाँ निकटतम होने के कारण वहाँ तड़ित भी वेग से तड़तड़ाती है। कवि का वसन्त का वर्णन सुन्दर जान पड़ता है—

चल देखए जाऊ ऋतु वसंत,
जहा कुंद कुसुम केतकि हसंत।
जहाँ चंद्रा निरमल भ्रमरकार,
जहाँ रयनि उजागर दिन अंधार॥

यहाँ वसंत का सौंदर्य पूर्ण और स्वाभाविक वर्णन तो है पर किसी महान भाव का उन्नयन हमारे अंतःकरण में नहीं होता, किंतु फिर भी नरेन्द्रनाथ की धारणा है, "हमारे कवि विद्यापति भाव प्रधान कवि हैं। उनकी कविता में अंतःसौंदर्य तथा बाह्य सौन्दर्य का मणिकांचन संयोग है। विद्यापति की पदावली में काव्य का कसीदा नहीं भाव का वैभव है। (विद्यापति-का या लोक) इसमें संदेह नहीं कि विद्यापति में भाव प्रवणता एवं माधुर्य उच्च कोटि का है तभी तो चैतन्य जैसे महाप्रभु रसमग्न हो आत्मविभोर हो जाते थे। विद्यापति के कुछ भक्ति सम्बन्धी पदों में यथेष्टमात्रा में भाव दिखाई पड़ता है और विरह के पदों में भी भाव की बहुलता है। विरह कितनी उच्च भावना का प्रतिपादन कवि ने किया है कि राधा कृष्ण के विरह में कृष्ण कृष्ण कहती हुई स्वयं राधा राधा रटने लगती है और बेचारी विरहिणी की दशा बस कुछ ऐसी ही है कि जैसे एक बांस के दोनों सिरों में अग्नि लगी हो और मध्य में एक कीट व्याकुल गति से इधर उधर आगमन कर रहा हो। ऐसी भावना साहित्य में मिलनी दुर्लभ है।

किन्तु जब उनके सम्पूर्ण पदों का निरीक्षण करते हैं तो उनमें हृदय पक्ष का पलड़ा कुछ ही मिलता है और कला पक्ष का ऊंचा। उन्होंने अलंकारों का प्रयोग इतना अधिक किया है कि अलंकारों के घटाटोप में भाव का एक नक्षत्र भी नहीं झलकता। अतिशयोक्ति, रूपक, उपमा, व्यतिरेक, यमक, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास आदि अलंकारों का प्रयोग उनके काव्य का एक गुण ही बनकर रह गया जिसने कलापक्ष का ही अधिक पक्ष ग्रहण किया। अनुभूति का शांत साम्राज्य यहाँ नहीं मिलता वरन् 'विद्यापति के पदों में माधुर्य और संगीतात्मकता अधिक है।'

———

(शेष पृष्ठ १७२ का)

करके मानव जगत सर्व साधारण की भावनाओं का चितेरा बनता है वह सभी सामाजिकों के लिये प्रभावशाली बनता है। जो कवि ऐसी भावनाओं को जागृत करे जिसके लिये किसी पाठक को सहानुभूति न हो सफल नहीं हो सकता। इसी तथ्य को पाश्चात्य विद्वान कलाकार की साधारणानुकूलता (Normality of the artist) कहते हैं।

आजकल रिचर्डस का भावप्रेषण का सिद्धान्त (Theory of communication) सर्वमान्य हो चुका है। सफल कवि ऐसे भावों का प्रेषण करता है जो सबके लिये ग्राह्य हो। इसी ग्राह्य होने को कवि का साधारणीकरण कहते हैं। कालिदास, व्यास बाल्मिकी, होमर, गेटे मिल्टन शेक्सपीयर टालस्टाय आदि जगत प्रसिद्ध कवियों की प्रसिद्धि का यही कारण है।

❀—❀—❀

सूर सागर में 'रामकथा'

[कु० गार्गी गुप्ता एम० ए०, रिसर्च स्कालर]

सूरसागर में सूरदास ने भागवत की कथा का अनुसरण तो अवश्य किया है परन्तु कुछ विद्वानों की मान्यता कि उन्होंने सूरसागर के रूप में भागवत का ही अनुवाद करके रख दिया है नितान्त भ्रमात्मक है। अपने इस अनुसरण की बात स्वयं सूरदास जी ने अनेक स्थलों पर स्वीकार की है जैसे—

"सुकदेव कहते जाहि परकार सूर कह्यो ताहि अनुसार"

इस प्रकार के अनेक उद्धरण सूरसागर में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं[1]। परन्तु इसके यह अर्थ नहीं कि इससे सूरसागर में मौलिकता का अभाव है। यों तो सूरदास मुख्यतः कृष्ण काव्य के कवि परन्तु क्योंकि भागवत में परब्रह्म परमेश्वर के अनेक अवतारों के साथ उनके रामावतार की भी चर्चा हुई है इसलिये उन्होंने भी प्रसंग स्वरूप राम की इस कथा का वर्णन सूरसागर के नवम् स्कंध में किया है।

सूरसागर की इस रामकथा के विषय में श्रीयुत केदार जोशी ने अपने एक[2] लेख में कहा है "जिस प्रकार कोई पथिक प्रकृति के सुन्दर दृश्यों को देखकर क्षण भर विश्राम कर लेता है और उनकी प्रशंसा करने लगता है उसी प्रकार सूरसागर का कवि भी भागवत की कथा कहते कहते कुछ विराम स्थलों पर पहुँचकर स्वतः अपनी भावनाओं को मुखरित करने लगता है। सूरसागर में राम कथा और कृष्ण कथा ऐसे ही विराम स्थल हैं।

सूरसागर में कृष्ण कथा को तो नहीं राम कथा को अवश्य हम इस प्रकार का विश्रामस्थल मान सकते हैं क्योंकि कृष्ण सूरदास के इष्टदेव हैं और सूरसागर के अधिकांश पद कृष्ण विषयक ही हैं। शेष समस्त प्रसंग तो केवल कृष्ण की महिमा को बढ़ाने वाले हैं।

सूरदास वस्तुतः कृष्णकाव्य के कवि हैं परन्तु उन्होंने जिन कृष्ण को अपना इष्टदेव और काव्य का केन्द्र बनाया है वह केवल नंदनंदन न होकर सम्पूर्ण विश्व के प्रतिपालक हैं। उनके कृष्ण परब्रह्म परमेश्वर, पुरुषोत्तम, घट घट के व्यापक, अन्तर्यामी, अज, अनंत, अद्वैत और विश्व के स्रष्टा हैं। सूर ने कृष्ण और ब्रह्म की एकता स्थापित कर भगवान के उसी रूप की ओर संकेत किया है जो अनेक अलौकिक लीलायें करता है, असुरों और दुष्टों का संहार करता है और भक्त और साधुओं का रक्षक है वही हरि, विष्णु, राम और कृष्ण सब कुछ है[3]।

कृष्ण के इस ब्रह्मत्व की भावना सूर ने भागवत और कबीर से ग्रहण की है। जैसे कबीर अपने प्रभु को राम, गोविंद, केशव आदि अनेक नामों से पुकारते थे वैसे ही सूर ने भी उसे राम, कृष्ण, गोविंद, हरि आदि अनेक नामों से स्मरण किया है। उनके लिये राम और कृष्ण में कोई अन्तर नहीं था। दोनों एक ही शक्ति के दो रूप थे इसलिये उन्होंने कई स्थानों पर कृष्ण के स्थान पर राम का ही नाम लिया है, जैसे—

जो तू राम-नाम चित धरतौ

अथवा

कहा कमी जाके राम धनी[1]

साधारणतया सूरदास की आस्था भगवान के रामरूप में नहीं है। उनके वास्तविक इष्टदेव कृष्ण ही हैं परन्तु क्योंकि उनके कृष्ण ने रामावतार में भी अपनी कुछ लीलाओं का दिग्दर्शन किया था इसलिये उन्होंने राम कथा का भी

१—सूरसागर १।२८७, २।३६०, ४।३६८, ५।४१८, ७।४२६

२—सूरसागर में कथा।

३—सूर और उनका साहित्य : पृ० २४६ : हरवंशलाल शर्मा।

१. सूरसागर १।१७८, १।२४

यथास्थान वर्णन कर दिया है।

सूरदास पुष्टिमार्ग के कवि थे। पुष्टिमार्गी कृष्ण के २४ अवतारों मे से चार को प्रधानता देते है—राम, नृसिंह, वामन और कृष्ण। वे इनकी जयतियाँ भी मानते हैं। वे लोग सारे देवी देवताओं को कृष्ण का अ श मानकर उनकी स्तुति करते हैं। पुष्टिमार्ग की इन्हीं भावनाओं से प्रभावित होकर सूरदास ने भी कहा है—

कृष्ण भक्ति सीतल निज पानी,
रघुकुल राघव कृष्ण सदा ही गोकुल
कीन्हौ थानो।

सूरदास के रामविषयक पद शुद्धाद्वैत सिद्धान्त और पुष्टि सम्प्रदाय की सेवा प्रणाली के अनुसार रचे गये है। श्रीमद्वल्लभाचार्य जी ने अपनी सुबोधनी मे लिखा है "कृष्ण एव रघुनाथ तथा भगवान्पूर्ण एव रघुनाथोवतीर्ण। सूरदास जी ने इन्हीं सूत्रों के अनुसार रामकृष्ण को अभेद मानकर काव्य रचना की है।

इतना सब होने पर भी सूरदास की सबसे बडी विशिष्टता यह है कि उनम सकीर्णता छू तक नहीं गई है। महाकवि की सभी विशेषताएँ होते हुये भी तुलसीदास इस भावना से अछूते नहीं बचे थे तभी तो कृष्ण की प्रतिमा को देखकर उन्होंने तब तक मस्तक नवाना स्वीकार नहीं किया जब तक उनके भगवान ने मुरली छोड़कर धनुषबाण हाथ मे नहीं ले लिया। सूरदास इस साम्प्रदायिक सकीर्णता से दूर थे उन्होंने रामकथा का वर्णन और रामविषयक पदों की रचना उसी तल्लीनता से की है जितने कृष्ण की। इसलिये उनकी रामकथा भी कृष्णकथा की अपेक्षा कुछ कम सरस नहीं है।

सूरदास जी ने सूरसागर मे रामकथा के उल्लेख तीन रूपों मे किये है।

१ वर्णनात्मक कथा के रूप मे।
२. सक्षिप्त प्रसग रूप में।
३ अलकार रूप में।

राम की विस्तृत कथा सूरसागर के नवम् स्कध मे पाई जाती है। इसके १४७ पदों मे सूरदास जी ने रामकथा की मुख्य घटनाओं एवं प्रसगों का संकलन किया है। सूरसागर की अ य कथाओं की अपेक्षा इस कथा मे अधिक सरसता है। सूरदास जी की शैली इसमे वर्णनात्मक कम भावात्मक अधिक है। मगलाचरण को छोडकर इसके समस्त पद गेय हैं अत उनम गेयता अधिक है और कथानक कहीं कहीं क्रमहीन हो गया है।

सूरदास को मार्मिक स्थलों की अच्छी परख थी। रामकथा उनका विशेष लक्ष्य न होते हुये भी समस्त मार्मिक स्थल प्राय सभी आ गये हैं सूर अच्छी तरह जानते है कि कथा के सर्वोत्कृष्ट वर्णनीय स्थान कौन कौन से हैं इसलिये उन्होंने राम कथा के उन सभी स्थलों को चुन लिया है।

सूरसागर मे वर्णित रामावतार का कारण भागवत के अनुकरण पर सनकादि ऋषियों का जय विजय को शाप देना ही है। कृष्ण के समान सूर की दृष्टि राम की बालशोभा पर अटक कर नहीं रह गई है बल्कि उन्होंने दो छदों मे उसका वर्णन कर कथा को आगे बढा दिया है। कैकेयी और मथरा विषयक कथानक उन्होंने छोड दिये हैं सभवत उन्होंने इसे जनता मे पर्याप्त प्रसिद्ध समझकर छोड़ दिया हो अथवा उनको अपनी सहानुभूति के अयोग्य समझकर उनका उल्लेख करना उचित न समझा हो।

सूर साहित्य लोक कल्याण कामना से नहीं लिखा गया था। अत सूरदास जी के काव्य म विशेषत उनके राम विषयक कथानक में उपदेशों का अभाव है। जिन प्रसगों पर सूरदास का मन रमा है उन्हीं का वर्णन किया है अन्यथा तो उन्होंने घटनाओं का केवल उल्लेख मात्र कर दिया है या एकदम ही छोड दिया है। इस दृष्टि से भरत के चरित्र चित्रण मे भी सूरदास ने मौलिकता दिखाई है। राम के वनवास पर वह

कैकेयी को अपराधी बनाकर उसकी ताड़ना नहीं करते अपितु अपने ही भाग्य को दोष देन लगते हैं। उनका संयम और धैर्य तुलसी के भारत से कहीं अधिक है।

सातों काण्डों में सूरदास ने लंका काण्ड को विशेष महत्व दिया है। काव्य और चरित्र चित्रण की दृष्टि से यह सर्वोत्कृष्ट है। लक्ष्मण शक्ति पर राम के विलाप वर्णन में उनकी करुणा पूर्ण रूपसे जाग्रत हुई है। यह स्थल अत्यंत करुण और मर्म-स्पर्शी है।

सूरदास ने सीता का वही मर्यादित रूप चित्रित किया है जो बाद में तुलसी को इष्ट हुआ। उन्हीं सहज सदाचरशील और पातिव्रत्य की देवी सीता के दर्शन यहाँ भी होते हैं। यहाँ सूर ने भगवान राम क प्रति अपनी दीनता प्रकट करने का माध्यम भी सीता को बना लिया है। सीता के माध्यम से स्वयं सूर का हृदय अपनी दैन्य भावनाएँ प्रकट करता है।

> यह गीत देखे जात..........
> मैं परदेसनि नार अकेली ...

भगवान राम ऐश्वर्य वर्णन में सूर का तुलसी से मतभेद है। तुलसी ने राम के ऐश्वर्य वर्णन में मध्ययुग के विलासी मुगल सम्राटों का चित्र उतारा है। उसमें उसी प्रकार के शिष्टाचारों का वर्णन किया है जिनका वहाँ प्रयोग होता था परन्तु सूर की सरल और ग्रामीण प्रकृति इन आडम्बरों से अछूता थी। उन्होंने राम के वैभव के चित्र न खींचकर उनके हृदय की करुणा और कोमलता के ही दर्शन किये हैं। सूरदास तो भगवान के निकटतम पहुँचकर अपना संदेश देना चाहते थे उन्हें यह बीच के शिष्टाचार कैसे भाते ?

यद्यपि सूरदास की मनोवृत्ति रामकथा के वर्णन में नहीं थी तथापि उसके वर्णन में उन्होंने यथेष्ट सहृदयता का परिचय दिया है। अपनी सरल और असाम्प्रदायिक वृत्ति से वह राम भक्तों को भी प्रिय हो गये हैं।

नवम स्कंध में रामकथा के इस वर्णन के अतिरिक्त सूरदास ने कृष्ण कथा के बीच में अनेक स्थान पर रामकथा के उल्लेख किये हैं। इनमें से अनेक पद तो ऐसे हैं जिनसे राम का महत्व और उनसे कृष्ण की एकता दर्शित होती है। सूर की दृष्टि में राम और कृष्ण एक ही हैं अतः वह स्थान स्थान पर कृष्ण को राम और राम को कृष्ण कहने लगते हैं[1]।

दूसरे प्रकार की वह पंक्तियाँ हैं जहाँ प्रसंग और स्थान के अनुसार रामकथा की विभिन्न घटनाओं के उल्लेखों हैं। इस प्रकार के अनेक उल्लेखों में सूर का एक प्रसंग हिन्दी साहित्य में बेजोड़ है। कृष्ण को सुनाने की चेष्टा में माँ यशोदा उनको अनेक कथानक सुनाती है। एक बार ऐसे ही अवसर पर वह उनको राम की कथा सुना रही है। कथा के बीच में जैसे ही सीता हरण का प्रसग आता है बालक कृष्ण चौंक पड़ते हैं और धनुष और लक्ष्मण की पुकार करने लगते हैं क्योंकि कृष्ण तो राम ही हैं उन्हीं की प्रिया सीता का अपहरण हुआ है। इसी प्रकार के अनेक सुन्दर माणिक्य स्थल स्थल पर सूर-सागर में बिखरे पड़े हैं।[2]

रामकथा के तीसरे प्रकार के उल्लेख वे हैं सूरदास ने अलंकारों के, विशेष रूप से उपमा के हेतु रामकथा की घटनाओं को आधार-स्वरूप ग्रहण किया है। यद्यपि सूरसागर में ऐसे स्थल बहुत कम हैं। संभवतः सूर कृष्ण के रूप और शृंगार वर्णन में इतने तल्लीन हो जाते थे कि उन्हें अन्य घटनाएँ विस्मरण हो जाती थीं। केवल

दो एक स्थानों पर ही सूरदास ने कृष्ण के प्रसंग में रामकथा के प्रसंगों का उल्लेख किया है जैसे नंदकृष्ण को मथुरा के लिये विदा करके लौटते हैं तो रिक्त हस्त एकाकी ही लौटते हैं। कृष्ण के जाने से माँ यशोदा का हृदय विदीर्ण हुआ जा रहा है। वह वेदना से आकुल होकर अपने स्वामी से कहती है कि जिस प्रकार राम के वियोग में दशरथ प्राण हीन हो गये थे उसी प्रकार कृष्ण के बिना तुम भी क्यों न हो गये। यशोदा को उस समय अपने वैधव्य का तनिक भी स्मरण नहीं है केवल कृष्ण का विरह ही उनके मन और मस्तिष्क को आच्छादित किये हुये है। सूर की इस प्रकार की उपमाओं से कृष्ण विरह जनित पीडा साकार होकर बोल उठी है।

सूरसागर की राम कथा संक्षिप्त है परन्तु उसके कतिपय स्थल अत्यंत हृदयस्पर्शी हैं। सीताहरण, जटायू, शबरी उद्धार और सीता के वियोग में राम के विलाप वर्णन ऐसे ही स्थान हैं। लक्ष्मण शक्ति पर राम का करुण क्रन्दन तो रामकथा का करुणातम स्थल ही है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य घटनाएँ भी हैं जो रामकथा के पाठक पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाती हैं। राम के आग्नेय बाण धारण करने पर ब्राह्मण वेष में समुद्र का अनुनय, मंदोदरी, विभीषण और कुंभकर्ण के समझाने पर भी रावण का उनका तिरस्कार और युद्ध के लिये तत्परता दर्शनीय है।

लक्ष्मण शक्ति का समाचार हनुमान भरत को सुनाते हैं। इस दुखद समाचार से जब समस्त पुरवासी ही विलख उठते हैं तो कौशल्या और सुमित्रा की क्या दशा होगी? कौशल्या को तो दुख के साथ अनुताप भी है—उनके पुत्र राम की सेवा में सुमित्रानंदन लक्ष्मण की प्राणहानि, परन्तु सुमित्रा का मातृत्व शतगुने वेग से जाग उठता है वह अपनी आदरणीय अग्रजा को इस अनुताप का भी अवसर नहीं देती, उलाहना देना तो दूर की बात है। वह इस कठोर अवसर पर कौशल्या कहती है कि यह दुख का अवसर नहीं है। लक्ष्मण को पाकर मेरा मातृत्व आज धन्य और सार्थक हो गया है। इधर कौशल्या हनुमान द्वारा राम के पास संदेश भेजती है—

नातरु सूर सुमित्रा सुत पर वारि अनुज की दीजै।

और इस गम्भीरतम् आघात को हृदय पर लिये हुये भी सहज भाव से अपना संदेश देती है। 'सूरदास प्रभु तुम्हारे दरस बिनु दुख समूह उर गाड़े'

सूरदास की इन दो महान नारी विभूतियों की ओर मस्तक स्वतः श्रद्धा से अवनत हो जाता है। स्नेह और आत्म सम्मान की ऐसी युगल जोड़ी और किस साहित्य में दृष्टिगोचर होती है?

सूरदास की इस प्रतिभा का दर्शन एक और स्थान पर भी होता है। राम, लक्ष्मण, और सीता वनवास की अवधि पूर्ण कर अयोध्या लौटते हैं। सर्व प्रथम वह भरत से भेंट करते हैं उसके बाद आरतियाँ सजाये हुये माँ कौशल्या और सुमित्रा के दर्शन करते हैं कैकेयी का यहाँ पूर्णतया अभाव है। हर्ष का सागर जहाँ उत्ताल तरंगें ले रहा हो, मणिशपात सी कैकेयी का प्रवेश वहां क्या सार्थक होता? राम के स्वागत करने पर भी उसके हृदय की ग्लानि तो लुप्त हो नहीं जाती इसलिये सूरदास ने उसका उल्लेख न करके अपनी महानता का परिचय तो दिया ही साथ ही एक नारी को इतने विशाल जन समुदाय के समक्ष आत्म तिरस्कार की भावना से भी बचा लिया है। कैकेयी का पश्चाताप भी इससे सहस्र गुना होकर मुखर हो उठा है।

सूरदास की राम कथा का अन्त भी बड़े नाटकीय ढंग से हुआ है। राम को राज्याधिकार मिल जाता है। वह सिंहासनासीन हैं, राज दरबार लगा हुआ है। असंख्य दास दासियों, शुभेच्छु सामंतों से दरबार भरा हुआ है। सभी प्रसन्न हैं

और सभी पर राजा राम की कृपा दृष्टि है परन्तु राम का यह अनन्य सेवक सूरदास अपनी विनय पत्रिका लिये हुये द्वार पर ही खड़ा हुआ है। उसे वहाँ कौन पूछता है। अन्त में साहस करके वह अपने नाम का रुक्का अपने प्रभु के पास भेज ही देता है।

सूरसागर गीतकाव्य है इसलिये राम कथा के भी समस्त पद गीतिशैली में लिखे गये हैं। मंगला चरण के अतिरिक्त इसके सभी पद गेय हैं। इसमें कथा का क्रम व्यवस्थित नहीं है परन्तु सूरदास को मार्मिक स्थलों की खूब परख है। वह भली भांति जानते हैं कि सर्वोत्कृष्ट वर्णनीय स्थल कौन कौन से हैं और उनमें कवि की पूर्ण अनुभूति का परिचय मिलता है। कवि ने अपनी दिव्य प्रतिभा से समस्त राम कथा को गीति काव्य का रूप देकर तुलसी जैसे काव्य प्रतिभा सम्पन्न कलाकार के लिये भी मार्ग प्रशस्त कर दिया है। सूरदास के गेय पदों में प्रसगानुसार अनेक शैलियों का व्यवहार हुआ है। यह पद अधिकांश सरल, आडम्बरहीन हैं पर तु विषय की महत्ता इनसे पूर्णतया व्यंजित होती है। उनकी भाषा शैली तत्सम और तद्भव शब्दावली से युक्त है। पदों में कथानक कम भावात्मकता और रसात्मकता ही अधिक है।

इन पदों की एक विशेषता यह भी है कि जहाँ सवाद आये हैं वहाँ वह तुलसी के कथोप कथनों से भी अधिक सुन्दर हुये हैं। यहाँ सूरदास तुलसी की अपेक्षा केशव के अधिक निकट हैं जैसे

रावण के कह दसरथ कौन तै 'बदर"

प्रश्न के प्रत्युत्तर में अंगद कहता है मैं रघुबीर दूत दसकंधर" और रावण जब पूछता है 'कोहि के बल घालेसि बन खीसा" तो हनुमान प्रत्युत्तर देते हैं—

सुन रावन ब्रह्माण्ड निकाया,
पाइ जासु बल बिरचित माया।
जाके बल बिरंचि हरि ईसा,
पालत सृजत हरत दस सीसा।
तासु दूत मैं जाकरि,
हरि आनेहु प्रिय नारि।

जो प्रभाव और आतंक इन शब्दों का है वह अंगद के सीधे उत्तर 'मैं दूत हूँ" का नहीं हो सकता था[1]।

राम सम्बन्धी पदों की रचना करने में सूरदास का उद्देश्य कृष्ण के ही पूर्व स्वरूप राम की गाथा भर कहने का था, जनता में राम के अवतार का प्रचार करना नहीं, अत उन्होंने राम कथा को सहज स्वाभाविक ढंग से लिखा है। स्थान स्थान पर विश्राम करते हुये तुलसी के समान अनेक अलौकिक रूप का बारम्बार स्मरण नहीं कराया है। इस दृष्टि से सूर की राम कथा तुलसी की अपेक्षा अधिक सरल और प्रभाव पूर्ण है।

सूरदास तुलसी के समकालीन कवि होते हुये भी उनके पूर्ववर्ती थे। उनके सूरसागर की रचना तुलसी के मानस के पहले हुई थी इसलिये जहाँ इन दोनों कवियों में भावापहरण के उदाहरण मिलते हैं उनके लिये निर्विवाद कहा जा सकता है कि तुलसी ने ही सूर के भावों का छायानुकरण किया है। अपनी राम कथा में भी सूरदास ने इसी कारण तुलसी के मानस से भाव अथवा भाषा का कोई ग्रहण नहीं लिया है। कथा के परिवर्तन या तो मौलिक हैं या फिर भागवत पर आधृत हैं। इसीलिये सूर की राम कथा में तुलसी से अनेक मौलिक भेद मिलते हैं और जहाँ समानताएँ हैं वहाँ तुलसी सूर के अनुगामी हैं।

इस प्रकार सूर सागर की राम कथा अथवा राम सम्बन्धी समस्त उल्लेख यद्यपि व्यापकता की दृष्टि से मानस की समता नहीं कर सकते परन्तु राम साहित्य में उनका एक विशिष्ट स्थान है और वह उसकी एक अत्यन्त आवश्यक शृंखला है जिसके बिना राम साहित्य का भवन यदि गिरने नहीं तो कम से कम लड़खड़ाने तो अवश्य हो लगता है।

(१) सूर पंचरत्न भूमिका पृष्ठ ४३

औपन्यासिक रचनातंत्र और प्रेमचंद

(प्रो० महेन्द्र भटनागर एम० ए०)

उपन्यास का उद्गम स्थान अति प्राचीन काल से चली आई हुई कथा कहानियाँ हैं। मनुष्य में यह एक आदिम प्रवृत्ति रही है कि वह सत्य अथवा काल्पनिक कथाओं को सुनने अथवा सुनाने में मनोरंजन अनुभव करता है। ये कथा कहानियाँ उसकी कुतूहल वृत्ति को शांत करती हैं। कहना न होगा कि कथा कहानियों का इतिहास उतना ही पुराना है जितना कि स्वयं मनुष्य समुदाय। जैसे जैसे मनुष्य की सामाजिक अवस्था में विकास होता गया वैसे वैसे इन कथा कहानियों के ढंग में भी परिवर्तन होते गए। कुतूहल वृत्ति की मात्रा आदिम मनुष्य में अधिक थी और फिर धीरे धीरे यह कम होती गई। आज का मनुष्य उन 'दैविक अथवा प्रकृति सम्बन्धी बातों से स्तम्भित नहीं होता जो कि किसी दिन आदिम मनुष्य को कुतूहल में डाल देती थीं। कहने का अभिप्राय यह है कि वर्तमान युग में बौद्धिकता ने मनुष्य की कुतूहल वृत्ति को कम कर दिया है; अत आज वे ही कथा कहानियाँ समाज में प्रचलित हो सकती हैं जिनके पीछे बौद्धिक धरातल है। उपन्यास वर्तमान समय में मनुष्य की इसी बौद्धिक क्षुधा को तृप्त करता है। वह मनुष्य के विकास के साथ साथ विकसित होने वाली कथा कहानी की परम्परा का एक सुगठित रूप है। उपन्यास के शरीर विज्ञान पर विचार व्यक्त करते हुए श्री गुलाबराय एम० ए० लिखते हैं।

"उपन्यास में कुतूहल के साथ साथ बुद्धि तत्व और भाव तत्व भी रहता है। उसमें जीवन की ही प्रतिच्छाया नहीं रहती वरन् उसकी व्याख्या भी रहती है।"[1]

अति प्राचीन काल से चली आई हुई कथा कहानियों का उपन्यास से सम्बन्ध केवल कथानक के मौलिक रूप (Raw state) से है, उपन्यास के रचनातन्त्र (Technique) अथवा उपन्यास के वस्तु विन्यास से नहीं। रचनातन्त्र के दृष्टिकोण से उपन्यास का प्राचीन कथा और आख्यायिकाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। उपन्यास साहित्य के अन्य रूपों की तरह नवीन युग की देन है। 'उपन्यास' शब्द संस्कृत का है। (उप = निकट, न्यास = रखना)। लेकिन संस्कृत वाङ्मय में "उपन्यास" शब्द वर्तमान अर्थ में कभी प्रयुक्त नहीं हुआ, और न आज के युग में उपन्यास कहलाने वाली रचना का ही कोई रूप संस्कृत में मिलता है।

प्रेमचंद आधुनिक कहानी की उत्पत्ति के संबंध में लिखते समय यही बात कहते हैं —

"हमें यह स्वीकार कर लेने में संकोच न होना चाहिये कि उपन्यासों ही की तरह आख्यायिका की कला भी हमने पश्चिम से ली है, कमसे कम इसका आज का विकसित रूप पश्चिम का है ही।"[2]

उपन्यास मानव जीवन के कलात्मक चित्रण का नाम है। मनुष्य में मानव रागों से अथवा मनोवेगों के प्रति एक स्वाभाविक रुचि होती है। *जब तक उसमें मानवी जीवन के प्रति यह रुचि* बनी रहेगी। तब तक उपन्यास की सत्ता अमिट है। विलियम हेनरी हडसन कहते हैं —

१—साहित्य संदेश (उपन्यास अंक) अक्टूबर नवम्बर १९४०, पृष्ठ ४७।

२—कुछ विचार (पृ० २८)

"मनुष्य में एक मानवी भावो और क्रियाओ की विशाल चित्रावली में स्त्रियों और पुरुषों की सार्वकालिक और सार्वदेशिक रुचि ही उपन्यास के अस्तित्व का कारण है।"[1]

उपन्यास सम्पूर्ण जीवन का चित्र है। उसका विस्तार जीवन की तरह ही बडा व्यापक है। उपन्यासकार जीवन की एक विशाल पृष्ठभूमि में दिखलाने की चेष्टा करता है। जे० बी- प्रीस्टल क मत से :

"यह (उपन्यास) जीवन का विशाल दर्पण है और इसका विस्तार साहित्य के किसी भी रूप से बहुत बड़ा है।"[2]

प्रेमचद उपन्यास से इसी विषय विस्तार के सबध मे 'उपन्यास का विषय' शीर्षक लेख मे एक स्थल पर लिखते है

"अगर आपको इतिहास से प्रेम है तो आप अपने उपन्यास मे गहरे से गहरे ऐतिहासिक तत्वो का निरूपण कर सकते है अगर आपको दर्शन से रुचि है, तो आप उपन्यास में महान् दार्शनिक तत्वों का विवेचन कर सकते है। अगर आप में कवित्व शक्ति है तो उपन्यास मे उसके लिये भी काफी गुजायश है। समाज, नीति, विज्ञान, पुरातत्व आदि सभी विषयों के लिये उपन्यास में स्थान है।"[3]

यही कारण है कि उपन्यासों का महत्त्व दिन पर दिन बढता जाता है। आधुनिक जटिल ससार की अभिव्यक्ति उपन्यास मे ही अधिक सुगमता से सभव है।

औपन्यासिक रचनातत्र के अन्तर्गत निम्न लिखित तत्वों का समावेश किया जाता है

(१) वस्तु, और वस्तु विन्यास।
(२) पात्र और चरित्र चित्रण।
(३) सवाद।
(४) देश काल।
(५) भाषा शैली, और
(६) दृष्टिकोण।

उपर्युक्त तत्व लगभग प्रत्येक उपन्यास मे मिलेंगे। यह अवश्य है कि किसी किसी उपन्यास मे कोई तत्व प्रधान होता है तो किसी किसी मे अन्य। इन तत्वो की पृथक पृथक प्रधानता या अप्रधानता के अनुसार ही उपन्यास के प्रकारों का विभाजन किया जाता है। लेकिन उपन्यास के शरीर के गठन के लिए उपरिलिखित तत्वों का समावेश आवश्यक होता है, जो जाने अनजाने उपन्यास मे स्थान पा ही लेते है। सक्षेप मे इन तत्वो की व्याख्या इस प्रकार है

(१) वस्तु और वस्तु विन्यास

उपन्यास मे कथावस्तु एक आवश्यक तत्व है। वस्तु से अभिप्राय उन उपादानो (raw materials) से है, जिन पर उपन्यास का ढाचा खडा किया जाता है। कुछ विचारक वस्तु को वस्तु विन्यास से अधिक महत्त्व देते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है

"कोई भी वस्तु सबसे पहले अपने उपादानों से ही जाँची जानी चाहिये। यदि वह जिन उपादानों से बनी है वे उपादान अच्छी जाति के हैं तो वस्तु अपनी रचना की दृष्टि के बिना भी काम की है।"

लेकिन उपादानों का ही सुन्दर होना सब कुछ नहीं है। उपादानों के प्रस्तुत करने की कला भी कोई कम महत्वपूर्ण नहीं। कभी कभी असुन्दर उपादानों को इतने सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया जाता है कि उनकी कुरूपता दब जाती है। अतः वस्तु विन्यास एक कला है जो कुशल कलाकार की अपेक्षा रखती है। उपर्युक्त उल्लेख का उद्देश्य अच्छे उपादानों के महत्व को कम करना नहीं है। निःसन्देह प्राथमिकता उपादानों को ही देनी चाहिये। कला और उपादान के संबंध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी अपने 'उपन्यास' शीर्षक लेख में आगे लिखते हैं —

"कला हो या न हो, उपादान अगर अच्छा है तो हम कुछ न कुछ पा जाते हैं। अच्छे उपादान के साथ अच्छी कला हो तब तो कुछ पूछना ही नहीं है।"

औपन्यासिक वस्तु का संचयन विभिन्न घटनाओं के क्रमिक विकास पर आधारित है। मुख्य बात सामग्री चुनने की आती है। उपन्यासकार समग्र जीवन की घटनाओं का वर्णन नहीं कर सकता। उसे सम्पूर्ण जीवन में से केवल कुछ महत्वपूर्ण घटनाओं का ही संग्रह करना होगा अन्यथा उसकी रचना बड़ी विस्तृत व बोझिल हो जाएगी। जीवन में सभी आकर्षक नहीं है। इसके अतिरिक्त मनुष्य का जीवन बड़ा अल्पायु है। उपन्यासकार पूरे जीवन चरित्र को समेट कर न तो लिखने का अवकाश ही पा सकता है और न उसे पढ़ने के लिये पाठक से अपेक्षा ही की जा सकती है। विषय सामग्री के चुनाव के संबंध में बाबू गुलाबराय लिखते हैं —

"नहीं तो बारह वर्ष की व्यापक कथावस्तु के पढ़ने में बारह ही वर्ष लगें। उसमें आवश्यक अनावश्यक की छाँट काट करनी पड़ती है। उपन्यास के कथानक में तो फल की ओर अग्रसर होने वाली या पाठकों के हृदय में विशेष चमत्कार ही आती है। वे चाहे परस्पर सम्बद्ध न भी हों किन्तु उनके लिए परस्पर संगत होना अत्यन्त आवश्यक है।"

अतः उपन्यासकार के लिए यह आवश्यक है कि वह जीवन की केवल उन्हीं अनुभूतियों का संचय करे जो उसके मन्तव्य के लिए सहायक हों और अन्य बातों को छोड़ दे तभी वह पाठकों के मन को अपनी कृति की ओर आकर्षित कर सकेगा।

समय का बंधन और आकर्षक घटनाओं के चुनाव के अतिरिक्त प्रेमचंद ने इस संबंध में पाठक की कल्पना को भी बड़ा महत्व दिया है। अपने 'उपन्यास' शीर्षक लेख में उनके विचार इस प्रकार हैं —

'उपन्यास कला में यह बात भी बड़े महत्व की है कि लेखक क्या लिखे और क्या छोड़ दे। पाठक कल्पनाशील होता है इसलिए ऐसी बात पढ़ना पसन्द नहीं करता जिसकी वह आसानी से कल्पना कर सकता है। वह यह नहीं चाहता कि लेखक सब कुछ खुद कह डाले और पाठक की कल्पना के लिए कुछ भी बाकी न छोड़े। वह कहानी का खाका मात्र चाहता है रंग वह अपनी अभिरुचि के अनुसार भर लेता है। कुशल लेखक वही है जो यह अनुमान कर ले कि कौनसी बात पाठक स्वयं सोच लेगा और कौनसी बात उसे

लिखकर स्पष्ट कर देनी चाहिए। कहानी या उपन्यास में पाठक की कल्पना के लिए जितनी अधिक सामग्री हो उतनी ही वह कहानी रोचक होगी।"[1]

उपन्यासकार अपने उपन्यास की कथा एक निश्चित योजनानुसार लिखता है। उसकी कथा जीवन से सम्बन्धित रहती है। जीवन से सम्बन्ध रखने के कारण कुछ आलोचक कथा की इस पूर्व योजना को उचित नहीं समझते, क्योंकि जीवन किसी बंधी हुई योजना के अनुसार आगे नहीं बढ़ता। इसी कारण अत्याधुनिक अतियथार्थवादी उपन्यासों में कथा वस्तु का महत्व काफी कम हो गया है। कार्ल एच० ग्रेबो कथा वस्तु के महत्व के घट जाने के सम्बन्ध में प्रकाश डालते हुए लिखते हैं —

अनेक कारणों से आधुनिक उपन्यास ने कथा वस्तु के महत्व को कम कर दिया है। एक ओर तो वह यथार्थ की ओर अग्रसर होता है और कथानक के विस्तार को अनुभव के प्रतिकूल समझता है तो दूसरी ओर चरित्र अथवा स्वभाव पर बल देकर और व्यक्तित्व एवं वैयक्तिक विशेषताओं पर विश्वास रखके उसने वस्तु रचना के कष्टदायी व्यापार को दूर कर दिया है।'[2]

जो हो इसमें संदेह नहीं, वस्तु उपन्यास के शरीर निर्माण में महत्वपूर्ण कार्य करती है। जीवन की विशृंखलता बढ़ जाने के कारण वस्तु की एक निश्चित योजना में अंतर आ सकता है, पर, उसकी सत्ता को हटाया नहीं जा सकता।

कथावस्तु का वास्तविक जीवन से सम्बन्ध होना अनिवार्य है। उसमें कृत्रिमता नहीं होनी चाहिए। कथा की घटनाएं एवं उनका विकास इस प्रकार हो कि पढ़ने वाले को अयथार्थ प्रतीत न हों, अन्यथा उपन्यास लक्ष्य भ्रष्ट हो जाएगा। हडसन के शब्दों में —

'उसे (कथावस्तु को) स्वाभाविक रीति से निर्मित होना चाहिए और वह प्रत्येक कृत्रिमता से मुक्त हो। और उसे विकसित करने के साधन इतने विश्वसनीय हों कि हम उन्हें उन परिस्थितियों में मन से स्वीकार कर सकें।'[3]

लेकिन यह सब होते हुए भी उपन्यास की कथा नितान्त वास्तविक भी नहीं हो सकती। उपन्यासकार बहुत सी बातें अपनी ओर से भी जोड़ता है और उसे जोड़नी चाहिए पर, वे इस प्रकार हों कि समझदार पाठक को अस्वाभाविक न लगें। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो उपन्यास जीवन चरित्र (Biography) बन जाएगा। उपन्यास में कल्पना और सत्य का एक संतुलित सामञ्जस्य होना चाहिए। यह निर्विवाद है कि उपन्यास सत्य के अधिक निकट हो और कल्पना

भी ऐसी हो कि पाठक उसकी वास्तविकता में जरा भी संदेह न कर सके। प्रेमचन्द औपन्यासिक वस्तु में कल्पना और सत्य के समावेश के संबंध में लिखते हैं :—

"उसका आशय यह है कि भविष्य में उपन्यास में कल्पना कम, सत्य अधिक होगा ; हमारे चरित्र कल्पित न होंगे, बल्कि व्यक्तियों के जीवन पर आधारित होंगे। किसी हद तक तो अब भी ऐसा होता है। पर बहुधा हम परिस्थितियों का ऐसा क्रम बांधते हैं कि अंत स्वाभाविक होने पर भी वह होता है जो हम चाहते हैं। हम स्वाभाविकता का स्वांग जितनी खूबसूरती से भर सकें, उतने ही सफल होते हैं।"[1]

प्रेमचन्द इसके आगे औपन्यासिक वस्तु के भविष्य के सम्बन्ध में लिखते हैं :—

"लेकिन भविष्य में पाठक इस स्वांग से संतुष्ट न होगा। यों कहना चाहिए कि भावी उपन्यास जीवन चरित्र होगा, चाहे किसी बड़े आदमी का या छोटे आदमी का उसकी छुटाई बड़ाई का फैसला उन कठिनाइयों से किया जाएगा कि जिन पर उसने विजय पाई है। हां, वह चरित्र इस ढंग से लिखा जाएगा कि उपन्यास मालूम हो।"[2]

जीवन चरित्रात्मक उपन्यास लिखे जा सकते हैं, पर उस दशा में उनका क्षेत्र सीमित हो जाएगा; दूसरे जैसे प्रेमचन्द स्वयं कहते हैं :—

"तब यह काम उससे कठिन होगा जितना अब है, क्योंकि ऐसे बहुत कम लोग हैं, जिन्हें बहुत से मनुष्यों को भीतर से जानने का गौरव प्राप्त है।"[3]

ग्रेबो औपन्यासिक वस्तु में जीवन का चित्रण स्वाभाविक अथवा वास्तविक और प्रतीकात्मक रूप के समानान्तर करते हैं :—

"उपन्यासों में जो जीवन चित्रित होता है वह चाहें कितने भी महत्व का हो, कभी भी ज्यों का त्यों घटना, चरित्र एवं भाषण का लिपिबद्ध प्रतिरूप नहीं हो सकता। उसमें वास्तविकता से बहुत कुछ निकट की समानता मिलती है ; यद्यपि विभेद की मात्रा भी स्पष्टतया अधिक होती है। प्रत्येक उपन्यास जीवन का शाब्दिक चित्र न होकर उसका प्रतीक होता है। और उपन्यास का क्षेत्र एक ओर परियों की कथा, रोमांचकारी कहानियों अथवा दृष्टांत रूपकों से लेकर दूसरी ओर अत्यधिक नीरस यथार्थ चित्रण तक फैला हुआ है।"[4]

वस्तु की शरीर रचना में इस बात पर भी पर्याप्त ध्यान रखा जाए कि उसमें दैनिक एवं असाधारण व्यापारों का अनावश्यक अथवा अनुपयुक्त स्थलों का समावेश न हो। यह माना कि जीवन में अनेक घटनाएँ आकस्मिक रूप से घटित होती हैं, किन्तु मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि आकस्मिक घटनाएँ उपन्यास में आए ही नहीं

१—कुछ विचार. पृष्ठ ५६।
२—कुछ विचार — पृष्ठ ५६
३—कुछ विचार — पृष्ठ ५६
4—"Life as depicted in the novel can never, however great the effort, be wholly actual, wholly a literal transcript of incident, character and speech. It is a more or less close analogy to the actual, though the range of divergence therefrom is obviously great. Every novel is symbolic of life rather than literary descriptive of it, and the scale of fiction is as wide as from the fairy tab, the romance of the allegory at one extreme to the most prosaic naturalism at the other."
—The Technicuq of the Novel Garl H. Garbo, Page 163.

वरन यह कि अमुक आकस्मिक घटना का समावेश जिस स्थल पर किया गया है वहाँ कथा को इच्छानुसार मोडने का इरादा तो नहीं है ? आकस्मिक मृत्यु, स्वप्न, भविष्यवाणी आदि का उपन्यास की वस्तु मे समावेश एक दक्ष लेखक की अपेक्षा रखता है। उपन्यास मे इस तरह के व्यापारों को कम से कम आना चाहिये। श्रेष्ठतम उपन्यासों मे भी कहीं कहीं आकस्मिक घटनाएँ मिलती है पर उनको इस सुन्दर ढग से रखा जाता है कि कट्टर से कट्टर बुद्धिवादी तक उन्हें अस्वाभाविक नहीं समझता, क्योंकि वे जीवन के अधिक निकट होती है। हम उन्हें *चारों ओर, और कभी कभी तो स्वय के* जीवन मे भी अनुभव करते है। हाँ असाधारण व्यापारों को उपन्यास मे कोई स्थान नहीं दिया जा सकता। इस सम्बन्ध मे एलफ्रेड ने बडी अच्छी बात कही है —

"एक बार कुछ प्रारम्भिक बातें मान लेने पर आगे जो कुछ घटित हो वह इस प्रकार हो कि समझदार पाठक की बुद्धि की सम्भावना के प्रतिकूल न पडे। स्पष्ट रूप से ऐसे मामलों मे सत्य कथा से विचित्र होता है। जीवन दुर्घटनाओं और आश्चर्यजनक व्यापारों से भरा हुआ है जिसका उपन्यासों मे समावेश करने पर सत्य के आकांक्षी हठी पाठकों की ओर से विरोध का तूफान खडा हो जाता है। अच्छे उपन्यास काव्योचित सत्य या उच्चतर सम्भावनाओं की दुनियाँ मे विचरते है, जो एक सुव्यवस्थित प्रदेश है जहाँ घटनाओं का आभास उनके होने से पहले *ही हो जाता है, जहाँ स्त्री और पुरुष जैसी* उनसे अपेक्षा की जाती है उसी प्रकार क्रिया कलाप करते हैं और फिर भी उनमे भाग्य सम्बन्धी, असाधारण और अतिशय का स्वागत किया जाता है, जहाँ तक वह पूर्व स्वीकृत कार्य क्रम के अनुसार होते है।"[1] (क्रमश)

—०.०—

'कामायनी' में कला-तत्व

[श्री सियारामशरण प्रसाद एम० ए०, साहित्यरत्न]

'कामायनी' आधुनिक युग की सर्वश्रेष्ठ रचना है। इलाचन्द जोशी के शब्दों में "यह पुस्तक विश्व-काव्य है। इसमें एक केन्द्रगत मूल विषय पर लिखे जाने के साथ ही इस विराट् विश्व के अन्तरतम प्रदेश में निहित चिन्तन-रहस्य की झाँकी है। इसमें नाटकीय तत्व भी है।"

उक्त रचना का दार्शनिक तथा भाव-पक्ष जितना सबल और सशक्त है, कला तत्व भी उतना भी प्रशंसनीय और उत्कृष्ट है। यदि किसी कृति का केवल भाव पक्ष और दार्शनिक-पक्ष ही महत्वपूर्ण रहे और उसमें कला-पक्ष का अभाव हो तो उत्कृष्ट और प्रभावपूर्ण विचार-सूत्रों को पिरोकर भी वह श्रेष्ठ कला-कृति नहीं मानी जायगी। 'कामायनी' की सृष्टि शुष्क शैव-दर्शन के आनन्दवाद की प्रशंसा एवं प्रशस्ति के लिये नहीं प्रत्युत कला के माध्यम से सरसता का संचार करते हुए 'कान्ता सम्मित' उपदेश देना है। नन्द दुलारे वाजपेयी ने ठीक ही कहा है, 'उसमें (कामायनी) में एक दार्शनिक अन्तर्धारा मिलती है, परन्तु वह काव्य की स्वाभाविक भाव-व्यंजना से अभिन्न और तद्रूप होकर आयी है।' यही मूल प्रवृत्ति है जो किसी दर्शन शास्त्र और साहित्य के बीच रेखा खींचने में समर्थ होती है। यही आधारभूत तत्व है जिससे पुराण आदि दर्शन शास्त्र ही रहे और 'रामचरित मानस' कला सृष्टि। परन्तु पाठक स्मरण रखें कि कलाकृति के पीछे भी सुस्पष्ट और स्वस्थ विचार रहता है, एक सुदृढ़ संदेश रहता है, परन्तु रससिक्त। रसपूर्ण विचार ऐसे मादक और सरस विचार होते हैं जिन्हें नैसर्गिक ढंग से हृदयंगम किया जा सकता है। रूक्ष और शुष्क ज्ञान कडुआ पेय है जिसे सभी सरलता से पान नहीं कर सकते। ऋग्वेद, शतपथ पुराण आदि से मनु की कथा-सूत्र लेकर बड़े ही सुन्दर और रोचक ढंग से कामायनी में अभिव्यक्त किया गया है। महाकवि गेटे (Goethe) के विश्व प्रख्यात रूपकात्मक नाट्य 'फौस्ट' में भी कुछ इसी प्रकार का चित्रण मिलता है। फौस्ट भी मनु की तरह महान् (Egoist) था। परन्तु फॉस्ट मनुष्य था और 'कामायनी' के नायक मनु देवता के अवशिष्टा टेनिसन (Tennyson) के युलिसेज (Ulysses) में भी ज्वालामुखी अतृप्त अभिलाषा (ungratified aspiration) का बड़ा सजीव चित्रण है। मिल्टन (Milton) ने भी 'Paradise Lost' में आदम और हौवा के लालसासक्ति जनित पतन से सारे मानव समाज पर जो अभिशाप आरोपित कराया है उसका भी कारण आदि-मानव प्रकृति की मोहान्धता है। 'कामायनी' को महाकाव्य की संज्ञा से अभिहित करते हैं तो महाकाव्य के अनिवार्य कला-तत्वों पर दृष्टिपात करना हमारा नितान्त आवश्यक आलोच्य कर्म होगा। हमें स्मरण रहे कि तीव्रानुभूति, मार्मिक व्यंजना रस परिपाक की दृष्टि से 'कामायनी' सुन्दर है ही। प्रो० रामलाल सिंह, एम० ए० और डॉ० शम्भुनाथ पाण्डेय आदि का कथन भी हमारे विचार की पुष्टि करता है। प्रस्तुत लेख में हम (क) प्रकृति चित्रण (Nature portraiture), (ख), (Beauty-portraiture रूप वर्णन (ग) (Psychological-portraiture) सूक्ष्म मनोभावों का चित्रण (घ) (Lyrical element) संगीतात्मकता (ङ) (Diction) भाषा-शैली आदि पक्षों पर समुचित दृष्टिपात करेंगे।

हम जानते हैं कि छायावादियों ने प्रकृति की

रम्य भूमियों में विचरण कर प्रकृति से गहरा सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। अतः जयशङ्कर प्रसादजी ने आलोच्य कृति में प्रकृति के विभिन्न रूपों का बड़ा ही मधुर एवं मनोमुग्धकारी तथा सजीव चित्र प्रस्तुत किया है। महाकाव्य की परिभाषा देते हुए विश्वनाथ ने लिखा है :—

> सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
> सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः।
> एक वंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा।
> शृंगारवीर शान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते॥

आदि महाकाव्य सर्गबद्ध हो, उसका नायक उच्च कुल का हो, मुख्य रस शृंगार, वीर या शान्त हो, आरम्भ में नमस्कार आशीर्वचन हो, इसमें सन्धियाँ हों, प्रकृति के विविध चित्र हों आदि।

यह पूर्ण सत्य है कि महाकाव्य परिभाषा का अनुसरण नहीं करते परन्तु परिभाषा ही महाकाव्यों का अनुसरण करती है। अतः सभी महाकाव्यों में परिभाषानुसार सभी लक्षण शायद ही मिलें। परदेश और आरेस्टल का प्रभाव साहित्य पर पड़ता है जिससे काव्य में महत्वपूर्ण परिवर्तन दीखते रहते हैं। 'कामायनी' के लिये भी उपर्युक्त कथन सत्य ही है फिर भी इसमें प्रकृति के विविध रूपों का बड़ा सजीव चित्र अंकित है। देखिए, चिंता सर्ग के आरम्भ में ही प्रलय के उपरान्त का कैसा मार्मिक चित्र है—

और आगे—

> विकल रही थी मर्म-वेदना, करुण विकल कहानी-सी।
> वहाँ अकेली पृथ्वी सुन रही हँसती-सी पहचानी-सी॥

निःसन्देह यह बड़ी ही सुन्दर और मार्मिक व्यंजना है। यहीं पर हमें देवराज की आलोचना स्मरण हो आती है। देवराज जी दर्शन के विद्वान हैं। उन्होंने 'कहानी' और 'मर्मवेदना' का एक साथ प्रयोग अनुचित ठहराया है। मैं सोचता हूँ कि उन्होंने दोनों शब्दों के दार्शनिक पहलू पर सोचा है परन्तु सर्व साधारण में प्रचलित और चेतना की दृष्टि से नहीं।

प्रलयकाल का चित्र देखें जब भयानक झंझावात शिव का ताण्डव नृत्य उपस्थित कर देता है।

> लहरें व्योम चूमती उठतीं; चपलाएँ असंख्य नाचतीं,
> गरल जलद की खड़ी झड़ी में, बूँदें निज संसृति रचतीं।
> चपलाएँ उस जलधि, विश्व में, स्वयं चमत्कृत होती थीं,
> ज्यों विराट् बाड़व ज्वालायें, खंड-खंड हो रोती थीं।
> जलनिधि के तलवासी जलचर, विकल निकलते उतराते,
> हुआ विलोड़ित गृह, तब प्राणी कौन ' कहाँ कब ' पाते।
> उस विराट् आलोड़न में, तारा बुद-बुद से लगते।
> प्रखर प्रलय पावन न जगमग, ज्योतिरंगों में जगते।

प्रसाद ने 'कामायनी' में उषाकाल का भी बड़ा भव्य और आकर्षक चित्र निम्न पंक्तियों में उत्तरित कर दिया है।

रामकुमार वर्मा, जानकी वल्लभ शास्त्री सभी भाषा के धनी और कोमल कान्त शब्दों के प्रयोग में निश्चय ही अद्वितीय हैं। उदाहरण के लिये 'कामायनी' के कोई भी स्थल को प्रस्तुत किया जा सकता है। कठिन कल्पना और गूढ़ व्यंजना होने पर भी पढ़ने को जी चाहता है यह तो पूर्ण सत्य है कि प्रसाद जी के गद्य और पद्य सभी में संस्कृत गर्भित अंश मिल ही जाते हैं। तथापि 'कामायनी' में भी लिंग दोष मिलते हैं जो कवि ने स्वेच्छा से भावानुकूल कर दिया है। गूढ़ता और क्लिष्टता के लिये छायावाद बदनाम है। कामायनी पर भी यह दोष है। डा० देवराज ने तो इस दोष के कारण उक्त रचना पर अत्यधिक आक्षेप किया है। ऐसे लोगों का ही उत्तर देते हुए प्रसाद जी ने 'इन्द्र' में लिखा था— 'यह कहें तो अनुचित न होगा कि सौन्दर्य सदैव एक रहस्य है अतएव जहाँ जितनी ही सुन्दरता होगी वहाँ उतनी ही अस्पष्टता भी होगी। सौन्दर्य की भाषा में जो अस्पष्टता, संकोच और लज्जा की सहेली है, वही साहित्य के प्रगति विधान में प्रतियोगिता की चिन्ह है। परिवर्तन की इस अवस्था पर रोने वाले रोएँ, पर रोने को नहीं, मुस्काने की चीज है।''

कला पक्ष के नाना तत्वों पर विचार करने से यह सिद्ध होता है कि जिस प्रकार यह काव्य उत्तुंग विचार एवं उद्देश्य से अनुप्राणित है उसी प्रकार कला पक्ष की दृष्टि से भी सशक्त एवं सफल है। अंग्रेजी *साहित्य में महाकाव्य Epic) के लिए* शैली की शालीनता को अनिवार्य तत्व ठहराया है। महाकाव्य के अनेक तत्वों की पूर्णता के कारण ही अनेक विद्वान आलोचकों ने इसे महत्वपूर्ण महाकाव्य घोषित किया है। 'सुमन' जी ने स्पष्ट कहा है—'इसमें विविधता है पर उस विविधता में भी एकता है। इसमें भाषा गांभीर्य, शैली का परिमार्जन, छन्दों की विविधता अलंकारों का सुन्दर प्रयोग और रस एवं ध्वनि की सुन्दर पुष्टि तथा अभिव्यक्ति है। काव्य की आत्मा तेज इसमें है, वरन् काव्य शरीर का ओज, सौष्ठव एवं सौन्दर्य भी वर्तमान है।'' डा० देवराज ने कहा है—''इसमें बहुत सी पंक्तियाँ कमजोर और शिथिल हैं।'' कमजोरी और शिथिलता प्रतीत होना बहुत कुछ अपने मानसिक विकास तथा पसंद पर निर्भर करता है। प्रस्तुत स्थल पर मैं इतना दृढ़ता पूर्वक कह सकता हूँ कि संसार में अभी तक ऐसा महाकाव्य नहीं आया जो सर्वांश में सशक्त और सुन्दर हो। और कुछ असफल पंक्तियों को लेकर निश्चित निष्कर्ष देना उपयुक्त भी नहीं। राष्ट्रकवि दिनकर ने 'रश्मि रथी' की भूमिका में सत्य ही कहा है

''मगर कथा काव्य का आनन्द खेतों में देशी पद्धति से जई उपजाने के आनन्द के समान है, यानी इस पद्धति से जई के दाने तो मिलते ही हैं कुछ घास और भूसा भी हाथ आता है कुछ लहलहाती हुई हरियाली देखने का भी सुख प्राप्त होता है और हल चलाने में जो मेहनत पड़ती है, उससे कुछ तन्दुरुस्ती भी बनती है।' डा० देवराज ने 'छायावाद का पतन' और 'साहित्य चिन्ता' दोनों में 'कामायनी' के दोषों पर विचार किया है परन्तु सहानुभूति परक ढंग से नहीं न्यायी और सहिष्णुता बनकर नहीं।

परमात्मा जीवात्मा और प्रकृति के संबंध में 'महादेवी' वर्मा का मत

[प्रो॰ योगेन्द्रमोहन गुप्त, एम. ए., साहित्यरत्न]

'वर्तमान काल की मीरा' के नाम से प्रख्यात सुश्री महादेवी वर्मा हिन्दी में रहस्यवाद की प्रमुख कवियित्री हैं। आपमें और मीरा में अन्तर केवल इतना ही है कि मीरा सगुण साकार प्रियतम से मिलने के लिए लालायित थीं और आप निर्गुण ब्रह्म से। अन्यथा "हे री ! मैं तो प्रेम दीवानी ! मेरो दरद न जान कोय।" ही दोनों के विचारों का सार है।

कवियित्री के जीवन के निजी अनुभवों के कारण हो, या प्राकृत अनुभूतियों के कारण, महादेवी वर्मा के भाव वेदनामय हो चुके हैं। कवि जीवन के आरम्भ से ही वह परम-सत्ता सच्चिदानन्द परमात्मा में लीन होने को लालायित रही हैं, परन्तु कवियित्री का परमात्मा निर्गुण और निराकार होता हुआ भी संसार के *अणु-अणु में* व्याप्त है और प्रकृति के प्रच्छन्न रूप में वह कई बार अपने प्रियतम से साक्षात् भी कर चुकी है। यह जीवन समुद्र में एक बूंद के समान क्षुद्र और महत्त्वहीन है और अन्त में उसी परमानन्द रूपी समुद्र में विलीन हो जाना ही इसका परम ध्येय है, परन्तु जीवन की वास्तविक सार्थकता तो इसी में है कि जीते-जी इसी, रूप में, इस आत्मा के रहते हुए ही उस परमात्मा को प्राप्त कर लिया जाए और इसी में उसकी अनुभूति हो। कभी कभी कवियित्री सचमुच यही अनुभव करने लगती हैं और तब मुक्त कण्ठ से गा उठती हैं—

> 'बीन भी हूँ मैं तुम्हारी,
> रागिनी भी हूँ।"

परम-सत्ता की वीणा और उसका राग, नदी का किनारा और नदी में बह रहे जल की धारा वह स्वयं बन जाती हैं और यही है रहस्यवाद का परमोत्कर्ष, रहस्यवाद का परमोत्कर्ष रहस्यवाद की चरम-सीमा इस अवस्था में पहुँच कर कवियित्री अपने में परमात्मा का और परमात्मा में अपना प्रतिबिम्ब देखने लगती हैं। जीवात्मा और परमात्मा एक हो जाते हैं उस अवस्था में होकर और उसी अवस्था का वर्णन करती हुई कवियित्री कह उठती है—

> "फूल भी हूँ, फूल हीन,
> प्रवासिनी भी हूँ।"

परन्तु प्रियतम से मिलाप सदा तो रहता नहीं। कभी रात के अन्धेरे में आकर वह मिल जाता है और दिन होने पर फिर वही एकाकीपन, कभी तारों में उसकी झलक दिखाई देती है और सूर्य के उदय होने पर फिर वही पीड़ा, कभी *ओस-कणों के द्वारा वह* अपना *संदेश दे जाता है* और प्रभात होते ही फिर वही मौन। जब ऐसा अनुभव कवियित्री को होता है, तो वह उसका हृदय, उसका कवित्व, उसकी भावनाएँ—सब कुछ मौन हो जाता है, वेदना विह्वल होने के कारण उसके मुंह से आवाज नहीं निकलती। उसी समय अपने हृदय को सम्बोधित कर के कवियित्री पूछती है—

> "आज क्यों तेरी वीणा मौन ?'

यह तो हुआ जीवात्मा और परमात्मा के सीधे सम्बन्ध के विषय में परन्तु प्रकृति का भी उसमें बहुत बड़ा हाथ है। परमात्मा से साक्षात् तो प्रकृति के रूप में ही हो सकता है न ! प्रकृति ही तो है, *जिससे उस निराकार नियन्ता की* शक्ति का पता चलता है इसलिए प्रकृति के महत्व की कवियित्री उपेक्षा नहीं कर सकती। पर प्रकृति

(शेष पृष्ठ १६६)

'शकुन्तला-नाटक' में नैतिकता ?

[श्री श्यामनारायण दूबे]

महाकवि कालिदास विरचित 'शकुन्तला नाटक' के दो पात्र दुष्यन्त एवं शकुन्तला अन्य वर्णित कथा के पात्रों से सर्वथा भिन्न हैं। कहीं वे पात्र मर्त्य लोक के हैं तो कहीं स्वर्ग के। किन्तु प्रस्तुत नाटक में दोनों लोकों का अद्भुत सामजस्य बतला कर उक्त पात्रों का पुराणों की कथा से उद्धार कर यथार्थ जीवन में ला दिया है। इस जीवन में आने से उनका पतन और उत्थान होना मानवीय स्वभाव के अनुकूल है। सभव है यह कवि के तत्कालीन परिस्थिति का नमूना हो। हमें यह परिलक्षित करवाना है कि वास्तव में उनका नैतिक पतन हुआ अथवा उत्थान।

कई समालोचकों का कथन है कि उन दोनों पात्रों का नैतिक पतन नहीं हुआ है। उनका कहना है कि दुष्यन्त एक प्रकृति सूत्र द्वारा सचालित एक मानव मात्र है। वह प्रकृति के नियमों का उल्लघन नहीं कर सकता। वह देवता अथवा सन्यासी तो नहीं है जो अपने मनोविकारों को रोके। यौवनावस्था में यह स्वाभाविक है कि मानव में वासना जागृत हो और उसे परिपूर्ण करने के लिए मिलन की अभिलाषा करता हो। सौंदर्य की प्रतिमूर्ति नारी का सृजन तो इसी कार्य का एक महत्वपूर्ण अग है। एक प्राकृतिक एवं निश्चित समय पर दोनों का मिलन होता है और प्रकृति उन दोनों द्वारा अपना काम अबाध गति से परिचालित कराती है। अतएव दोनों के पारस्परिक सयोग द्वारा सस्कृति का विकास होता है। स्त्री पुरुष के प्रति आकर्षित होती है और पुरुष स्त्री के प्रति। जब राजा दुष्यन्त अपने पूर्ण यौवनावस्था में वनभ्रमण करता है तो उसे साक्षात लावण्यवती शकुन्तला का दर्शन होता है। वह राजा वज्र के आघातों को भी सहन कर सकता है किन्तु प्रकृति के आकर्षण को दूर नहीं हटा सकता। वह तो कोई साधु, सन्यासी अथवा वैरागी नहीं है जो अपने मनोविकारों को यम, नियम, सयम द्वारा रोके। वह तुरन्त शकुन्तला के दर्शन से आसक्ति रूपी पुष्प बाणों से बिंध जाता है। आँख तो सौन्दर्य को देखना चाहती है। "आँखें सौन्दर्य की प्यासी, आँख से आँख मिलेगी।" अतएव आँखों ही आँखों में दो प्राण स्पदित हो गये और उनका पारस्परिक परिचय, प्रगाढ प्रेम एव मिलन का पुष्प बन कर विकसित हो उठा।

इन लोगों का समर्थन है कि उस समय के राजाओं में यह विवाह प्रथा थी, वे जिसे चाहें पसद करते और उनके साथ विवाह कर लेते। उनका कहना है कि शकुन्तला को अभियाचिनी समझ कर ही दुष्यन्त ने उसके साथ प्रेम प्रस्ताव किया। उसे अपने मन पर विश्वास था अत शकुन्तला के प्रथम दर्शन से ही उसने उसे अपना समझा। वह अपने को सज्जनों की श्रेणी में समझता था अत उसका कार्य शास्त्र सम्मत ही रहेगा।

उपरोक्त दलीलें बच्चों के खेल सी नचती हैं। मनुष्य के प्राकृतिक धर्म को देख कर हम उसे नियति का खिलौना नहीं बना सकते। दुष्यन्त सदृश चक्रवर्ती राजा को अपरिचित नारी को सहसा अपनाना नहीं चाहिए। उसकी स्वय की पत्नियाँ थी अत वासना तो परिपूर्ण हो गई थी यह प्राकृतिक प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए। दूसरी बात यह है कि कवियों के पवित्र आश्रम में अपनी काम वासना को चरितार्थ करने का यह अच्छा उपाय नहीं है। यह निश्चित है कि उसका नैतिक पतन हुआ। क्योंकि 'आहार निद्रा

भय मैथुनय सामान्य एतद् पशुभिर्नराणाम्।" आहार निद्रा आदि अन्य बातें मनुष्यों के समान पशुओं मे भी पाई जाती। मनुष्यो को चाहिए कि वे सयम नियम से काम ले और कहीं भी किसी स्त्री अथवा बालिका को देख कर इस प्रकार मोहित न हो। मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है कि वह नैत कता का पालन करे यही हमारी अनादि सस्कृति कहते आ रही है। किन्तु दुष्यन्त ने इसका उल्लघन किया।

सामाजिक दृष्टिकोण से भी देखा जाये तो हम यह मान सकते है कि तत्कालीन समाज में बहु विवाह प्रणाली तो अवश्य प्रचलित थी। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि पवित्र आश्रम की भोली कन्या को अपने व्याह के योग्य समझे तपोवन की तापस कन्या पर मुग्ध होना नीति द्वारा सचालित समाज की दृष्टि से अत्यन्त अशोभनीय कार्य है। मनुष्य को अपने विलास को सीमित करना चाहिए। सामूहिक समाज का अ कुश ही नीति है। दुष्यन्त ने इस सर्व सामान्य नैतिकता का पालन नहीं किया। उसने अपने हृदय पर अनुशासन एव समय को नियत्रण का प्रभाव रखा। तत्कालीन युग की सस्कृति से परि लक्षित होने पर हमें विदित होगा कि वह भारत का सर्वभावेन सपन्न प्रधान सभ्यता का युग था। उस युग के अनुसार राजा का यह काय तो सच मुच अनैतिकता प्रदर्शित करता है। तब तो छिप कर स्त्री सवाद सुनना, दर्शन करना आदि पाप समझा जाता था। तब राजा दुष्यन्त का प्रथम दर्शन मे ही तापसी कन्या को अपने योग्य सम झना उचित नहीं है।

विदूषक राजा को जब राजमाता का सदेश सुनाता है कि उन्हें घर बुलाया है तो वह उस आदेश का उल्लघन करता है क्योंकि उसे शकुन्तला से प्रेमालाप करता है। वह तपोवन की रक्षा की आड लेकर रह जाता है। और तो और प्रेम मे विघ्नबाधा न हो अत विदूषक के साथ अपनी सारी सेना लौटा देता है। प्रेम प्रकरण की बाते तो विदूषक से छिपी नहीं थी अत वह निर्भीकता से व्यग पूर्वक कहता है—'तो अब यहाँ खाने पीने की सामग्री इकट्ठी कर लो क्योंकि मैं देखता हूँ तुमने तपोवन को उपवन बना लिया है।' इस प्रकार हम देखते है कि माता की आज्ञा का उल्लघन करना एव प्रिय विदूषक से बात छिपाना ये दोनों बातें दुष्यन्त मे पाई जाती है। इन बातों के अतिरिक्त राजा महर्षि कण्व के आने के पहले ही भाग जाता है। यदि उसे तपोवन का रक्षण करना था तो कम से कम तपोवन के अधिष्टाता का तो दर्शन करके जाना था। शकुन्तला से उसके पालक महर्षि कण्व की बिना आज्ञा पाय विवाह कर लेना उचित नहीं जॅचता। ये सब लक्षण दुष्यन्त के नैतिक पतन को प्रदर्शित करते हैं।

हमारे यहाँ राजा को ईश्वर का अश माना जाता है। वह प्रजा का प्रतिनिधि होता है, अत उसे प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। किन्तु दुष्यन्त को देखते हैं तो वह प्रजा का रक्षक न होकर भक्षक बन जाता है। तपोवन की रक्षा के निमित्त वन मे जाकर प्रजा की कन्या को अपनी उपभोग की वस्तु बना लेता है। क्या यह उसकी अनै तिकता नहीं है। काम के प्रबल आक्रमण पर प्रजा के प्रतिनिधि को सयमित रहना चाहिए था। क्योंकि राजा हमारा आदर्श होता है। उसका कर्तव्य है कि वह स्वयं उच्च स्तर पर पहुँच कर प्रजा को सन्मार्ग पर लगाये। प्रजा राजा का अनुसरण करती है। राजा ही ऐसा भ्रष्टाचार करे तो प्रजा क्यों नहीं करेगी। राजा दुष्यन्त को कुलीन सस्कृति एव सभ्यता की ओर ध्यान देना चाहिए था। इस अभाव मे उसका शारीरिक पतन अवश्य है।

शकुन्तला प्रस्तुत नाटक की प्रधान नायिका है। वह अप्सरा की कन्या एवं ऋषि कण्व द्वारा पालित है। तपोवन मय सगति से ससर्ग से वह भोली और सरल हृदया बन जाती है। किन्तु

भोले हृदय पर भी कामदेव अपना पुष्प बाण छोड ही देता है, परिणाम स्वरूप दुष्यन्त के प्रथम दर्शन से ही वह मोहित हो जाती है। वह दुष्यन्त को मन से सर्वगुण सम्पन्न समझ कर उस पर अपना पूर्ण विश्वास कर लेती है और उसे अपना जीवन साथी बना लेती है। नैतिकता के समर्थकों का कहना है कि वह प्रकृति पोषित कन्या थी। वह तो कोई सन्यासिनी न थी जो काम को दबाये। वह दुष्यन्त परिलक्षित कर पहिचान लेती है राजा भी उसी के समान कामा तुर है। तब शकुन्तला की सहज सवेदना एव सहृदयता प्रेम भाव से परिस्रवित हो जाती है और अन्त मे दुष्यन्त के प्रेम निमत्रण को स्वीकार करती है। जब उसके घर ऐसा व्यक्ति आता है कि जो उसके सहज विकसित भावों बिना बाधा पहुचाये पूर्ण कर दे तो वह क्यों न आत्मसमपण करे।

इस नैतिकता की दलीले सब व्यर्थ हैं। किसी अपरिचित पुरुष के प्रथम दर्शन से ही उसे ऐसी आशका न होनी चाहिए जो भावी जीवन को कलकित कर दे। वह दुष्यन्त को देख सोचती है "इस पुरुष को देख क्यों मेरे मन मे ऐसी बात उपजती है जो तपोवन के योग्य नहीं।" तदुपरात वह दुष्यन्त के प्रति अपना प्रेम निर्लज्जता से प्रदर्शित करती है और साथ ही तपोवन की तपस्वी सखियों से काम वासना की चातुरी भरी बाते शुरू कर देती है। उसमे वह वासना राजा के प्रथम दर्शन से जागृत होने पर उसे अपना प्रेमी मान लेती है इसलिए बिना सकोच से एकान्त मे दुष्यन्त से वार्तालाप भी करती है और साथ ही साथ सौतों के प्रति डाह भी करती है। यह तापसी और वह भी अविवाहिता कन्या के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है।

कन्या को बडों से आज्ञा स्वयं नो दूसरे के प्रति अर्पण करते समय लेनी चाहिए। भारतीय सस्कृति मे नारी स्वतंत्रता की भत्सना की गई है। यहाँ शकुन्तला कण्व ऋषि के अनुमति की उपेक्षा कर दुष्यन्त को आत्मसमर्पण कर देती है। कितनी अनैतिकता है। बाद मे महर्षि द्वारा अपराध क्षमा कर देने पर भी शकुन्तला को पश्चाताप नहीं होता यह कितना घोर पतन है।

राजा दुष्यन्त एव शकुन्तला के पापाचार में केवल पुण्य की रेखा उनका विवाह कर लेना ही दीखती है। इसके अभाव में तो वे व्यभिचारी ही कहलाते। इस गाधर्व विवाह के कारण ही उनकी उन्नति हुई।

पाचवे अक मे शकुन्तला के दर्शन राज दरबार में होते है। वह अपने गतजीवन का परिचय राजा को देती है किन्तु राजा उसे भूल जाता है। अब राजा को धर्म और अधर्म को सूझती है। वह भावावेश मे शकुन्तला को छली अनारी तक कह देता है। यहाँ पर वही शकुन्तला का यौवन सम्पन्न एव तेजोमय रूप को समक्ष देखकर राजा पुन मदन बाणों से बिंध जाता। अब वह उस ओर आकर्षित नहीं होता जैसा कि प्रथम हुआ था। उस समय 'आँखें सौन्दर्य की प्यासी का ध्यान नहीं रहता। अन्त में धर्मपत्नी का त्याग होता है जो मानव जीवन की सबसे बडी धृष्टता है।

उत्थान—महाकवि कालिदास ने दोनों के पापों का शमन करने के लिए और उनमे स्वाभाविकता लाने के लिए दुर्वासा शाप की अवतारणा की थी। शकुन्तला अपने तापसी जीवन को सफलतापूर्वक नहीं निभाती है। उसका आज कर्तव्य है कि वह अतिथि की सेवा करे। किन्तु वह दुष्यन्त के प्रेम मे तपोवन के कर्म को भूल जाती है और तपोवन भूमि को अपवित्र कर देती है। दुर्वासा का यह देखा नहीं गया कि तपोवन को शकुन्तला प्रेमी का उपवन बना रही है और अतिथि सत्कार को भूल रही है। तपोधन को अपना प्रभुत्व बताना था अत वही दुर्वासा के रूप मे गरजकर बोल उठा 'अय अह

यो' (यह मैं आया हूँ) 'देखो सचेत किया जा रहा हूँ सभल जाओ नहीं तो फल भोगना पड़ेगा।' एक शकुन को शाप मिला उस तपस्वी का जिसकी आज्ञा का उसने उल्लघन किया था। कुटिया अतिथि देवता के लिये बनाई गयी थी पति देवता के लिये नहीं। इसी शाप के द्वारा शकुन्तला को प्रिय का वियोग होता है और विपरीत आचरण का परिणाम होता है। विरह व्रत धारण करने से प्रायश्चित पूर्ण हो जाता है और मिलन की रुकावट दूर हो जाती है। इस प्रकार अन्त में शकुन्तला अपने नैतिक पतन से उत्थान कर लेती है।

इसी प्रकार नैतिकता से पतित दुष्यन्त का व्यभिचार एवं उच्छृखलता शाप के द्वारा बहुत कुछ दब जाती है और वह शकुन्तला त्याग के कलक से बच जाता है। नाटक के अन्त में हम उनके मानवीय दुर्बलता समझकर भूल जाते हैं और वे दोनों पात्र हमारी सहानुभूति के पात्र बन जाते हैं।

(शेष पृष्ठ १६७ का)

नश्वरता और जीवन की क्षण भंगुरता में साम्य देखकर दोनों में एक ही गुण देख कर, कवियित्री का हृदय गा उठता है—

'विकसने मुरझाने को फूल,
उदय होता छिपने को चन्द।
बरसने को भरते हैं मेघ,
दीप जलता होने को मन्द॥
यहाँ किसका अनन्त यौवन,
अरे अस्थिर छोटे जीवन।

कैसा सुन्दर समन्वय है प्रकृति और जीवन का। 'दीप' प्रतीक है जीवन का। पहले तीन पदों में प्रकृति का वर्णन करके कवियित्री कहती है कि जैसे प्रकृति की सब वस्तुएँ समाप्त होने के लिए ही अस्तित्व में आईं, उसी प्रकार यह जीवन भी, जीवन रूपी ज्योति भी किसी दिन मन्द पड़ जाएगी और अपना अस्तित्व समाप्त करके उसी परम-ज्योति में विलीन हो जाएगी। परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति तीनों साथ-साथ हैं, तीनों वास्तव में एक हैं, यदि कोई भावुक सुलझा हुआ हृदय तीनों की एकता को समझ सके तो।

महादेवी वर्मा परमात्मा को सर्जक सृष्टि का स्रष्टा और प्रकृति का प्रणेता मानती हैं। इनके विचार में परमात्मा एक परम शक्ति है—विशाल सिन्धु, और आत्मा उसका एक क्षुद्र अश है—एक बूँद। अपनी कविताओं में वह बार बार यही विचार अभिव्यक्त करती हैं। एक क्षुद्र शक्ति एक महान् शक्ति में समा जाने का प्रयास है, परन्तु समा वह तभी सकती है जब वह महान शक्ति की महानता का अनुभव करले, प्रकृति के रूप में उसकी सत्ता को समझ ले, प्रकृति के अणु-अणु में उसकी झलक का आभास करने लगे। परमात्मा स्वयं तो निराकार है, हमारे सामने केवल प्रकृति के रूप में ही आता है, और जीवात्मा यदि उससे मिलना चाहे तो प्रकृति में ही उसे ढूँढ कर, अपने अस्तित्व या अपनी चेतना को उसी में विलीन करके एक हो जाए।

यह है परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति का परस्पर सम्बन्ध, जो हमें महादेवी की कविताओं में मिलता है।

हिन्दी साहित्य में सूर और तुलसी का स्थान

[श्री विश्वम्भर 'अरुण']

सूर और तुलसी दोनों ही हिन्दी के महाकवि और अपने युग के स्रष्टा हैं। दोनों महाकवियों ने अपनी साहित्यिक प्रतिभा से हिन्दी-साहित्य को ही नहीं अपितु विश्व साहित्य को चमत्कृत किया है। हिन्दी के आलोचक सूर और तुलसी का तुलनात्मक अध्ययन करते समय बड़े असमंजस में पड़ जाते हैं कि किस कवि को अपेक्षाकृत उच्च स्थान प्रदान दिया जाय। 'सूर-सूर तुलसी ससी' वाली उक्ति को लेकर हिन्दी में घोर वाद विवाद हुआ है। कुछ विद्वान इस उक्ति को सत्य प्रमाणित करके सूर को उच्च आसन पर आसीन कर देते हैं, किन्तु कुछ आलोचक इसे सर्वदा भ्रामक सिद्ध करते हैं। इस उक्ति का अर्थ यह है कि सूर 'सूर्य' के समान और तुलसी 'चन्द्रमा' के समान हैं। यह सब विदित है कि सूर्य का गौरव चन्द्रमा से अधिक होता है। क्योंकि चन्द्रमा का स्वयं का प्रकाश न होकर सूर्य के प्रकाश का प्रतिफलन मात्र होता है। इस प्रकार सूर तुलसी से अधिक गौरवपूर्ण-पद पर आसीन हो जाते हैं। और यदि सूर्य चन्द्र के गुण धर्म पर विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि सूर्य प्रखर किरणों से युक्त प्रकाश पुंज होने के कारण संसार से कालिमा युक्त अन्धकार को नष्ट करता है और प्रकाश फैलाता है—सूर्य के प्रकाश के समक्ष ब्रह्माण्ड की कोई वस्तु नहीं टिक सकती तथा चन्द्रमा शुभ्र, शीतल और शान्तिदायिनी किरणों से युक्त होता है और इसका कार्य संसार में शुभ्र शीतल और शान्तिप्रद किरणों को फैलाकर संसार को आलोकमय और आनन्दमय बनाना है। हम उक्ति के इसी तात्पर्य को लेकर सूर तुलसी के काव्य की परख करेंगे।

काव्य-क्षेत्र —सूर और तुलसी दोनों ही भक्त कवि हैं। दोनों ही पहिले भक्त हैं और बाद में कवि किन्तु एक कृष्ण का भक्त है तो दूसरा राम का यदि एक के 'सागर' में कृष्ण भक्ति की लहरें आलोडित हो रही हैं तो दूसरे का 'मानस' राम भक्ति की तरंगों से परिपूर्ण है। यह भी सत्य है कि दोनों की भक्ति संकीर्ण धार्मिक मान्यताओं तक ही सीमित नहीं रही है। किन्तु फिर भी दोनों का भक्ति प्रेरक दृष्टिकोण कुछ भिन्न है। अपने अपने दृष्टिकोण का प्रभाव दोनों के काव्य में पूर्ण रूप से पड़ा है सूर की भक्ति अपने इष्ट के प्रति सखा भाव की है और तुलसी की सेवक भाव की, अतः सूर में भावों का उन्मेष अधिक है और तुलसी में मर्यादा का। सूर के इष्टदेव यदि लोक रंजक हैं तो तुलसी के लोक रक्षक। एक में मानव भावनाओं का खुलकर चित्रण है तो दूसरे में एक सीमा के साथ। सूर अपने इष्टदेव कृष्ण की लीलाओं के चित्रण में ही अधिक रत हैं जबकि तुलसी का ध्यान समाज की व्यवस्था, समाज के कल्याण की ओर भी गया है। "उनके काव्य में* धर्म की मर्यादा के साथ-साथ समाज की व्यवस्था है लोक शिक्षा का आदर्श है। न जाने कितने दुखी व्यक्तियों ने इस कवि से सहारा लेकर जीवन की लम्बी यात्रा में चलने का उपदेश लिया है और फिर धर्म, दर्शन और समाज की ये सब ऊँची शिक्षाएँ साहित्य की बड़ी सुन्दर भाव लड़ियों में सजाई गई हैं। हृदय की एक एक बात बड़ी सरलता और चतुराई से निकालकर कवि ने रत्न की भाँति जड़ दी है जिसकी चमक कभी पुरानी नहीं हो सकती।"* इस प्रकार तुलसी का क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत है। चूंकि सूर

* डा० रामकुमार वर्मा।

को कृष्ण के लोक रंजक रूप का ही चित्रण करना था अतः उनका क्षेत्र कृष्ण के बाल्य, किशोर और युवावस्था के मनोरम रूप तक ही सीमित रह गया किन्तु तुलसी के नायक राम लोक रक्षक हैं अतः उनका क्षेत्र मानव-जीवन के प्रत्येक पक्ष, प्रत्येक रूप तक विस्तृत है। निस्सन्देह तुलसी ने मानव जीवन की प्रत्येक मनोवृत्ति को पहिचाना है उनकी दृष्टि मानव जीवन के प्रत्येक पहलू से टकराई है।

रस —किसी कवि के काव्य की परख करते समय दो आधार भूत तथ्यों को सर्वप्रथम दृष्टि में रखना होता है वे ये हैं कि उसके काव्य में कहाँ तक भाव पक्ष और कला पक्ष का निर्वाह हुआ है। भाव पक्ष अपेक्षाकृत अधिक महत्व रखता है और भाव पक्ष में सर्वप्रथम 'रस' पर विचार किया जाता है। जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है कि सूर का क्षेत्र सीमित था, उन्होंने बाल्यावस्था से लेकर युवावस्था तक ही अपने को सीमित रखा और साथ में लोक रंजक रूप को भी नहीं भुलाया। इस प्रकार सूर बाल्यावस्था से लेकर युवावस्था तक की मधुर क्रीडाओं का चित्रण ही अपने काव्य में कर सके, इसके आगे जाने की उन्होंने आवश्यकता ही नहीं समझी जबकि तुलसी ने जीवन के प्रत्येक रूप को अपने काव्य में चित्रित किया है। मानव जीवन में बाल्यकाल और यौवन-काल ही स्वर्णीय काल सूर ने इसी स्वर्णीय काल का चित्रण अपने काव्य में किया है। तत्कालीन धर्म से उदासीन और आक्रमणकारियों से आक्रान्त जनता कृष्ण के बाल्यकाल और यौवन काल की मधुर झाँकी को सूर के काव्य में पाकर अपनी सुधि-बुधि खो बैठी, निराश और जर्जरित हृदय फिर से आशा से लहलहा उठे। वास्तव में सूर का यह कार्य स्तुत्य और महान था और इसीलिए सूर महाकवि माने जाते हैं। "वात्सल्य और श्रृङ्गार के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बन्द आँखों से किया है, उतना किसी और कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का कोना कोना वह झाँक आये थे। उक्त दोनों रसों के प्रवर्तक रति भाव के भीतर की जितनी मानसिक वृत्तियों और दशाओं का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर सके उतनी का कोई और नहीं। हिन्दी में श्रृङ्गार का रस राजत्व यदि किसी ने पूर्ण रूप से दिखाया तो सूर ने इन दोनों क्षेत्रों में तो महाकवि ने मानो औरों के लिए कुछ छोड़ा ही नहीं।"† सूर के काव्य में श्रृङ्गार और वात्सल्य के अतिरिक्त शांत रस की भी अनुपम धारा प्रवाहित हुई है। श्रृङ्गार और वात्सल्य रस का जैसा परिपाक और विस्तृत चित्रण सूर के काव्य में हुआ है वैसा तुलसी में दुर्लभ है। सूर के अनुकरण पर तुलसी ने 'कृष्ण गीतावली' और 'गीतावली' की रचना की है, किन्तु वह सूर की भाँति सफल नहीं हो पाये हैं। वास्तव में सूर के बाल-चेष्टाओं के स्वाभाविक और मधुर चित्रों का भण्डार तुलसी में भी नहीं है। तुलसी ने भी श्रृङ्गार का सुन्दर वर्णन अपने काव्य में किया है लेकिन उसमें सूर के समान नैसर्गिक भावोद्रेक नहीं है। इसका कारण यह है कि तुलसीदास जी मर्यादा का ध्यान रखते थे। इसके बावजूद भी तुलसी के काव्य में संयोग-श्रृङ्गार की मधुर झाँकियाँ मिल ही जाती हैं —

† रामचन्द्र शुक्ल।

चौंकि ही देखी तहं राधा नैन विसाल भाल दिये रोरी ।
सूर स्याम देखत ही रीझें नैन नैन मिलि परी ठगौरी ॥

शृङ्गार के वियोग पक्ष का भी वर्णन दोनों कवियों ने अत्यन्त मर्मस्पर्शी किया है किन्तु सूर का वर्णन अधिक विस्तृत और स्वाभाविक हुआ है। 'वियोग की जितनी अन्तर्दशाएँ हो सकती हैं, जितने ढंगों से उन दशाओं का साहित्य में वर्णन हुआ है और सामान्यतः हो सकता है वे सब उसके भीतर मौजूद हैं।⊛ पके हुए अंगूर के गुच्छे में झलकते हुए रस की तरह गोपियों की विरह-जनित वेदना इन पंक्तियों से छलकी पड़ती है :—

निसदिन बरसत नैन हमारे ।
सदा रहत पावस ऋतु हम पर जबसे स्याम सिधारे ॥

और भी :—
बिनु गोपाल बैरिन भईं कुंजे ।
तब ये लता लगत अति सीतल अब भईं विषम ज्वाल की पुंजे ॥

वात्सल्य रस वर्णन में रत सूर अद्वितीय हैं। बाल सुलभ-चेष्टाओं का जैसा मनोरम, स्वाभाविक और हृदयग्राही वर्णन सूर ने किया है। वैसा तुलसी भी नहीं कर सके। कितना स्वाभाविक, मधुर और तन्मयकारी कृष्ण के बाल्यकाल का वर्णन है इन पंक्तियों में :—

जसोदा हरि पालने झुलावै ।
हलरावै मल्हावै दुलरावै जोई सोई कछु गावै ।
मेरे लाल को आउरी निंदिया काहि न आनि सुआवै ॥

इसके अतिरिक्त हास्य, करुण और शान्त रस के भी कुछ पद हमें 'सूरसागर' में मिल जाते हैं। तुलसी यद्यपि मर्यादावादी थे तदापि उनके काव्य में यत्र-तत्र हास्य के उदाहरण मिल ही जाते हैं। तुलसी की निम्न पंक्तियों में हास्य की छटा कितनी निर्मल और हृदयग्राही है।

⊛ रामचन्द्र शुक्ल

बिन्ध्य के बासी उदासी तपो व्रतधारी महाबिनु नारि दुखारे ।
गौतम तीय तरी 'तुलसी' सो कथा सुनि के मुनि बृंद सुखारे ॥
ह्वै हैं सिला सब चन्द्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे ।
कीन्हीं भली रघुनायक जू ! करुना करी कानन को पगु धारे ॥

हास्य में सूर भी तुलसी से पीछे नहीं हैं। बाल सुलभ-चेष्टा के चित्रण में किस कुशलता से सूरदास ने भी हास्य की अवतारणा करदी है।

मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो ।
मोसों कहत मोल को लीनों तोय जसुमत कब जायो ॥
गोरे नन्द जसोदा गोरी तुम कत स्याम सरीर ।
चुटकी दै दै हँसत ग्वाल सब सिखै देत बलबीर ॥
तू मोही को मारन सीखी दाउहि कबहुं न खीजै ।
मोहन को मुख रिसि समेत लखि जसुमति अति मन रीझै ॥

कविता की इसी मार्मिकता, स्वाभाविकता और मधुरता के कारण सूर भारतीयों के हृदयाधीश बने हुए हैं। किन्तु सूर ने शृंङ्गार, शान्त, करुण आदि रसों का ही वर्णन अपने काव्य में किया है जबकि तुलसीदासजी ने इन रसों के अतिरिक्त वीर, रौद्र, अद्भुत, वीभत्स और भयानक रसों का भी सुन्दर चित्रण अपने काव्य में किया है। वीररस की कितनी सुन्दर अभिव्यञ्जना है इन पंक्तियों में—

जो हो अब अनुसासन पावौं ।
तौ चन्द्रमहि निचोरि चैल ज्यौं आनि सुधा सिर नावौं ॥
कै पाताल दलौं ब्यालावलि अमृत कुण्ड महि लावौं ॥
भेद भुवन करि भानु बाहिरो तुरत राहु दै तावौं ॥
बिबुध बैद बरबस आनौं धरि तौ प्रभु अनुग कहावौं ।
पटकौं मीचु मूषक ज्यों सबहि को पापु बहावौं ॥

इसी प्रकार वीभत्स रस का भी पूर्ण परिपाक तुलसी के काव्य में है।

झोमरी की झोरीं काँधे, आँतनि की सेल्ही बाँधे,
मूंड़ के कमंडल खप्पर किये कोरि कै।
जोगिनी झुटुंग-झुंड झुंड बनीं तापसीं सी,
तीर तीर बैठीं सो समर सरि खोरि कै॥
सोनित सो सनि-सनि गूदा खात सतुआ से,
प्रेत एक पियत बहोरि घोरि घोरि कै।
'तुलसी' बैताल भूत साथ लिए भूतनाथ,
हेरि-हेरि हंसत हैं हाथ-हाथ जोरि कै॥

'कवितावली' और रामचरितमानस के सुन्दर काण्ड में रौद्र रस का भी बहुत सुन्दर चित्रण तुलसी ने किया है। भाव और भाषा की दृष्टि से तुलसी का रौद्र रस का वर्णन अद्वितीय है। यथा :—

बालधी बिसाल विकराल ज्वाल जाल मानो,
लंक लीलिवे को काल रसना पसारी है।
कैधों व्योम बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
बीररस वीर तरवार सी उघारी है॥

निम्न पंक्तियों में अद्भुत रस का सुन्दर परिपाक हुआ है—

तीखी तुरा 'तुलसी' कहतो पै हिए
उपमा को समाऊ न आयो।
मानो प्रतच्छ परब्बत की नभ
लीक लसी कपि यों धुकि धायो॥

इस प्रकार जहाँ काव्य में रस-वर्णन का प्रश्न है, तुलसी ने अपने काव्य में सभी रसों का बड़ी कुशलता से निर्वाह किया है जबकि सूर ने केवल दो अथवा तीन रसों का। किन्तु जहाँ तक शृंगार आदि रस के वर्णन का प्रश्न है, सूर 'सूर्य' की भाँति तुलसी को भी अपने समक्ष फीका कर देते हैं।

गीत-काव्य :—सूर ने अपने 'सागर' के सम्पूर्ण छन्दों की रचना गीति शैली में की है। जबकि तुलसी ने केवल 'गीतावली' 'कृष्णगीतावली' और विनय पत्रिका के छन्द ही गीतिशैली में रचे हैं। सफल 'गीत काव्य' में कविता के शब्दगत भाव सौन्दर्य के साथ संगीत का अपूर्व नाद-सौन्दर्य भी होता है। इसीलिए गीत को 'कविता और संगीत के सोहाग की देन' कहा गया है। निस्संदेह सूर और तुलसी सफल गीतकार हैं किन्तु सूर इस क्षेत्र में तुलसी से कई पग आगे हैं। 'कृष्णगीतावली' तथा 'गीतावली' की रचना तुलसी ने सूर के अनुकरण पर की है तथापि उनमें सूर के समान नैसर्गिक भावोद्रेक नहीं मिलता। सूर के गीति-काव्य में कविता के अनुपम सौंदर्य के साथ-साथ संगीत का भी अपूर्व सौष्ठव मिलता है। "सूर के सजग होते न जाने कितनी राग रागनियाँ सजग हो उठीं उस गायक की बातें आज भी भारतीय संगीतज्ञों की साधना की वस्तुएँ हैं।"[१] "सूर सागर में कोई राग या रागिनी न छूटी होगी, इससे वह संगीत प्रेमियों के लिए भी बड़ा भारी खजाना है।"[२] वास्तव में सूर के गीत काव्य के समान कविता और संगीत का ऐसा अद्वितीय सगम अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। तुलसी की 'विनय पत्रिका' शान्त रस के पदों का एक अपूर्व कला ग्रन्थ है। विनय-पत्रिका' के पदों की तन्मयता तथा मधुरता अद्वितीय है। "तुलसी की गीति भावना में दास्य भाव की उपासना है, पर यदि प्राचीन काल में अकेला कोई ग्रन्थ शुद्ध गीति-भावना को लेकर लिखा गया कहा जा सकता है तो वह 'विनय पत्रिका' है।"[३] यह कथन सर्वांश में सत्य नहीं तो किन्हीं अंशों में तो सत्य है ही।

शैली :—तुलसी ने अपने समय की प्रचलित काव्य शैलियों को अपना कर उनमें अपूर्व सम्पूर्ण सफलता अर्जित की है। तुलसी ने वीर गाथा-

१ सद्गुरुशरण अवस्थी २ विश्वम्भर 'मानव' ३ रामचन्द्र शुक्ल। ४ डा भागीरथ मिश्र।

काल की छप्पय शैली में 'कवितावली' के कुछ छन्द, जायसी आदि सूफी कवियों की दोहा-चौपाई शैली में 'राम चरितमानस', गग आदि भाटों की कवित्त-सवैया शैली मे 'कवितावली' तथा विद्यापति की गीत पद्धति मे 'विनय पत्रिका' 'गीतावली आदि की रचना है। इनके अतिरिक्त तुलसी ने 'रामलला नहछू' जैसे घरेलू गीतों का भी मथ रचा है। जब हम सूर की रचना शैली की ओर दृष्टिपात करते है तो स्पष्ट होता है कि सूर ने केवल गीति शैली में ही अपने सम्पूर्ण काव्य का सृजन किया है। इस प्रकार तुलसी न केवल अनेक भावों और रसों के सफल कवि हैं, अपितु अनेक रचना शैलियों पर भी उनका अपूर्व अधिकार है।

भाषा ।—तुलसी और सूर के समय साहित्यिक पद पर ब्रजभाषा और अवधी भाषा आसीन थीं। इनके भी दो दो रूप थे, एक सस्कृत गभित रूप और दूसरा लोक में प्रचलित ग्रामीण रूप। तुलसी ने अपने समय की प्रचलित भाषाओं के सभी रूपों को अपनाया। 'मानस' मे यदि उन्होंने सस्कृत गर्भित अवधी भाषा को अपनाया तो 'राम लला नहछू' में लोक प्रचलित ग्रामीण अवधी भाषा को इसी प्रकार 'कवितावली 'गीतावली', 'कृष्णगीतावली, विनय पत्रिका' आदि में ब्रजभाषा के दोनों रूपों को अपनाया। इस प्रकार तुलसी का अपने समय मे प्रचलित समस्त भाषाओं पर असाधारण अधिकार था जबकि सूर का केवल लोक प्रचलित ब्रजभाषा की मिठास से तुलसी का काव्य रिक्त प्राय है। तुलसी का समस्त भाषाओं पर समान अधिकार उनको निश्चय सूर से अधिक महत्ता प्रदान करता है।

अलकार :—कलापक्ष में अलकार का बहुत महत्व माना जाता है। अलकारों से काव्य में सौंदर्य वृद्धि होती है। सूर से तुलसी ने अपने काव्य में अलकारों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया है। दोनों के अलकारों का प्रयोग केशव की भाँति खिलवाड मात्र नहीं हुआ है। सूर से ने अपने काव्य मे अनुप्रास, यमक श्लेष, उपमा उत्प्रेक्षा रूपकातिशयोक्ति, अपन्हुति सन्देह, भ्रम, प्रतीप व्यतिरेक आदि अलकारों का प्रयोग किया है, किन्तु तुलसी ने इन लकारों के अतिरिक्त अपने काव्य मे विभावना, विशेषोक्ति, असगति, परिकरांकुर, मीलित, उन्मीलित काव्यलिंग आदि अलकारों का भी प्रयोग किया है। तुलसी के काव्य मे अलकारों का प्रयोग अधिक भावों के उत्कर्ष के लिए तथा स्वाभाविकता की रक्षा करने में हुआ है। ' कवि की कविता के साथ अलकार उसी प्रकार चले आते है जैसे वसत के आने पर फूल खिलते चले जाते है लेकिन तुलसीदास की कविता के ये फूल कभी मुरझाते नहीं। कभी पुराने नहीं होते। वे अपनी सुगध से सभी के मन को हरा रखते है।* सूर में कहीं कहीं अलकारों का प्रयोग अति पर पहुँच गया लक्षित होता है किसी किसी छन्द में तो ये उत्प्रेक्षा, उपमा आदि अलकारों की झडी सी लगा देते है है जिससे स्वाभिकता दब सी जाती है।

प्रकृति वर्णन —सूर और तुलसी के काव्य में प्रकृति वर्णन अपूर्व है। दोनों के काव्य में प्रकृति का बडा ही सजीव और मनोहारी चित्रण हुआ है। आलम्बन रूप मे प्रकृति वर्णन का दोनों के काव्य मे अभाव है, यद्यपि तुलसी के काव्य मे चित्रकूट आदि क प्रसग म अल्पाश म इस रूप मे प्रकृति वर्णन मिल जाता है। निस्सदेह सूर के पास प्रकृति वर्णन क लिए अधिक अवसर था क्योंकि कृष्ण और गोपियों के समस्त काय व्यापार प्रकृति की गोद में ही होता है, प्रकृति ही उनकी क्रीडा स्थली और सहचरी है। सूर की प्रकृति सवेदन शक्ति है वह भी गोपियों के सुख

* डा० रामकुमार वर्मा • रामखेलावन पाण्डेय

दूध में हाथ बँटाती है। वास्तव में सूर ने अपने काव्य में प्रकृति के जो चित्र अंकित किये हैं वे अद्वितीय हैं। सूर के काव्य में प्रकृति का उद्दीपन रूप में ही चित्रण अधिक है जबकि तुलसी के काव्य में प्रकृति वर्णन इसके अतिरिक्त प्रकृति के माध्यम से उपदेश ग्रहण करने के रूप में भी हुआ है। किन्तु फिर भी प्रकृति के नाना रूपों और व्यापारों का जैसा सजीव और सुन्दर चित्रण सूर के काव्य में मिलता है वैसा तुलसी में भी दुर्लभ है।

निष्कर्ष—तुलसी के काव्य में सर्वत्र मर्यादा के पालन करने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है जबकि सूर को यह बंधन अपेक्षित नहीं है।" तुलसी की भावुकता है माधुर्य और सौंदर्य है, कोमलता और मनोहरता है जबकि तुलसी के काव्य में कोमलता है तो कठोरता भी है, माधुर्य है तो ओज भी है, सहजता है तो पांडित्य भी है। तुलसी में क्षेत्र, प्रत्येक रूप से उनका परिचय है जब कि सूर का क्षेत्र सीमित है, मानव जीवन के बाल्यकाल से यौवन काल तक के मधुर और विलासमय रूप तक ही उनकी पहुँच है। सूर ने अपने इस सीमित क्षेत्र में भी अद्भुत सफलता प्राप्त की है, इस क्षेत्र में तुलसी भी उनसे समता नहीं कर सकते। किन्तु जहाँ तक भाषा, छन्द, अलंकार, प्रबन्ध-निर्वाह, मानव जीवन से अधिक तम तादात्म्य का प्रश्न है, तुलसी निश्चय ही सूर से उच्च हैं। मानव आदर्शों के प्रति मोह भी तुलसी में अपेक्षाकृत अधिक है। 'महाकवि तुलसीदास ने अपनी कविता से जीवन के उन तारों को छू दिया है जो अनन्त काल तक मनुष्यत्व के कानों में गूँजते रहेंगे और समाज की बदलती हुई अवस्थाओं में भी शान्ति और सुख को कम न होने देंगे।" * और महाकवि सूरदास ने अपनी कविता से मानव हृदय के उन तारों को छुआ है, जो मधुरतम होने हुए भी भी शाश्वत और चिरन्तन है। जो मानव-जीवन के सीमित पक्ष होते हुए भी महत्वपूर्ण और व्यापक है। इस प्रकार दोनों ही कवियों ने चिरन्तन मानव-भावनाओं का अपने काव्य में चित्रण किया है और दोनों ही इसमें पूर्णतया सफल सिद्ध हुए हैं, अतः दोनों ही महान हैं और दोनों ही महाकवि हैं।

* डा रामकुमार वर्मा।

'सरस्वती संवाद' के सहयोगियों को बधाई :—

१—प्रो० अम्बाप्रसाद 'सुमन' अलीगढ़ को आगरा विश्वविद्यालय ने उनके शोध ग्रन्थ 'ब्रजभाषा में किसान शब्दावली" (अलीगढ़ क्षेत्र से) पर पी० एच० डी० की उपाधि से शोभित किया है।

२—प्रो० आनन्द प्रकाश दीक्षित गोरखपुर को आगरा विश्वविद्यालय ने उनके शोध ग्रन्थ "काव्य में रस" पर पी० एच० डी० की उपाधि से शोभित किया है।

हमारे ऊपर दोनों ही महानुभावों की अनुकम्पा रही है। हमारी बधाई हार्दिक शुभ-कामनाओं के साथ है।

—प्रतापचन्द

सम्पादकीय

राजाजी द्वारा हिन्दी का विरोध—

मदुराई छात्रों की संयुक्त सभा में भाषण करते हुए श्री सी० राजगोपालाचार्य ने कहा कि हिन्दी भारत की राज भाषा नहीं होनी चाहिए। उन्होंने आगे कहा कि अंग्रेजी भाषा केन्द्र और राज्यों में अच्छी तरह समझी जाती है तथा हिन्दी को राजभाषा बनाया गया तो यह तामिल जनता के साथ अन्याय होगा। क्योंकि तामिल जनता ने पिछले २०० वर्षों से अंग्रेजी का घोर अहसान किया है।"

राजाजी से हमारे व्यक्तिगत सम्बन्ध मित्रतापूर्ण हैं। हम उनकी देश सेवाओं का आदर करते हैं। एक राजनैतिक नेता की विचार धारा के नाते हमारे मत भेद हो सकते हैं। एक देश भक्त नेता से यह आशा नहीं थी कि वह विगत के लिए ऐसा प्रस्ताव प्रस्तुत करें जो कि भारत की ¾ जनसंख्या उचित न समझती हो। हिन्दी भारत संविधान द्वारा स्वीकृति राष्ट्रभाषा है उसे १५ वें वर्ष राजभाषा पर सुशोभित करना है। तब यह प्रान्तीयता के लिए मोह एक राजनीतिज्ञ नेता में कहाँ से आया यह प्रश्न हमारे लिए विचारणीय है। देश को एक राष्ट्रीयता में सूत्र बद्ध करना है। तब अंग्रेजी भाषा केन्द्र और राज्यों में अच्छी तरह समझी जाती है कहना समीचीन न होगा। आज साधारण से साधारण व्यक्ति हिन्दी से सहज में ज्ञान प्राप्त कर सकता है इसीलिए आज हिन्दी बहुसंख्यक भाषा होता जा रही है तब तामिल भाषा भाषियों के लिए अंग्रेजी राज भाषा रही आवे यह हमारे देश के लिए दुर्भाग्य होगा हम तामिल भाषा भाषियों के ज्ञान का आदर करते हैं उनके साहित्य से हम प्रेरणा पा रहे हैं किन्तु विदेशी भाषा को अपनाया वह भा अपमान समझेंगे। दूसरी भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना हितकर है।

यह कहना कि दो वर्षों से तामिल जनता ने घोर अंग्रेजी का अध्ययन किया है। अवांछनीय है। हमारे देश में अंग्रेजी का हर प्रान्त में विद्वान होगा। बंगाल गुजरात में तो इससे पूर्व के भी विद्वान प्राप्त होंगे। तब तामिल भाषा भाषियों के लिए एक संकीर्ण विचार धारा प्रस्तुत करते हुए राजाजी का यह मत जनप्रिय नहीं होगा।

राष्ट्रपति अनेक बार कह चुके हैं कि हिन्दी किसी पर लादी नहीं जायगी वरन् अन्य प्रान्तीय भाषाओं के साथ उसका विकास सम्भव है। हम अच्छा समझते राजाजी सम्पूर्ण देश का ध्यान रखकर अपना मत प्रस्तुत करते। अब देश की बहुसंख्यक जनता का ध्यान रखना चाहिए। जनता के ज्ञान विकास और प्रगति के लिए हर उपदेश मान्य होगा। देश की राष्ट्रीयता छिन्न भिन्न न हो इसका हर समय ध्यान रखना हर देशवासी का कर्तव्य है। यही आशा हम अन्य अहिन्दी भाषा भाषी से रखते हैं। क्योंकि हिन्दी प्रान्तीय भाषाओं की सहोदरा है।

प्रकाशक—फूलचन्द गुप्त मुद्रक—आगरा अखबार प्रेस आगरा।

इस अंक के लेख

सरस्वती संवाद के नियम

१—सरस्वती संवाद मासिक पत्र है। अंग्रेजी महीने की १ तारीख को प्रकाशित होता है।

२—सरस्वती संवाद का वार्षिक चंदा ४) है ग्राहक किसी भी मास से बनाये जा सकते हैं। वर्ष अगस्त से प्रारम्भ होता है।

३—पत्र व्यवहार करते समय अपनी ग्राहक संख्या व पूरा पता लिखना आवश्यक है

४—नियमानुसार नमूने की प्रति के लिये आठ आना पेशगी आना आवश्यक है।

५—महीने की १२ तारीख तक अंक न मिलने पर स्थानीय पोस्ट आफिस से पूछताछ करें, उसके बाद पोस्ट आफिस से प्राप्त उत्तर कार्यालय को भेजें। उत्तर के लिये जवाबी कार्ड अवश्य भेजें।

६—प्रत्येक वर्ष जनवरी का अंक "विशेषांक" होगा, वह वार्षिक चंदा में ही दिया जावेगा।

७—स्तरीय लेखों पर यथा योग्य पुरस्कार दिया जाता है।

८—रचनायें वे ही भेजी जायँ जो अन्यत्र प्रकाशित न हुई हों और सरस्वती संवाद के लिये ही लिखी गई हों। प्रकाशित रचनाओं पर प्रकाशक का पूर्ण अधिकार होगा।

वर्ष ५] आगरा, दिसम्बर १९५६ [अङ्क ५

विशेष लेख—

साधारणीकरण और रस निष्पत्ति

[श्री जगदीश० सो० लच्छाणी स० आचार्य, विद्यालंकार]

किसी काव्य-कृति के अनुशीलन से सहृदय पाठक को जो आनन्दानुभूति होती है उसे रस की संज्ञा दी गई है। यह आनन्दानुभूति लौकिक आनन्दानुभूति तथा भावानुभूति से भिन्न तथा उत्कृष्ट होती है। प्राचीन आचार्यों ने इसे अलौकिक, वेदान्त स्पर्शशून्य और ब्रह्मानंद-सहोदर कहा है। रस अथवा काव्यानन्दानुभूति उस स्थायी भाव का विकसित रूप होती है जो भावक के हृदय में वासना रूप में विद्यमान होता है और काव्य में वर्णित-स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों के प्रत्यक्षीकरण से सुषुप्ति की अवस्था त्याग कर जागृति की अवस्था में आ जाता है। 'दशरूपकम्' के प्रणेता धनंजयन लिखा है—

'विभावै रनुभावैश्च सात्त्विकै र्व्यभिचारिभिः ।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः' ॥

विभावों, अनुभावों, सात्विक भावों और व्यभिचारी भावों से स्वाद लेने योग्य बना हुआ स्थायी भाव ही रस कहलाता है। 'आस्वाद्यत्वाद्रसः' और 'रस्यते इति रसः' इसकी ये व्याख्यायें भी यही घोषित करती हैं कि स्वाद लेने योग्य बना हुआ स्थायी भाव ही रस है। 'व्यक्तः सतैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः' लिख कर मम्मट ने भी यही बात घोषित की है। विभावादि से व्यक्त हुआ स्थायी भाव रस माना गया है। व्यक्त शब्द यह सूचित करता है कि मम्मट अभिनव गुप्त से प्रभावित थे।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि धनंजयादि आचार्यों का स्थायी भाव से अभिप्राय काव्य में वर्णित स्थायी भाव से है अथवा उस स्थायी भाव से है जो सहृदय भावक (पाठक, श्रोता या दर्शक) के हृदय में वासना रूप में प्रसुप्त हुआ स्थित होता

है और काव्य के परिशीलन से प्रबुद्ध हो जाता है। स्थायी भाव काव्य और भावक दोनों में होता है किन्तु भावक के हृदय में जो स्थायी भाव होता है रस वही बनता है। मानव हृदय में सभी भाव वासना रूप में प्रसुप्त पड़े रहते हैं और अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर जग जाते हैं। एक समय में प्रायः एक ही भाव जगता है और जगना चाहिये। अनेक नहीं, क्यों कि अनेक भावों के एक साथ जग पड़ने पर एक विचित्र स्थिति में आया हुआ हृदय अपनी क्रिया बन्द कर देता है। अनेक परिस्थितियों का एक साथ साक्षात् होता भी बहुत कम है। भावक काव्य का भावन करते समय जिस स्थायी भाव का उसे पुष्ट करने वाले विभाव आदि (आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव तथा संचारी भाव) के साथ प्रत्यक्ष करता है वही भाव भावक के हृदय में जग कर रस बन जाता है। मानव-मात्र को किंचित अंतर के साथ एक साहृदय प्राप्त है। सबके पास लगभग एकसी भावनायें हैं। कवि के हृदय में उठने वाले भाव बहुधा लोक सामान्य होते हैं। जिस कवि के भाव लोक सामान्य अथवा दूसरों को प्रभावित करने वाले नहीं होते उसकी कृति जनता द्वारा अभिनन्दित नहीं होती। कवि के लिये दूसरी मुख्य बात यह है कि विभावादि का ऐसा आकर्षक और प्रभावोत्पादक चित्रण हो जाये जो अनुशीलन कर्ता के हृदय में उसी भाव की जागृति करे जिसकी जागृति उसके (कवि के) हृदय में हुआ है। कवि के हृदय के (काव्य में वर्णित) भाव का इस प्रकार सब भावकों का भाव बन जाना साधारणीकरण कहलाता है। जब काव्य में किसी 'आश्रय' का वर्णन रहता है तो उस आश्रय में जो स्थायी भाव होता है उसका साधारणीकरण होता है। जब किसी 'आश्रय' का वर्णन नहीं होता, तो कवि ही किसी भाव का आश्रय होता है और उसके उस भाव का साधारणीकरण होता है। जब काव्य के आश्रय का वर्णन होता है तब भी कविता आलम्बन और आश्रय के स्वरूप संघटन में जो भाव विशेष होता है उसका साधारणीकरण होता है।

पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का माना है। वस्तुतः साधारणीकरण काव्यगत आलम्बन और स्थायी भाव दोनों का होता है। साधारणीकरण कवि के उस गुप्त भाव का भी होता है जिसके अनुसार वह आश्रय और आलम्बन का स्वरूप संघठन करता है। इस प्रकार एक तो कवि के गुप्त भाव का साधारणीकरण होता है, दूसरे काव्य में वर्णित आश्रय के भाव और आलम्बन का। साधारणीकरण का अर्थ है 'विशेष का सामान्य बन जाना' एक की वस्तु का सबकी वस्तु बन जाना। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में दुष्यंत आश्रय है, शकुन्तला आलम्बन। दुष्यन्त रूप आश्रय में जो रति स्थायी भाव है उसका कारण शकुन्तला है। शकुन्तला रूप आलम्बन का साधारणीकरण होता है शकुन्तला विशेष से (दुष्यंत की नायिका का रुयति से) सामान्य (सबकी नायिका) बन जाती है। दर्शकों के मन से वितर्क की (मेरे तेरे की भावना) दूर हो जाती है। दुष्यन्त रूप आश्रय से तादात्म्य होता है और उसमें भी रति भाव है उसका साधारणीकरण होता है। वह रति भाव सहृदय दर्शकों के हृदय में रति भाव जगाता है और उद्बुद्ध भाव विकसित और चमत्कृत होकर रस बन जाता है। आधुनिक छायावादी गीतों में कवि ही आश्रय होता है और वह अनेक प्रकार से अपने भाव की व्यंजना करता है। इन गीतों का अनुशीलन करने पर साधारणीकरण कवि के उस भाव के आलम्बन का होता है जिसको वह प्रकट करता है। कवि के साथ तादात्म्य होता है और उसका भाव सब भावकों का भाव बन जाता है। प्रथम उदाहरण में दुष्यन्त के रति भाव के आलम्बन (शकुन्तला) का और रति भाव का जो साधारणीकरण होता है उसके मूल में कवि की वह सहानुभूति और प्रेम का भाव है जिसके

अनुसार उसने दुष्यन्त और शकुन्तला का स्पृहणीय रूप अंकित किया है।

रामचरितमानस में तुलसी ने रावण का रूप भयंकर, उग्र दुःशील और वीभत्स रखा है और राम का रूप शोभा सम्पन्न, कोमल और सुशील। रावण के प्रति कवि की घृणा तथा क्षोभ है और राम के प्रति श्रद्धा और प्रेम। राम का रूप कवि के ऐसे भावों के कारण ही तादात्मय के योग्य है और रावण का रूप अयोग्य। राम को प्रिय और रावण को अप्रिय बनाने वाली वस्तु कवि की वह भावना है जिसका साधारणीकरण होता है और उसके अनुसार उसने राम और रावण का रूप सघटन किया है। काव्य का अभीष्ट प्रभाव डालने के लिये यह आवश्यक है है कि कवि विभावादि का मार्मिक और व्यापक वर्णन करे, अपनी अनुभूति की ऐसी अभिव्यक्ति करे कि भावक के हृदय में वही अनुभूति जगा सके। वर्णन और अभिव्यक्ति की यह शक्ति जो कवि की अनुभूति को सहृदय भावकों की अनुभूति बनाती है साधारणीकरण की शक्ति कहलाती है। स्थूल रूप में साधारणीकरण की शक्ति से अभिप्राय. है दूसरों को प्रभावित करने की शक्ति।

साधारणीकृत विभाव सहृदय अनुशीलन कर्ता के हृदय में उसी भाव को प्रबोद्ध कर देते हैं जो काव्य में होता है और भावक के हृदय में प्रबुद्ध एवं विकसित हुआ स्थायी भाव रस बन जाता है। 'विभावानुभाव व्यभिचारि सयोगाद्रस निष्पत्ति' लिखकर भरत मुनि ने यह तो स्पष्ट कर दिया था कि विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के सयोग से रस निष्पत्ति होती है और स्थायनोभावा रसत्व माप्नुवन्तीति' लिखकर यह भी स्पष्ट कर दिया था कि स्थायी भाव ही रसत्व को प्राप्त होते हैं किन्तु 'सयोग' और 'निष्पत्ति' शब्दों की व्याख्या उन्होंने नहीं की थी। इन दो शब्दों की व्याख्या परवर्ती आचार्यों ने जिसमें भट्ट लोल्लट, भट्ट नायक, शंकुक और अभिनव गुप्त प्रमुख हैं) भिन्न २ ढंग से की और रस किस में होता है तथा रस कैसे निष्पन्न होता है इन दो प्रश्नों का अन्तर भिन्न २ प्रकार से दिया। इस सम्बन्ध में अभिनव गुप्त का मत सबसे अधिक प्रमाणित और मान्य है। परवर्ती आचार्यों में जिनमें काव्य-प्रकाशकार मम्मट, साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ, दशरूपककार धनंजय और रस गगाधरकार पंडितराज जगन्नाथ प्रमुख हैं। अभिनव गुप्त के ही मत को मान्यता प्रदान की गयी है। आचार्य अभिनव गुप्त के "साधारणेन प्रतातैरभिव्यक्त सामाजिकाता वासनात्मयता स्थित स्थायीरत्यादिक × × × × प्रमाणा सकल सहृदय सवाद भाजा साधारण्येन स्वीकार इवाभिन्नोऽपि गोचरी कृत" मतानुसार प्रमाता (भावक) के हृदय में भाव वासना रूप में पहले से ही विद्यमान होते हैं, काव्य का अनुशीलन करते समय साधारणीकृत विभावादि के प्रत्यक्ष से भाव अभिव्यक्त होकर रस का रूप धारण कर लेते हैं। रस सकल सहृदयों के हृदय में (काव्य कृति के अनुशीलन से) निष्पन्न होता है और अपने स्वरूप में भिन्न न रहकर भी अनुभव का विषय होता है। सयोग का अर्थ अभिनव गुप्त के अनुसार व्यंजना है और निष्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति है। रस की निष्पत्ति अथवा भुक्ति में भट्ट नायक के मतानुसार तीन व्यापार होते हैं अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व। अभिधा व्यापार में काव्य के अर्थ का बोध होता है, भावकत्व में विभावादिका साधारणीकरण होता है (विभावादि साधारणीकरणात्मना भावकत्व व्यापारेण) भोजकत्व में साधारणीकृत विभावादि से पुष्ट स्थायीभाव सहृदय जनों द्वारा भोगा जाता है। (भोगे न भुज्यते) साहित्यदर्पणकार ने भी विभावन, व्यापार में स्थायीभाव आस्वादन योग्य बनते हैं। अनुभावन में वे तुरन्त रस रूप में परिणत होते

है और संचारण में तथा भूत उनका सम्यक् चारण होता है। विश्वनाथ ने अभिधा व्यापार अथवा अनुशीलन-व्यापार जैसा कोई व्यापार नहीं माना है। अनुभावन और संचारण वस्तुत एक ही व्यापार हैं। भाव रस बनते समय ही संचरित हो जाता है। भट्ट नायक ने जो तीन व्यापार माने हैं, समीचीन प्रतीत होते हैं। काव्य का पहले अभिधा द्वारा अर्थ ग्रहण किया जाता था—किसी काव्य-कृति को सबसे पहले पढ़कर, सुनकर या देखकर समझा जाता है, फिर काव्य में वर्णित आलम्बन और स्थायीभाव होता है। अनुशीलन कर्ता तल्लीन हो जाता है। तदन्तर साधारणीकृत विभावादि प्रत्यक्षीकरण से भावक के हृदय स्थित और उद्दीप्त हुआ स्थायी भाव रस रूप में भोगा जाता है। यही रस निष्पत्ति है। अभिनव गुप्त ने भोग के स्थान में चर्व्यमाण शब्द का प्रयोग किया है और निष्पत्ति अर्थ भुक्ति न मानकर अभिव्यक्ति माना है। वे भट्टनायक के साधारणीकरण को तो मानते हैं किन्तु भोगीकरण और भोजकत्व को स्वीकार नहीं करते। रस किसमें होता है। प्रश्न का उत्तर अभिनवगुप्त ने भरतमुनि के अनुकरण पर दिया है। यद्यपि भरतमुनि ने इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर नहीं दिया परन्तु उनके नाट्यशास्त्र के निम्नलिखित शब्दों में (मेरा विचार है ये शब्द उन्हीं के हैं) इस प्रश्न का उत्तर निहित है 'स्थायीभावा नास्वादयन्ति सुमनस प्रेक्षका'। अच्छे मन वाले दर्शक स्थायी भावों का स्वाद लेते हैं। इन शब्दों के अनुसार भरतमुनि का मत है कि रस दर्शक (श्रोता या पाठक) में होता है। पीछे अभिनव गुप्त का जो मत दिया गया है उसमें भी प्रश्न का यही उत्तर है।

रस' की तुलना बहुधा पानक रस से की गयी है। अनेक वस्तुओं के संयोग से बने हुए पानक रस का स्वाद जिस प्रकार उन विविध वस्तुओं से भिन्न और विलक्षण होता है उसी प्रकार विभावादि के संयोग से बने हुए रस का स्वाद भी विभाव, अनुभाव, व्यभिचारि भाव और स्थायी भाव से भिन्न होता है। यह सहृदय-संवेद्य रस अन्य वेद्य विषयों को आवृत कर देता है और भावक के हृदय को परमानंद की स्थिति में पहुँचाता है। पानक रस जिस पदार्थों से बना होता है उन सबका संयोग होने पर से ही वह रूप में आता है। रस भी रस रूप तभी आता है जब उसके प्रधान अवयव स्थायीभाव का विभाव अनुभाव तथा संचारी भाव से संयोग होता है।

अत जिस काव्य में स्थायीभाव, विभाव (आलम्बन और उद्दीपन) अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव ये सभी तत्व हों बड़ी श्रेष्ट है। जिस काव्य में इनमें से एक या दो अनुपस्थित होते हैं उनमें अनुपस्थित तत्वों का आक्षेप कर लिया जाता है। रस गंगाधरकार पंडितराज जगन्नाथ का निम्नलिखित कथन यही सूचित करता है—

'यत्र कश्चिदेवस्मादेवासा धारणाद्वसो दो धस्तत्रतरद्वय माक्षेप्य मनो नानाशक्तिरस्तु'।
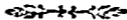
तुलसी की भक्ति भावना तथा अन्य कवियों की भक्ति भावना

(श्री० रत्नसिंह शांडिल्य एम० ए०)

मनुष्य के हृदय में प्रेम और श्रद्धा का पूर्ण परिपाक होकर जो भाव प्रस्फुटित होते हैं उसे भक्ति भावना की संज्ञा दी जाती है। इसी को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'धर्म की रसात्मक अनुभूति' कहा है। भक्ति के क्षेत्र में भक्त के हृदय में अवलम्बन के प्रति प्रेम और श्रद्धा के अतिरिक्त अवलम्बन के महत्त्व और अपने दैन्य की अनुभूति का होना आवश्यक है। तुलसी के हृदय के इन दोनों अनुभूतियों की ऐसी निर्मल धारा प्रवाहित हुई जिसने फिर पिपासाकुल संसार पथिकों के लिये सुशीतल, सुधा स्रोतस्वनी सुरस सलिला का रूप धारण कर भारत भू की धूलि के कण कण को सिंचित करती हुई युग युग से आने वाली भारतीय भक्ति भावना की प्रगति में योग दिया और अन्य भक्तों के लिये मार्ग दर्शन देकर उनकी भक्ति भावना को एक विशेष अपूर्व बल। वस्तुत आचार्य शुक्ल के इस मत से सभी विद्वान सहमति प्रकट करते हैं कि भक्ति भावना का पूर्ण परिपाक हमें जैसे तुलसी में मिलता है वैसे अन्यत्र नहीं।

तुलसी का प्रादुर्भाव उस काल में हुआ जबकि भारत के राजनीति क्षेत्र में मुसलमानों की तूती बोल रही थी। हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए कोई कोना शेष न बचा था। उसके सामने ही देव मन्दिरों के स्थान पर मस्जिदों की स्थापना की जा रही थी। देव मूर्तियाँ खण्डित की जा रही थीं, पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और हिन्दू खड़ा २ देखा करता था। वह कुछ नहीं कर सकता था। ऐसी अवस्था में हिन्दू अपने गौरव के गीत किस मुँह से गाता और किन कानों से सुनता? हिन्दु जाति में चारों ओर घोर निराशा और निरुत्साह की लहरें दौड़ गई थी। ऐसे समय में भगवान ही उनका सहारा बना और तुलसी बना उस दानव दलन, लोक रक्षक, भगवान राम का स्वरूप हिन्दू जनता के सामने रखने वाला।

इधर धार्मिक क्षेत्र में भी वाह्य विधि विधानों का खण्डन तो वज्रयानियों और नाथ पंथियों ने किया था पर उन्होंने जन सुलभ कोई सद्मार्ग नहीं दिखाया। उनकी 'ज्ञान की कोरी वचनावली और योग की थोथी साधनावली से जन साधारण में अव्यवस्था तो पैदा हो ही गई। साथ ही कर्म के प्रति अनास्था भी। ऐसी दशा में आवश्यकता थी ऐसे युग पुरुष की जो जन साधारण में फैली अव्यवस्था और अनास्था को व्यवस्था में परिणत कर दे। इसकी पूर्ति की हमारे भक्त शिरोमणी तुलसी और सूर ने। तुलसी ने इस दशा को ही लक्ष्य करके लिखा—

'गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग'

इस विवेचन से हमारा तात्पर्य केवल इतना ही है कि तुलसी से पूर्व भारत में राजनैतिक धार्मिक आदि क्रांतियां हुई थीं जिससे जन साधारण का जीवन अव्यवस्थित था और साथ ही उसकी भावनाओं में एक हलचल मची थी। गोस्वामीजी ने भक्ति क्षेत्र में शील, शक्ति और सौंदर्य तीनों की प्रतिष्ठा मनुष्य की सम्पूर्ण भावात्मिका प्रकृति के परिष्कार और प्रसार के लिए पड़े हुए मैदान के झाड़, झंखाड़ साफ कर

उसे सुविस्तृत बनाया। वहाँ जिस प्रकार आत्म कल्याण में रत लोगों के लिए।

"सुनु मुनि मोह होइ मन ताके। ज्ञान विराग हृदय नहिं जाके।"

स्पष्ट ही काम, क्रोध आदि शत्रुओं से बहुत दूर रहने का आग्रह किया है, उसी प्रकार लोक व्यवहार में अपने कर्त्तव्यों में रत मनुष्य को आनन्द मिलता है।

तुलसी की भक्ति भावना भारतीय जन-समाज के लिए कोई नई वस्तु थी ऐसी बात नहीं। मध्य युग में स्वामी रामानन्दजी के द्वारा राम भक्ति को विशेष बल मिला, उनके पूर्व रामानुजाचार्य (संवत् १०७२) ने जिस शास्त्रीय सगुण भक्ति का निरूपण किया था उसकी ओर जनता उपाकृष्ट होती चली आ रही थी। परन्तु वह ज्ञान, कर्म समुच्चयवादी विशिष्टाद्वैत को प्रधानता देते थे। यद्यपि रामानन्द भी इन्हीं की शिष्य परम्परा में हुए, परन्तु उन्होंने भक्ति भावना को एक नवीन स्वरूप दिया। उन्होंने भक्ति क्षेत्र में जाँति पाँति को चुनौती दी और सभी के लिए द्वार खोल दिए। इनकी ही परम्परा में आने वाले गोस्वामी तुलसीदास ने आगे चलकर भक्त भ्रमरों के लिए अपनी कृति वाटिका भाव-पुंज कलिकाओं से अनुराग मकरन्द प्रसारित किया।

जैसाकि हम विवेचन कर आये हैं गोस्वामी का युग पारस्परिक विरोधी सभ्यताओं का युग था। एक ओर भारतीय सभ्यता थी, एक ओर विदेशी मुस्लिम सभ्यता। दोनों में से एक भी अपना अस्तित्व खोने के लिए प्रस्तुत न थी। इस प्रकार कुछ तो राजनैतिक कारणों से और कुछ आदर्शों के अभाव में हिन्दू समाज पतन के गर्त में गिर रहा था। यद्यपि दक्षिणी भारत में श्री रामानुज स्वामी और उत्तर भारत में स्वामी रामानन्द ने निम्न वर्ग के हिन्दुओं के उठाने में बड़ी तत्परता दिखाई। इनके पश्चात् कबीर ने उनके क्षेत्र को अपनाया। किन्तु कबीर की झाड़ फटकार और उनके खण्डन मंडन से जनता को सन्तोष न हुआ; उनके 'निर्गुण" राम तात्कालिक पीड़ित जनता को अधिक लाभदायक सिद्ध न हो सके। इसका परिणाम यह हुआ कि धार्मिक चेतना की बागडोर कबीर-पंथियों के हाथ से निकल कर कुछ ऐसे मुसलमान सूफी कवियों के हाथ में आ गई जिन्होंने भक्ति में ज्ञान के स्थान पर 'प्रेम की पीर" का वर्णन किया। उनकी वाणी "प्रेम की पीर' के लौकिक पक्ष के साथ साथ आध्यात्मिक पक्ष प्रधान थी। पर मानव मानव के बीच में कैसे सहानुभूति होनी चाहिए। इसका निरूपण उन्होंने नहीं किया। उन्होंने अपनी कथाओं द्वारा यह तो सिखा दिया कि जीवात्मा और परमात्मा के बीच प्रेम द्वारा सम्बन्ध स्थापित हो सकता है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो चुका है कि जिस ज्ञान मार्ग का स्रोत भक्ति क्षेत्र में आया अर्थात् भगवान को निर्गुण निराकार मानकर जो भक्त चले उनके दो दल हो गए। प्रथम का नेता रहा कबीर और द्वितीय दल को दर्शन दिया सूफी कवि जायसी ने। इस प्रकार भक्ति क्षेत्र में दो प्रमुख भक्ति, भावनाओं का प्रचलन हो गया। कबीर की भक्ति भावना को हमने ज्ञानाश्रयी' भक्ति नाम दिया। और जायसी की भक्ति को प्रेमाश्रयी भक्ति।

कबीर की भक्ति भावना ने ऐसे समय में आकर समाज के बहुत बड़े भाग को बचा लिया जो नाथ पंथियों के चक्कर में फँसता जा रहा था। कबीर ने लिया तो राम को ही, पर वह दशरथी राम नहीं, उसने लिया तो ज्ञान मार्ग को ही पर वह हृदय शून्य नहीं। उसने ज्ञान में भक्ति का योग कर दिया। पर धर्म की दशा वही बनी रही जो नाथ पंथियों के यहाँ थी। कबीर की भक्ति भावना में ज्ञान और श्रद्धा का भार तो

आ गया पर कम नहीं, जिससे वह पूर्ण धर्म स्वरूप न ग्रहण कर सकी।

कबीर ने अपने समय के अनुसार समन्वय करने का भी प्रयत्न किया। उन्होंने 'राम रहीम' की एकता दिखाकर हिन्दू और मुसलमानों को निकट लाने का प्रयास किया था। आचार्य राम चन्द्र शुक्ल के शब्दों में कबीर ने 'भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद हठयोगियों के साधनात्मक वाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद का मेल करके अपना पथ खड़ा किया।' वस्तुत कबीर ने सभी चली आने वाली भक्ति भावनाओं के वितण्डावाद को, भक्ति क्षेत्र से उखाड़ने का ही प्रयास किया और उसमें जमाने का काम बहुत कम। उन्होंने सभी का खण्डन किया।

'हिन्दुन की हिन्दुवाई देखि तुरकन की तुरकाई"

और इसके पश्चात् यह कम ही बतलाया कि सत्य क्या है। वैसे ऐसी बात नहीं कि उन्होंने सत्य की ओर संकेत नहीं किया वरन् उन्होंने तो सत्य पर असत्य का जो आवरण चढ़ा था उसको हटाकर सत्य को ही दिखलाया है। भक्ति भाव के विषय में स्वयं कबीर ने स्पष्ट कहा है।

"अर्थ दर्व ले द्रव्य है उदय अस्त लौ राज।
भक्ति महातम ना तुलै ई सब कौने काज।
एक शब्द में सब कहा सबही अर्थ विचार।
भजिये निर्गुण राम का तजिये विषय विकार॥
कहहि कबीर जो रामहि जाने सो मोहि नीके भाव॥

'कबीर साहब प्रधान रूप से निर्गुण भक्ति बताते हैं और कहते हैं कि जिस राम ओंकार की भक्ति से सर्वथा कल्याण होता है, सो राम सर्वत्र व्यापक तो है ही परन्तु गुरू ज्ञानी के हृदय देह में वह प्रगट है। इसलिए ज्ञानी गुरू को परमात्मा रूप ईश्वर का नित्य वर्तमान रूप जानकर उन्हें सेवो, पूजो इत्यादि। परन्तु ऐसा नहीं कि देहदृष्टि से सोचो, किन्तु देह को तो मायामय मन्दिर समझो और उसमें वर्तमान प्रभु को भेजो। फिर दूसरा मन्दिर और मूर्ति बनाने की कोई जरूरत नहीं समझो। दश अवतार को भी माया कहने का सद्गुरू का यही तात्पर्य है कि व्यवहारिक रूप मन्दिर माया का है। फिर कुछ आगे चलकर अपने देह मनो मन्दिर में प्रभु का दर्शन और प्रथम नाम को ही उस प्रभु की सुन्दर मूर्ति समझकर एकान्त में उसका यथाशक्ति जप सुमिरण करो परन्तु ऐसा न हो कि तुच्छ विषयों के लिए नामादि का जप सुमिरण करके भक्तद्विपन के अभिमानी बन जावो, क्योंकि साँची नेह विषय माया से, द्वार भकन की फाँसी। कहहिं कबीर एक राम भजे बिनु बाँधे यमपुर जासी" मायिक विषयों में सत्य बुद्धि पूर्वक प्रेम ही हरिभक्त कहाने वालों के लिए फाँसी तुल्य है। इससे सांसारिक स्नेह का त्यागपूर्वक केवल निर्गुण राम की भक्ति बिना अवश्य बँधा कर यमपुर जाते हैं। इससे सब लोक विषय आकारादि को त्यागकर, या लोक आकारादिक को निर्गुण प्रभु के मायिक मन्दिर जानकर नामादि द्वारा उसे भेजा, और अन्त में नाम को भी कल्पित मायिक ही समझा।

दश अवतार ईश्वरी माया।
दशरथ सुत तिहु लोकहु जाया।
राम नाम का अर्थ ही आना॥
हृदय बसै तिहि राम न जाना॥
चौतिस अक्षर स निकले जोई।
पाप पुण्य जानेगा सोई॥'

इत्यादि कथनों का उक्त भाव है और माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मा पश्यसि नारद" इस महाभारत के भगवद्वचन का भी उक्त ही भाव है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया कि कबीर आदि भक्त वो नामादि को भी सगुण भक्ति में ही रखकर उसको मायिक बताकर छोड़ने का आग्रह कर रहे थे। यह तो रहा कबीर का

भक्तिमार्ग इस भक्ति मार्ग के अन्तर्गत निर्गुण की स्थापना तो हो गई पर जनता को अधिक दिन कबीर की फक्कड़ी मुग्ध न कर सकी।

यह पैराग्राफ हमने 'बीजक ग्रन्थ' जो कबीर पंथी पंडित मोतीदास चेतनदासजी द्वारा कबीर प्रेस सीया बाग बड़ौदा (गुजरात) से प्रकाशित है, लेकर कबीर का भक्ति भावना को स्पष्ट करने का प्रयास किया।

इसलिए जायसी ने जब अपनी 'प्रेम की पीर' की पुकार सुनाई तो जनता ने उसका स्वागत किया। किन्तु समस्त समाज उसकी 'प्रेम की पीर' का अनुभव न कर सका। क्यों? यह एक अलग प्रश्न है, जिसे हम यहाँ उठाना नहीं चाहते। कबीर की भक्ति की तरह जायसी की भक्ति प्रेम लक्षणा अवश्य है पर उसमें लौकिक प्रेम की मात्रा अधिक है। आध्यात्मिकता की तो वहाँ 'थेकली' सी ही लगती है। कबीर की वाणी जिस प्रकार कुछ साधु सन्तों, या निम्न वर्ग के व्यक्तियों तक ही सीमित रही। इसी प्रकार जायसी की भी भक्ति भावना अधिक हृदयों को द्रवित न कर सकी। क्योंकि जायसी ने जहाँ जीवात्मा और परमात्मा का सम्बन्ध बतलाया वहाँ वह न बता सका कि मानव के दैनिक जीवन की समस्याओं को सुलझाने और उसके दुखों को निवटाने में उस परमात्मा का क्या हाथ है। इसी के साथ २ हिन्दू जनता को जायसी की नियत में फरक' भी लगता था जैसा कि उसके ही मुँह से निकलकर साफ हो गया कि उसकी कविता और कुछ नहीं थी, स्पष्ट मत के प्रचार साधन थी—

तन चीतउर, मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुधि पदमिनि चिन्हा॥
गुरु सुआ जेइ पथ देखावा। बिनु गुरू जगत को निरगुन पावा?
नागमती यह दुनिया धंधा। बाँचा सोइ न . .

इससे स्पष्ट ही जायसी का लक्ष्य हिन्दू जनता को लगा अपने धर्म और भक्ति भाव पर कुठाराघात। इसी अभाव के कारण जायसी कबीर की भाँति सफल नहीं हो पाए। कबीर और जायसी ही नहीं, उनके भक्ति क्षेत्र में साथ-साथ कार्य करने वाले रैदास, धर्मदास आदि कबीर के सहयोगी और कुतबन, मझन आदि जायसी के सहयोगी अपने भक्ति भाव का प्रसार एवम् प्रचार अधिक न कर सके या उनकी ओर जनता अधिक न आकृष्ट हो पाई।

इनकी असफलता का प्रमुख कारण यही था कि उस समय हिन्दू जनता ऐसे भगवान का आश्रय ग्रहण करना चाहती थी जो दुष्टों का दमन करके, उनके हृदयों में नई स्फूर्ति, नई चेतना और नई चेतना का सचार कर दे। यदि भगवान लोक रक्षक स्वरूप न भी हो तो लोक-रंजक स्वरूप भी हो वह लौकिक रूप में नहीं देखना चाहती थी। उसे तो आवश्यकता थी कि भगवान का लोकरंजनकारी स्वरूप भी अलौकिक हो, वह जहाँ साधु का मनोरंजन कर सके वहाँ आवश्यकता पड़ने पर दुष्टों का दमन कर सके। प्रथम भावना या आकांक्षा की पूर्ति तो की हमारे तुलसी ने और इसके अभाव की भावात्मक पूर्ति की भक्त सूरदास ने।

दोनों ही भक्तों ने जन मन को अपनी भक्ति भावना से आन्दोलित कर दिया। तुलसी ने जहाँ शील, शक्ति और सौंदर्य की प्रतिष्ठा कर अपने भावों की धार प्रवाहित की वहाँ सूर ने भी उस बहती हुई धारा को अपने सागर में विलीन किया और गाये उन्होंने उसी के गीत। तुलसी ने अपने राम में जब उक्त गुणों का समावेश कर उसकी भावात्मक अभिव्यक्ति की तब समाज की समस्त मानसिक भावनाओं को उसके किसी एक अंश को नहीं—आकर्षित कर लिया।

तुलसी की भक्ति भावना में जहाँ राम की

गौरव गाथा है वहाँ वह अपनी दीनता दिखलाने मे भी नहीं चूके।

'राम सो बडो है कौन मोंसो कौन छोटो ?"

राम सो खरो है कौन मोंसो कौन खोटा ?"

इसी दीनता के कारण ही तुलसी ने केवल सेव्य भाव से भक्ति क्षेत्र को ओत प्रोत किया है। दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि यह सब उसकी आत्माभिव्यक्ति है कोरा वाक्य ज्ञान" नहीं। उपदेश, तर्क आदि तुलसी के मत मे वाक्य ज्ञान है, उनके द्वारा कोई भी संसार सागर से पार नहीं उतर सकता ऐसा तुलसी का दावा है।

कबीर की वाणी मे भी ज्ञान और भक्ति का योग हो चुका था। कमी केवल कर्म की रह गई थी। तुलसी ने भक्ति, ज्ञान और कर्म का समुन्वय कर पूर्ण धर्म की स्थापना की। क्योंकि भक्ति ज्ञान के बिना अन्धी है और कर्म के बिना लगडी और धर्म भक्ति के बिना प्राण शून्य है इसीलिए तीनों का समन्वय ही पूर्ण धर्म ठहरता है, जो तुलसी ने किया है। क्योंकि उन्होंने पूर्ण समाज की जो कल्पना की है उसमे राम की भक्ति ब्रह्म का विचार और विधि निषेध कर्मों की कथा का समुच्चय करके ही पूर्ण समाज बतलाया है। इसीलिए तुलसी की भक्ति एकांगी नहीं, एक देशीय नहीं, वह सर्वाङ्गीण तथा सर्वदेशीय है। उन्होंने स्वयं ही इसकी घोषणा की है।

'सर्वदि सुलभ सब दिन सब देसा।"

किन्तु सूर की भक्ति का क्षेत्र इतना विस्तृत नहीं था जितना तुलसी का। सूर ने जीवन के एक भाग को लेकर ही उसका वर्णन किया। उन्होंने तुलसी की तरह सेवक, सेव्य भाव की भक्ति को स्वीकार नहीं किया। वरन् सखा भाव की भक्ति सूर के सागर से निकली है। इसलिए सूर ने वात्सल्य का ही वर्णन अधिक किया। साथ ही शृंगार रस में भी अपने श्रोताओं को डुबकी दी जिसमे अवगाहन कर श्रोता भक्त बने। एक बात सूर के बारे में निश्चित है कि उसने जिस क्षेत्र को चुना उसका कोना २ छान डाला है उसमें कोई ऐसा अंग नहीं जो सूर की पहुँच से अछूता रह गया हो।

सूर की भक्ति भावना सखा भाव की रही है यह हमने ऊपर विवेचन मे देख लिया। तुलसी जहाँ यह कहते थे कि सम सखा भाव की भक्ति सम मधु और घृत मिश्रण से निर्मित विष के समान है, वहाँ सूर ने सम सखा भाव की भक्ति का ही प्रचार किया। कृष्ण को सखा मानकर कहीं २ सूर ने उनको डाट दिया जबकि तुलसी को राम के सामने बोलने मे हिचक होती थी।

इसी प्रकार मैथिल कोकिल (विद्यापति) भी सूर के स्वर मे स्वर मिलाकर अपनी अमर कृतियाँ गाने मे लगा था अन्य भक्त कवि भी इसी प्रकार भिन्न २ भक्ति भावों से ओत प्रोत हो भगवान की आराधना मे लीन थे। प्रारम्भ मे हमने देखा कि तुलसी की भक्ति भावना से उनका हृदय जितना ओत प्रोत है उतना अन्य का नहीं। तुलसी के आराध्य राम जो निर्गुण, सगुण, ब्रह्म महाविष्णु होकर भी दाशरथी है, शक्ति, शक्ति और सौन्दर्य के निधान है। डाक्टर रामकुमार वर्मा उनकी भक्ति भावना मे शान्त रस मानते है। परन्तु वे तो जग मे रहकर जग को जगाना चाहते हैं। वे जग से भागकर आत्म कल्याण मे लगाने वाली विरति के पक्षपाती नहीं थे तो रामानुरक्त हैं।

यदि भक्ति के आचार्यों की दृष्टि से देखा जावे तो वे रति को भक्ति का स्थायी भाव मानते है, किन्तु शुक्लजी दैन्य को ही मानते हैं। और दैन्य को ही हम भक्ति का स्थायी भाव मानें तो सूर की भक्ति भावना का बहिष्कार करना पडेगा। वस्तुतः यह शुक्लजी के सकुचित दृष्टि कोण तथा पक्षपातपूर्ण आलोचना का एक नमूना है। यदि हम रति' और दैन्य दोनों का स्थायी भाव मानकर यह कहें कि कभी एक भाव

(शेष पृष्ठ ७७)

सूर की भाषा

[श्री कृष्ण कुमार सिंहा एम ए]

सूर की भाषा—

'संस्कृत साहित्य मे जो स्थान आदि कवि वाल्मीक का है, ब्रजभाषा साहित्य में वही स्थान सूरदास को दिया जा सकता है। ब्रजभाषा साहित्य के आरंभिक काव्य में ही सूरदास ने अपनी विलक्षण प्रतिभा द्वारा जैसा सर्वांगपूर्ण काव्य उपस्थित किया, वैसा कई शताब्दियों के साहित्यिक विकास के उपरान्त कोई भी कवि नहीं कर सका। यही एक बात सूर काव्य की विशेषता को चरम सीमा पर पहुँचा देने वाली है।'[1] सूरदास ही पहले कवि है जिन्होंने ब्रज भाषा को साहित्यिक रूप प्रदान किया है। उनके पूर्व ब्रजभाषा अव्यवस्थित रूप में ब्रज की गलियों में इधर उधर मारी फिरती थीं परन्तु उन्होंने उसको अमरता प्रदान की जिसके कारण उसकी धारा आज तक नहीं सूखी। सूरदास ने अपने काव्य के लिए ब्रजभाषा का ही उपयोग किया है और वे उसके प्रथम आचार्य है। लेकिन लाला भगवान दीन के मतानुसार हम सूरदास जी की भाषा को शुद्ध ब्रजभाषा नहीं कह सकते। शुद्ध ब्रज भाषा में कविता लिखने वालों में घनानन्द और रसखान का नम्बर सबसे पहले आता है। सूर दास के पद गाने के काम में आते हैं। अत उनमें मधुर भाषा का होना आवश्यक है। दूसरे उनकी कविता म श्रीकृष्ण जी की लीला गाई गई है। अत कृष्ण जी की विहार भूमि की भाषा होने से और लालित्य होने के कारण भी ब्रजभाषा इस काम के लिए सर्वथा उपयुक्त है। छन्द और गाथा के अनुकूल ही भाषा को अपनाने के कारण सूरदास जी की शास्त्र निपुणता की जितनी प्रशसा की जाय तो थोडी है।'[2] महाकवि हरिऔध के शब्दों मे 'जैसी उसमे प्राजलता है वैसी ही मिठास भी है। जितनी वह सरस है उतनी ही कोमल। जैसा उसमे प्रवाह है वैसा ही ओज। भाव मूर्तिमन्त होकर जैसा उसमे दृष्टिगत होता है, वैसी ही व्यजना भी उसमे अठखेलियाँ करती अवगत होती है।' सच तो यह है कि जितनी प्रौढ, परिमार्जित एव काव्य पूर्ण भाषा सूर के काव्य मे देखने को मिलती है, उसे देखकर हम आश्चर्यचकित होना पड़ता है और हम उलझन मे पड़ जाते हैं। इस विषमता का परिहार करते हुए आचार्य रामचद्र शुक्ल ने लिखा है कि सूरसागर किसी पहले से चली आती हुई परम्परा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास सा जान पडता है, चलन वाली परम्परा का मूल रूप नहीं।'

काव्यभाषा के तीन गुण माने गए हैं—ओज, माधुर्य और प्रसाद। वीर रस कविता के लिए ओज गुण का होना अनिवार्य है पर सूर वीर रस के कवि नहीं है। उनका काव्य विषय है वात्सल्य और शृंगार जिसके लिए ओज गुण निरर्थक है। इसीलिए सूर की भाषा की सबसे बडी खूबी है माधुर्य और प्रसाद। माधुर्य उनकी कविता का सहचर है और साथ ही साथ उसम प्रसाद गुण भी विशेष मात्रा में मिलता है। सूर के काव्य म प्रसाद और माधुर्य के बीच में चोली और दामन का सम्बन्ध है दोनों एक दूसरे से अलग नहीं किए जा सकते हैं। कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे-

१ सूर निर्णय प्रभुदयाल मीतल।

२ सूर पचासा-पृष्ठ ६२।

अपनी काव्य भाषा को सजीव बनाने के लिए सूरदास ने बोल चाल के शब्दों का प्रयोग किया है। कविता की उत्कृष्टता के लिए बोलचाल के मधुर शब्दों का प्रयोग किया है जो भाव के अनुकूल हो। निम्नांकित पंक्ति में 'खेप' शब्द के प्रयोग से भाषा बिल्कुल सजीव हो उठी है—

जादि खेप गनगमान जोग की ब्रज में आय उतारी।

ऐसे उदाहरण कुछ और लीजिए—

१ चितै चितै हरि चारु बिलोकिन मानहुँ माँगत हैं 'मन ओल' '
२ जागयो मोस मौर' मति छुटी सुजस गीत के गाए।
३ सूर प सपर कहत गोपिका यह उपजी उदभौति'।
४ जीवन 'मुँह चाही' को नीको।

भाषा को प्रौढता प्रदान करने में मुहावरों और कहावतों का बहुत बडा श्रेय है क्योंकि मार्मिकता ही इनका प्रधान गुण है इससे दो लाभ होता है। पहला यह कि भाषा में स्वाभाविकता आ जाती है और दूसरा कि उससे भाषा में चमत्कारपूर्ण मनोहरता का समन्वय हो पाता है। सूर ने अपनी पदावलियों में जो मुहावरों एव कहावतों की वदिश की है, वह अत्यन्त ही मार्मिक एव सुघढ है। सूर साहित्य में जितने मुहावरे एव कहावतें है यदि उनका सग्रह हो तो शायद् एक पूरा कोष तैयार हो जाय। इसी के बल पर सूर की भाषा में जान आ गई है वह बोलने लगी है। कवि द्वारा प्रयुक्त कुछ मुहावरों को देखिये—

१ फूटि न गई तिहारी चारों कैसे मारग सूझै।
२ राधा तें हरि कैं रग राची।
३ सूर स्याम तेरैं बस राधा, कहति लीक मैं खाची।
४ अपने जियत नयन भरि देखौं, हरि हलधर की जोरीं।
५ खेलन अब मोरी जात बलैया।
६. काहे कौ द्वै नाव चढत हैं, अपनी बिपति करावत।
७ जाको मनमोहन अग करै।
ताको केस खसे नहिं सिर तें जो जग बैर परै।
८ वह मथुरा काजर की कोठरी जो आवहि ते कारे।
९ कट पट पर गोता मारत ही गिरे भड के गेत।
१० उगौं सौं समुझाइ प्रकट करि अपने मन की बानी।

इसी प्रकार सूर काव्य में कहावतों के भी दर्शन होते हैं। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं—

१ इनकी भई न उनकी सजनी, भ्रमत भ्रमत मैं भई अनाथ।
२ स्वान पूँछ कोटिक जो लागै सुधि न काहू करी।
३ सबै दिन एकै से नहिं जात।
४ सब दिन चौर को कहुँ होत है निर धाहु।
५ सूर मिले मन जाहि जाहि सों ताको कहा करै काजी।
६ जाको कोउ जिहि निधि सुमिरै सादृ तेही हित मानै।
७ सूरदास जा मन के खोटे अवसर पेर गाहि पहिचाने।
८ दुरत नहि नेह अरु सुगन्ध चोरी।
९ लागी मही कहा रुचि मानै सूर खवैया घी का।
१० उधो मन माने की बात।
दाख छुहारा छाँडि अमृत फल बिस कोड़ा बिस खात।
११ कहा कथत मासी के आगे, जानत नानी नानन।
जाको बान परी सहि जैसीं, सो नहि टेकि रहयौ।

सूर ने अपनी कविताओं में सस्कृत के तत्सम् शब्दों का उपयोग प्रचुरता से किया है, यथा—

रुख पर्यंक अङ्क ध्रुव देखियत कुसुम कन्द द्रुम छाये।
मधुर पर्तिका कुसुम कुंजन दम्पति लगत सुहाये।

इन दो पदों में पयङ्क, अङ्क मधुर आदि शुद्ध सस्कृत के तत्सम् शब्दों का प्रयोग मिलता है और इसके साथ साथ उन्होंने तद्भव शब्दों का भी प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट होता है कि सूर ने अपनी काव्य भाषा को शुद्ध ब्रजभाषा नहीं रहने दिया है प्रत्युत् उसे मिश्रित बनाया है। इससे भाषा अपने स्वाभाविक रूप में ढली रही है।

सूर ने खुमत ठोरत, छाक, पतुखी, पाख चीतत सरिक टकटोरत, परतूति औचट, धुकधुकी जैसे ग्रामीण शब्दों के प्रयोग द्वारा भाषा में अत्यधिक प्रभाव उत्पन्न कर दिया है।

चिरिया कहा समुद उलीचै।

कान्ह कुंवर को कनछेदन है,
हाथ सोहारी भेली गुर की।
बिदि बिहँसत, हरि हँसत हेरि हेरि,
जसुमति की धुकधुकी धुठिर की।
लोचन भरी भरी भरी दोउ माता
कनछेदन देखत जिय मुरकी।
रोवत देखि जननि अकुलानी
दियो तुरत नौआ कों घुरकी।
हँसत नंद गोपी सब बिहँसी,
झमकि चली सब भीतर दुरकीं।

महाकवि सूरदास ने लाक्षणिक और व्यंग्य प्रयोगों के द्वारा शब्दों की चमत्कारिता एवं अर्थ गाम्भीर्य सिद्ध किया है। इनकी कविताओं मे लाक्षणिक और व्यंग्य प्रयोगों का आधिक्य है। उदाहरणार्थ कुछ प्रयोग दिए जाते हैं—

१ औरन को मन चोरि रहे हो मेरो मन चोरे किहि काम।
२ सूर स्याम अंग माधुरी चमकि चमकि चकचौंधत गात।
३ मै तुमको अबहीं बाँधोंगी मोहि बूझि नैहो तब धाम।
४ लूटत देहु स्याम अंग शोभा।
५ तन मन लियौ अजोर।
६ लोगनि कहत झुकति तू बौरी।

इन प्रयोगों की बहुलता के कारण इनके प्रतिनिधि स्वरूप उदाहरण दे सकना भी सम्भव नहीं है। कवि ने जहाँ भी भाव और कल्पना की गम्भीरता सूक्ष्मता या उच्चता प्रदर्शित की है, वहाँ उसकी शब्दावली अपना वाच्यार्थ छोड़कर लक्षणा और व्यंजना की ओर आश्रित हो गई है। निम्न उदाहरणों मे व्यंजना की गम्भीरता और व्यङ्ग्यजन्य काव्य चमत्कार दृष्टव्य है"[1]—

१ चोरी के फल तुमहि चखाऊँ।
कंचन खंभ डोर-कंचन को देखो तुमहि बँधाऊँ॥
लरिकाई एक स्याम कहु तुमरो चोरी नाउँ मिटाऊँ।
जो चाहौं सोई सब लैहौं यह कहि डौंड़ि मगाऊँ॥
बीच करन जो आवैं कोउ ताको सौंह दिवाऊँ।
सूर स्याम चोरन के राजा बहुरि कहाँ मैं पाऊँ॥

२ देखहु सूर सनेह स्याम को गगन मंडल हम राखीं।
ऊधो जाहु तुमहिं हम जाने।
स्याम तुमहिं ह्यां को नहिं पठए तुम हो बीच भुलाने॥

३ ऊधो तुम जानत गुनहि भारी।
सब काहू के मन की बूझो बाँधो सूर फिरो ढिंग वारी।

४ पै तो प्रेम पुंज तनर जन हम तो शीश योग व्रतधारी।
सूर शपथ मिथ्या लगराई ये बातें ऊधो की प्यारी॥

परिस्थितियों के अनुरोध से सूर ने अपनी कविताओं मे अन्य सहयोगिनी भाषाओं के शब्दों का भी प्रयोग किया है जैसे—अवधी के खोइस, सोइस, इहर्यां मोर तोर, हमार आदि पंजाबी के प्यारी, गुजराती के नियों, बुन्देलखण्डी के गहिवी सहिवी आदि तथा राजपूताने और बैसवाड़े के शब्दों से भी उनके पद अछूते नहीं रहे हैं, पर इन देशों के शब्दों मे कोई विशेष परिवतन करन की आवश्यकता नहीं पडी है, क्योंकि इनकी खपत यों ही हो जाती है। तथा इनके क्रिया पद लेने का इनके शब्दों द्वारा क्रियापद बनाने की भी आवश्यकता नहीं पडी। पर इन्होंने अरबी फारसी के शब्दों को भी लिया है। और उनसे क्रियापद तक बनाये हैं। 'तुलसी' भी इस कला में निपुण है पर 'सूर' तुलसी की भांति अरबी फारसी के शब्दों मे संस्कृत के प्रत्ययादि कम लगाते हैं, पर उन्हें व्रजभाषा के ढाँचे ढालकर मुलायम करने से चूकते भी नहीं। 'मशक्कत' फारसी शब्द है, पर

[1] डा० व्रजेश्वर वर्मा—सूरदास, पृ० ५२४।

सूर ने इसको 'मसक्त' करके व्रजभाषा का सुकोमल आवरण दे दिया है। और भी उदाहरण देखिए—

१ सूर पाप को गढ़ दृढ़ कीना मुहकम' लाइ किवार।
२ निमिवासर विषभारस रचित कबहु न आयो बान'।
३ 'कुलहि' लसत सिर स्याम सुभग अति बहुविधि सुरग बनाई।
४ कछू हवस रही जिन मरी जाइ जोइ माहि हचै री।
५ सनूरी सेन हुहारे, पिस्ता, जे 'तरबूजा' नाम।
६ घूँघट पर कवच कहो छूट मान 'ताजी'।
७ सुनी आग को का सै कीन जहाँ 'ज्यान है' जी को।

क्रियापद बनाना तो इन्होंने भी नहीं छोड़ा। पर उसमें सूरत्व की छाप लगी है। जो शब्द प्रचलित हैं उन्हीं के क्रियापद बनाये हैं अप्रचलित या सोचकर गर्थ लगने वाले पदों के नहीं[1]।

महाकवि सूरदास ने प्राकृत के नियमों का उपयोग भी डल्ले के साथ किया है। प्राकृत के नियम के अनुसार 'ट' 'र' हो जाता है इसी आधार पर उन्होंने 'कीट' को 'कीर' भी बना दिया है। और उदाहरण लीजिए—

१ कागज धरनि करै दुमलेखनि जल सायर' मसि घोर।
२ समता घटा, मोह की बूँदें सलिता' मैन अपारो।

सूर की भाषा के गुणों के विश्लेषण का यह तात्पर्य नहीं कि उनकी भाषा मे दोष नहीं है। सूर की भाषा में मुख्यतया चार प्रकार के दोष पाये जाते है।

सबसे बडी बात तो यह है कि सूरदास जी ने तुर पूर्ति के निमित्त शब्दों के रूप को इस प्रकार विकृत कर दिया है कि वे पहचाने नहीं जाते हैं। नीचे एक पद उद्धृत किया जाता है जिसमें पद विकार अनुचित मात्रा मे विद्यमान है—

सुनत ही सब हाँकि बयाये गाइ करि इकठैन।
वारि दै दै ग्वाल बालक किय जमुन तट गैन॥

इसमे 'गैन' शब्द का प्रयोग बहुत खटकता है और वह नियम विरुद्ध भी है। इतना ही नहीं तुकान्त के अलावे भी जरूरत पडन पर पद के बीच म भी शब्द के विकृत रूप मिलते हैं। अत इस सबध मे हमे यह कहना है कि ऐसे स्थलों की सख्या अत्यन्त अल्प है। शायद शब्दों के तोड मरोड कवियों का जन्म सिद्ध अधिकार है। इस प्रकार के दोष के कुछ और उदाहरण लीजिए—

१ सूरदास कछु कहति न आवै गिरा भई अति पग। (पग=पगु)
२ सूरदास प्रभु तुम्हारे दरस को चरनन की बलि गैया॥ (गैया=गया)
३ श्री सकर बहु रतन त्यागि कै विषहि कठ लपटेय। (लपटय=लपटाना)
४ सुनहु सखा सुग्रीव विभीषण अवनि अयोध्या नाउँ। (नाउँ=नाम)
५ कबहु चितै प्रतिबिंब खंभ में लवनी लिए खवावत। (खवावत=नवनीत)
६ कनक खभ प्रतिबिंबित सिसु इक लौनी ताहि खवावहुँ। (खवावहुँ=नवनीत)

इन उदाहरणों से यह प्रतीत होता है कि सूर न पक्तियों के बीच मात्राओं के घटने बढ़ाने या आखिर मे तुक पूर्ति के निमित शब्दों के रूप को विकृत किया है लेकिन उसमे सूर का सूरत्व' अन्तर्निहित है।

सूर की कविताओं मे व्याकरण सबधी दोष भी पाये जाते हैं इसलिए हमे यह स्वीकार करना पड़ता है कि तुलसी की भाँति इनकी भाषा मे चुस्ती नहीं हैं, जैसे—

रानपुत्र दोउ ऋषि लै आये
सुनि सन जनक बड़ी पगुधारी।

[1] सूर पचरत्न—पृष्ठ ६६।

इस सदर्भ मे 'जनक' शब्द पुलिंग है इसलिए पगुधारी' न होकर पगुधारे' या पगुधारा' का प्रयोग होना अलावश्यक था। सूर ने सूल' शब्द का प्रयोग कहीं स्त्रीलिंग के रूप में प्रयोग किया है और कहीं पुलिंग मे। इस प्रकार की त्रुटियों का एकमात्र कारण यह है कि उनके ग्रथो की मूल प्रति नहीं मिली है इसलिए यह त्रुटि शायद प्रतिलिपिकारों की ही रही हो।

सूर ने अपनी कविता मे अनावश्यक शब्दो का भी प्रयोग किया है इसलिए उनमे शिथिलता सबधी दोष भी पाया जाता है जैसे—

चित्रकूट गये भरत मिलन जब
'पग पॉवरि' है करी कृपारी।

इस पक्ति 'पग' शब्द का प्रयोग निरर्थक है क्योंकि 'पॉवरि' कहने से ही अर्थ प्रकट हो जाता है। इसलिए यहाँ पर अधिक पद दोष' है।

सूर ने अपनी कविताओं मे सु 'ज' आदि का अत्यधिक प्रयोग किया है क्योंकि वे प्रतिदिन गा गा कर पद रचना करते थे और भक्तों को सुनाया करते थे। अतएव पद पूर्ति के लिए ऐसे शब्दों के प्रयोग के बिना काम नहीं चलता था।

सूर शब्द क्रीडा के अनुरागी रहे हैं और यह बात उनके दृष्टिकूट पदो के साथ लागू होती है। दृष्टिकूट पदो के भावों को हृदयगम करने मे सर खपाना पडता है। इस प्रकार के पदों मे कुछ शब्दों का प्रयोग नये अर्थों मे किया है, जो सामान्य पाठक को नजर से देखने पर विचित्र मालूम पडते है। साहित्य लहरी मे इसके अनेक उदाहरण मिलते है।

इस प्रकार हम देखते है कि 'सकल वस्तु गुन दोषमय' के अनुसार सूर की भाषा मे कतिपय दोष भी पाये जाते है फिर भी वह प्रवाहपूर्ण एव शक्तियुक्त है। उनकी भाषा अनुप्रास हीन होने के बावजूद भी साहित्यिक है। अतएव यह गौरव की बात है कि चलती फिरती बोलचाल की भाषा को सूर के कारण ही उच्च साहित्यिक पद मिला। 'आगे चलकर अन्य कवियों ने ब्रजभाषा का जो महल तैयार किया, उसकी नीम रखने का श्रेय सूरदासजी को ही दिया जाना चाहिए।'

———

(पृष्ठ शेष २१३)

आता है तो दूसरा दब जाता है और कभी दूसरा आता है तो पहला दब जाता है तो असगत न होगा। किन्तु तुलसी का अध्ययन गहराई से किया जाय तो शुक्लजी के शब्दों मे पूर्ण सत्यता ही मिलेगी। इसमे शील (धम, भक्ति भावना) के असामान्य उत्कर्ष की महत्ता।" सौन्दर्य से आकर्षित, शक्ति से चकित वह राम मे भक्त की प्रतिष्ठा देखता है तो अत्यन्त आकर्षण से प्रम, श्रद्धा और भक्ति करने लगता है। व्यक्तिगत जीवन मे उनकी भक्ति और सामाजिक जीवन मे उनके शील के अनुसार आचरण है। शील हृदय की वह स्थिति है जो सदाचार को प्रेरणा देती है। वह भक्ति किस काम की जो लौकिक, सामाजिक जीवन मे सदाचार की, लोक सेवा की प्रेरणा न दे। भक्ति मे शील की महत्ता होने के कारण और इतनी अत्यन्त शील की राम म प्रतिष्ठा होने के कारण शुक्लजी द्वारा निरूपित तुलसी मे भक्ति रस का पूर्ण परिपाक है।

गताङ्क से आगे :—

औपन्यासिक रचनातंत्र और प्रेमचन्द

(प्रो० महेन्द्र भटनागर एम० ए०)

उपन्यास की कथा का रोचक होना भी जरूरी है। यदि कथा रोचक नहीं हुई तो पाठक का मन उसमे रम नहीं सकता। सामाजिक के मन पर उपन्यासकार के उद्देश्य का प्रभाव कथा के द्वारा ही सबसे अधिक पड़ता है। यदि उसमे रोचकता नहीं होगी तो लेखक का प्रयत्न असफल सिद्ध होगा। प्रेमचद इसी रोचकता के सबध मे एक स्थल पर लिखते हैं

'उपन्यासकार को इसका अधिकार है कि वह अपनी कथा को घटना वैचित्र्य से रोचक बनाए लेकिन, शर्त यह है कि प्रत्येक घटना असली ढाँचे से निकट सबध रखती हो। इतना ही नहीं, बल्कि उसमे इस तरह घुल मिल गई हो कि कथा का आवश्यक अग बन जाए अन्यथा उपन्यास की कथा उस घर की सी हो जाएगी जिसका हर एक हिस्से अलग अलग हों। जब लेखक अपने मुख्य विषय से हटकर किसी दूसरे प्रश्न पर बहस करने लगता है तो वह पाठक के उस आनन्द मे बाधक हो जाता है जो उसे कथा मे आ रहा था। उपन्यास में वही घटनाएँ, वही विचार लाना चाहिए जिनसे कथा का माधुर्य बढ़ जाय, तो प्लाट के विकास मे सहायक हों अथवा चारित्रों के गुप्त मनोभावों का प्रदर्शन करते हो"।[1]

मराठी के उपन्यासकार श्री ना सी फड़के ने कथावस्तु की रोचकता के लिये एकसूत्रता (अर्थात ऐक्यता का भाव) को महत्व दिया है —

'कथावस्तु मे एकसूत्रता होनी चाहिए अर्थात् तदन्तर्गत (कथावस्तु के अन्तर्गत) विभिन्न घटनाएँ एक साथ मिलकर पाठक के मन पर एक ही प्रभाव डाले।"[2]

श्री ना० सी० फड़के ने कथावस्तु के लिए जिज्ञासा, उत्कठा विस्मय और आवश्यक तत्व बताए है

'प्रत्येक ललित कथा (कथावस्तु) जिज्ञासा, उत्कठा और विस्मय इन तीन भावों के उत्कर्ष पर निर्भर रहती है।"[3]

कथावस्तु के आधार पर उपन्यासों के दो भेद किए गये हैं —

(१) निरवयव कथावस्तु के उपन्यास।
(Novels of Loose plot)

(२) सावयव कथावस्तु के उपन्यास।
(Novels of organic plot)

निरवयव कथावस्तु के उपन्यासों में वस्तु की सघटना शिथिल रहती है। घटनाओं का घटाटोप सा रहता है। आपस मे घटनाओं का सबंध टूटा सा रहता है। कोई तर्क सगत घटनाएँ एक दूसरे को आगे नहीं ढकेलती।

---

१ कुछ विचार। पृष्ठ ५१

२ 'कथावस्तुत एकसूत्रता असली पाहिजे याचा अर्थ असा, की त्यातील सर्व प्रसगाना मिळून वाचकाच्या मनावर एक आघात झाला पाहिजे'। 'प्रतिमा साधन' पृष्ठ १२१

३ 'जिज्ञासा, उत्कठा आणि विस्मय या तीन भावांवर प्रत्येक सरस ललित कथा आभ र लेली असते"। प्रतिमा साधन' पृष्ठ १२८

सावयव उपन्यासों में कथावस्तु सुगठित एव व्यवस्थित रहती है। उसकी प्रत्येक घटना अतिम परिणाम की ओर अग्रसर होती है। उसमे किसी घटना का निरर्थक समावेश नहीं किया जाता।

विस्तार के अनुसार भी कथा के दो भेद किए गये हैं —

(१) एकार्थ या शुद्ध (Simple)

(२) सकुल (Compound)

जिस उपन्यास मे केवल एक कथा हो उसे एकार्थ या शुद्ध कथावस्तु का उपन्यास कहेंगे जिस उपन्यास मे दो या दो से अधिक कथाएँ साथ साथ चले उसे सकुल कथावस्तु का उपन्यास कहा जाएगा।

(२) पात्र और चरित्र चित्रण

कथावस्तु के पश्चात् उपन्यास का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व चरित्र चित्रण है। उपन्यास मे चरित्र का अर्थ आचरण शास्त्र मे समझा जाने वाला अर्थ नही है। साहित्य के अन्तर्गत चरित्र का अर्थ मानव पात्रों का चित्रण है, जिसका आधार मनुष्य के राग व सनावेग हैं। अत पात्रों के जीवन पर उपन्यास का चरित्र चित्रण निर्भर करता है।

उपन्यासकार को प्रत्येक पात्र के चरित्र से पहले से ही अवगत होना आवश्यक है तभी वह उन पात्रों के जीवन सघर्षों मनोवेगों, विचारों और क्रिया कलापों का उचित लेखा जोखा दे सकेगा। प्रत्येक पात्र के व्यक्तिगत और बहिगत जीवन का सूक्ष्म अध्ययन उसके लिए अनिवार्य है। दूसरे उपन्यासकार को जीवन को उन स्थितियों से भी परिचित होना आवश्यक है जिसने उसके पात्रों के मानसिक जगत का निर्माण किया है। राल्प फोक्स के शब्दों मे —

'उपन्यासकार किसी भी वैयक्तिक जीवन की गाथा नहीं लिख सकता जब तक उसमे समग्र जीवन की सतर्क दृष्टि न हो। उसे यह जानना आवश्यक है कि उसके पात्रों की वैयक्तिक सघर्षों से किस प्रकार उसके अतिम परिणाम निकलते है। इसके लिए उसे यह जानना चाहिए कि जीवन की वे कोन सी विभिन्न स्थितियाँ है जिन्होंने *उन व्यक्तियों को जैसे वे हैं बनाया है।*' [1]

उपन्यास मे पात्रों की सख्या सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। श्रेष्ठ उपन्यास मे भी पात्रों की सख्या पचास साठ तक पहुँच जाती है। लेकिन पात्र बहुत अधिक नहीं होने चाहिए। उपन्यास के क्षेत्र की विशालता को देखते हुए पात्रों की सख्या यदि अधिक भी हो तो अखरती नहीं है। उपन्यास में अधिकांश पात्र पथिकों के समान आते है। ये केवल कथानक को गति देकर अथवा वातारण में रग भरकर चले जाते है। दूसरे, पात्रों की सख्या उपन्यास के विषय और विस्तार पर भी निर्भर करती है। मुख्य प्रश्न उपन्यास मे नायक का है, क्योंकि नायक ही अधिकाशत उपन्यास का केन्द्र होता है। नायक और नायक के निकट सम्पर्क रखने वाले पात्रों के सबध मे ही उपन्यासकार को विशेष रुचि होती है। ऐसे उपन्यासकारों को जो चरित्र चित्रण को प्रधानता देते है, नायक के

1 The Novelist cannot write his story of the individual fate unless he also has this steady vision of the whole He must understand how his final result arises from the individual conflicts of his characters, he must in turn understand what are the manifold conditions of lives which have made each of those individuals what she or he is'

Page 15 & 16

The Novel and the People bo Ralph Fox

चित्रण में विशेष जागरुक रहना पड़ता है। प्रेमचन्द ने औपन्यासिक चरित्र चित्रण के अन्तर्गत पाठक और पात्रों के बीच में आत्मीयता के भाव उत्पन्न करना प्रधान औपन्यासिक धर्म बताया है —

"यह जरूरी नहीं कि हमारे चरित्र नायक ऊँची श्रेणी के ही मनुष्य हों। हर्ष और शोक, प्रेम और अनुराग, ईर्ष्या और द्वेष मनुष्य मात्र में व्यापक है। हमें केवल हृदय के उन तारों पर चोट लगानी चाहिए जिनकी झनकार से पाठकों के हृदय पर भी वैसा ही प्रभाव हो। सफल उपन्यासकार का सबसे बड़ा लक्षण है कि यह अपने पाठकों के हृदय में उन्हीं भावों को जागरित करदे जो उसके पात्रों में हो। पाठक भूल जाय कि वह कोई उपन्यास पढ रहा है उसके और पात्रों के बीच में आत्मीयता का भाव उत्पन्न हो जाय।"[1]

अतः पात्रों की मुख्य विशेषता उनकी सजीवता है, तभी पाठक और पात्रों के बीच भावात्मक संबंध स्थापित हो सकते हैं। पात्र इसी दुनिया के होने चाहिए। उपन्यासकार को अपनी काल्पनिक दृष्टि से ऐसे ही पात्र खड़े करने चाहिए जो वास्तविक मनुष्यों के समान अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों में कार्य करें। उनमें असाधारणता अथवा अलौकिकता नहीं आनी चाहिए, अन्यथाया तो वे अत्यधिक व्यक्तिवादी हो जाएँगे या किसी दूसरी दुनिया के, और पाठकों के मनोजगत् से उनका तादात्म्य नहीं हो सकेगा।

माना कि पात्रों की सृष्टि उपन्यासकार स्वयं करता है। यह अपने उपन्यास के पात्रों का जनक है पर वे पात्र निर्जीव नहीं होते। उनका अपना व्यक्तित्व होता है। उपन्यासकार उन्हें अपनी इच्छानुसार हिला डुला नहीं सकता। पात्र उपन्यास में एक सजीव शक्ति होते हैं। वे कठपुतली की तरह नचाए नहीं जा सकते। उनकी स्वतन्त्रता छीन लेने पर उपन्यास का महत्व घट जाता है। पात्र वही काम करें जैसा कि उन परिस्थितियों में कोई भी उसी श्रेणी और संस्कार का व्यक्ति कर सकता है। पात्रों के इसी स्वाभाविक चित्रण के संबंध में प्रेमचंद लिखते हैं —

'विकास परिस्थिति के अनुसार स्वाभाविक हो, अर्थात् पाठक और लेखक दोनों इस विषय से सहमत हों। अगर पाठक का यह भाव हो कि इस दशा में ऐसा नहीं होना चाहिए था तो उसका यह आशय हो सकता है कि लेखक अपने चरित्र के अंकित करने में असफल रहा।"[2]

प्रेमचंद ने चरित्र परिवर्तन के संबंध में काफी जोरदार शब्दों में लिखा है। वे प्रत्येक चरित्र के परिवर्तन में विश्वास रखते थे। स्थिर पात्रों के उपन्यास उनकी दृष्टि में उच्चकोटि के नहीं माने जाने चाहिए। लेकिन यह स्मरण रखना है कि प्रेमचंद ने स्वाभाविकता के साथ चरित्र परिवर्तन पर बल दिया है। चरित्रों के विकास के संबंध में वे लिखते हैं —

"उपन्यास के चरित्रों का चित्रण जितना ही स्पष्ट, गहरा और विकासपूर्ण होगा उतना ही पढ़ने वालों पर उसका असर पड़ेगा।
जिस तरह किसी मनुष्य को देखते ही हम उसके मनोभावों से परिचित नहीं हो जाते, ज्यों ज्यों हमारी घनिष्ठता उससे बढ़ती है त्यों त्यों उसके मनोरहस्य खुलते हैं, उसी तरह उपन्यास के चरित्र भी लेखक की कल्पना में पूर्ण रूप से नहीं आ जाते, बल्कि उनमें क्रमशः विकास होता जाता है। यह विकास इतने गुप्त अस्पष्ट रूप से होता है कि पढ़ने वाले को किसी तब्दीली का

१ कुछ विचार। पृष्ठ ५२
२ कुछ विचार। पृष्ठ ५४.

ज्ञान भी नहीं होता। अगर चरित्रों में किसी का विकास रुक जाय तो उसे उपन्यास से निकाल देना चाहिए क्योंकि उपन्यास चरित्रों के विकास का ही विषय है। अगर उसमें विकास दोष है, तो वह उपन्यास कमजोर हो जायगा। कोई चरित्र अंत में भी वैसा ही रहे जैसा वह पहले था उसके बल बुद्धि और भावों का विकास न हो, तो वह असफल चरित्र है।"[१]

उपन्यासों में चरित्र चित्रण के दो प्रकार अथवा शैलियाँ प्रचलित हैं —

(१) विश्लेषणात्मक
(२) रूपकात्मक

विश्लेषणात्मक चरित्र चित्रण में लेखक पात्रों के विचारों, भावों प्रवृत्तियों आदतों आदि का विश्लेषण करता है और स्वय ही उनके सबध में निर्णायक रूप से स्थल स्थल पर अपने विचार व्यक्त करता है।

लेकिन रूपकात्मक प्रणाली में ऐसा नहीं होता उसमें लेखक अपनी ओर से कुछ नहीं बोलता। वह परिपार्श्व में रहता है। पात्र स्वय अपने चरित्र की झलक देते हैं। यह उनके कार्यों और सवादों के द्वारा सम्पन्न होता है। पात्र अपनी सबलताओं और दुर्बलताओं को स्वय अनावृत्त करते हैं आधुनिक उपन्यासों में रूपकात्मक प्रणाली विशेष रूप से प्रचलित है और यह है भी अधिक मनोवैज्ञानिक।

मराठी उपन्यासकार ना सी फडके ने चरित्रांकन की दो पद्धतियों का उल्लेख किया है —

(१) साक्षात पद्धति (प्रत्यक्ष)
(२) प्रतिबिम्ब पद्धति (परोक्ष)

"साक्षात पद्धति में लेखक स्वय देखता है, और जो कुछ वह प्रत्यक्ष देखता व सुनता है उसे अक्षरश पाठकों के सम्मुख रख देता है।

प्रतिबिम्ब पद्धति में लेखक साक्षात् वस्तु की ओर सकेत नहीं करता वरन् वह पाठकों से कहता है, "यह देखिए, इस वस्तु का प्रतिबिम्ब अमुक व्यक्ति के (पात्र के) स्वभाव में उभरा हुआ है"[२]।

(शेष पृष्ठ २४४ का)

इच्छा, क्रिया और ज्ञान एक में मिलाकर उज्ज्वलित कर देती है और फिर चहुँ ओर शृंग और डमरूका निनाद गूँज उठता है। इस दिव्य अनाहत नाद में मनु तन्मय हो जाते हैं

'स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे,
दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धा युत बस मनु तन्मय थे।'

इस प्रकार महाकाव्य में जिस गाम्भीर्य परिष्कृत अभिरुचि और उदात्त भावनाओं का समावेश होना चाहिए वह 'कामायनी' में सहजरूप में विद्यमान है। कामायनी में जहाँ कहीं दार्शनिक विवेचन हुआ वहाँ मानव जीवन तथा इतिहास की पीठिका वर्तमान है, जिसमें उसका दर्शन अत्यन्त व्यवहारिक एवम् मनोवैज्ञानिक हुआ है। वास्तव में प्रसाद जी ने दर्शन से जीवन को देखा है और जीवन से दर्शन को। साथ में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अत्यन्त सुघडता से किया गया है। इसीलिए प्रसाद जी 'कामायनी' की दार्शनिक एवम् मनोवैज्ञानिक पिठिका पर मानव जीवन का आनन्द पूर्ण भवन निर्माण करने में सफल हो सके हैं।

१ कुछ विचार। पृष्ठ ५४
२ 'साक्षात पद्धति या पद्धतीत लेखक साक्षात् पाहात व ऐकत असतो व जे दिसल व ऐकू येईल ते सरळ वाचका पुढे माडीत असतो। पृष्ठ १३५

कवि 'पद्माकर'

[लि० प्रो० जयभगवान गोयल एम० ए०]

हिन्दी का जो भी आलोचक कवि पद्माकर पर लिखने बैठा उसने उन्हें शृङ्गारी कवि ही घोषित किया। कुछ ने तो उन्हें शृङ्गार की इस सरिता में इतना डूबा हुआ बताया कि उनमें उससे ऊपर उठने का सामर्थ्य ही नहीं था।

वास्तव में यदि देखा जाय तो इन लोगों का इस में दोष भी नहीं। शृंगार की जो एक अजस्र धारा उस युग में प्रवाहित हो रही थी उसे बाढ़ के बीच आने वाले जो भी कवि हुए–सभी शृंगारी थे ऐसी धारणा उन्होंने मूलरूप से बना ली। उनके कथनानुसार जब भूषण सा वीरभावनापूर्ण कवि भी उससे न बच सका तब भला पद्माकर कैसे बचे रहते। और वे लोग उनके एक ग्रंथ जगद्विनोद से नायक नायिकाओं के हाव भाव चेष्टाओं के उदाहरण छांटकर रखने से अपने कथन की सार्थकता सिद्ध करते हैं। परन्तु हमें देखना यह है कि उनका यह कथन कहाँ तक सत्य है। तथा कवि पद्माकर कहाँ तक शृंगारी कवि हैं और उस युग के प्रवाह में वे कहाँ तक बहे।

किसी भी कवि की केवल एक रचना पर दृष्टि रखकर और उसके भी रचे जाने की मूल प्रेरणा व कारण को जाने बिना—तथा उसके समस्त साहित्य का अध्ययन किए बिना कोई मत दे देना उस कवि के प्रति अन्याय है। पता नहीं भूषण के प्रति इन लोगों की सहृदय दृष्टि कैसे जा पहुँची और उसे इस गंदी नाली से कैसे कुछ ऊपर उठा दिया—कदाचित शिवाजी तथा छत्रसाल के व्यक्तित्व ने उसकी सहायता की हो अर्थात् अब उस बेचारे का भी वही गति बनने जा रही है। पद्माकर की ओर तो सभी ने एक दृष्टि से देखा शृंगारी दृष्टि से यह धारणा मूल बद्ध करके कि वे शृंगारी युग के शृंगारी कवि हैं। और जो कुछ हो वह औपचारिक मात्र था पश्चाताप के फलस्वरूप। परन्तु यदि ध्यान पूर्वक उनके समस्त साहित्य का अवलोकन किया जाए और उस पर सहृदयता पूर्वक विचार किया जाए तब जिसे वे औपचारिक मात्र कहते हैं, वह भाव ही 'पद्माकर' में मुख्य जान पड़ता है शृंगारी भाव गौण।

श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'पद्माकर' की कविता को वीर शृंगार, रमणीयता चित्रण और भक्ति का पञ्चामृत कहा हो परन्तु मुख्य भाव शृंगार ही माना। चित्रण तथा रमणीयता तो कलात्मकता से सम्बन्धित है वीर भावना को इस स्थान पर हम एक ओर रख देते हैं—यद्यपि वह भी भूषण, लाल, सूदन से किसी भांति कम नहीं, आलम्बन का अन्तर हुआ तब क्या। वीर रस का इसके पूर्ण अवयवों के साथ प्रस्फुटन इन के हिम्मत बहादुर विरदावली नामक ग्रंथ में हुआ है। यहाँ तो केवल हमें दो भावों पर विचार करना है शृंगार तथा भक्ति पर।

पद्माकर के पांच ग्रंथ अभी तक प्रकाशित हुए हैं। हिम्मत बहादुर विरदावली, जगद्विनोद प्रबोध पचासा, गंगालहरी पद्माभरण तथा एक और रामरसायण भी इनका ग्रंथ माना जाता है जिसमें विष्णु के अवतार भगवान राम की गाथा दोहा चौपाइयों में वर्णित है। इनमें से हिम्मत बहादुर विरदावली तो वीर काव्य है पद्माभरण अलंकार ग्रंथ है गंगालहरी प्रबोधपचासा तथा रामरसायण भक्ति ग्रंथ हैं तथा केवल जगद्विनोद शृंगार काव्य है वह भी मुख्यत नायिका भेद का।

इन ग्रंथों की मूल प्रेरक भावना पर जब हम विचार करते हैं तो हिम्मत बहादुर विरदावली

स्पष्ट ही राज्याश्रय की प्रशंसा है पद्माभरण के अन्त में स्वयं कवि ने लिखा है कि कवि पथ (परम्परा) पालन करने के लिए यह लिखा गया। जगद्विनोद के सम्बन्ध में कवि ने लिखा है कि यह महाराज जगतसिंह (जिसके वे आश्रित थे) हुक्म से लिखा गया—अर्थात् वह कवि की अपनी प्रेरणा नहीं, वह अपने मनोविनोद या आत्मतोष के लिए नहीं लिखा गया, केवल राजा की आज्ञा का पालन भर किया है भला जिस राजा के वे आश्रित है जिससे वेतन प्राप्त करते है जिसके आधार पर उनके जीवन का निर्वाह होता है उसका आज्ञा का उलघन वे कैसे करते—यद्यपि ऐसा करने से उन की आत्मा को बहुत दुख हुआ दूसरे इस ग्रंथ की रचना करके उन्होंने परम्परा का पालन भी किया—कवि समाज के स्थान पाने के लिए। इस ग्रथ को ध्यान से देखने से यह भी स्पष्ट है कि कवि ने कहीं भी बिहारी सा खिलवाड नहीं किया और नहीं वात्सल्य के शृगार की वेदी पर बलिदान से रसाभास करके अत्यधिक रसिकता का प्रदर्शन किया है और नहीं उहात्मकता व उसी कल्पना में उनका मन रमा। हा उसमे जो रमणीयता है वह उनका कवित्व शक्ति तथा प्रतिभा के कारण है। ऐसी ग्रथ की रचना करके जिसमें रसात्मकता न हो, क्या वे अपने को अपकीर्ति का भाजन बनाते और अपने कवित्व का गला घोंट देते। अब रहा प्रबोधपचासा और गगालहरी आदि का सो इनके अन्तिम पदों से स्पष्ट है कि कवि ने इन ग्रन्थों की रचना न किसी परम्परा का पालन करने के लिए की और न किसी की आज्ञा के पालन स्वरूप। बल्कि यह उनके हृदय की स्वत निसृत वाग्धारा है, उनके मन की वास्तविक अभिव्यक्ति है उनकी आत्मा की चीज है और यहीं वास्तव में कवि की मुख्य व मूल प्रेरणा व भावना है।

अत इस मूल प्रेरणा पर ध्यान दिए बिना काव्य के तीन भक्ति ग्रथों तथा अनेक फुटकर रचनाओं को देखते हुए भी केवल एक जगद्विनोद को सामने रखकर उसे शृगारी कवि कहकर कुलषित करने का साहस हमारा नहीं होता। वह उनके साथ अन्याय ही कवि को मजबूर हो कर शृगार काव्य रचना पडा, उसके लिए वह स्वय पश्चाताप व ग्लानि से गल रहा है, वह इस लोभ की लपट में कभी न आता यदि उसे पेट का चपेट" न होती'। वह तो किसी कन्दरा में बैठकर तप करना चाहता था किसी मंदिर में बैठकर रघुनाथ की गाथा गाना चाहता था। परन्तु मूर्खता के कारण स्वार्थवश उसे राजा को निभाना पडा[2] आदि की भावना उसके मन मे कितनी बलवती है किन्तु परिस्थितियों से विवश होकर अपनी इच्छा के विरुद्ध उसे कार्य करना पडा, जिसके लिए वह दुखी है। फिर भी हृदय के वास्तविक उद्गार समय समय पर एकान्त नीरव क्षणों मे व्यक्त होते ही रहे, वे भक्ति रस म गोते लगाते ही रहे। अपने रामनाम का मर्म कथा लोगों को सुनाने के लिए व्याकुल रहे और अन्त म उन्होंने रामरसायण की भी रचना की[3]।

या तो शृगार की सरिता मे गोते लगाते २ ऊबकर या जीवन के अन्तिम क्षणों में कुछ पछता कर, रामनाम या कृष्ण राधा की प्रेम की पावन गगा मे बहुत से रीतिकालीन कवियों ने गोते लगाने का प्रयत्न किया-कदाचित उनके पाप नष्ट हो जाय। शृगार रस से सराबोर रसिक कवि बिहारी भी भक्ति के सम्बन्ध मे दो चार दोहे कह गए – निर्गुण मत का भी अलापना की,

---

१–प्रबोधपचासा छद ५०

२–फुटकर

३–वही १२

पर वह क्या उनकी मूलगत भावना थी। इसमें सन्देह हो, वे तो रसिक थे भरे पूरे रसिक, भक्त नहीं थे। राधा कृष्ण की वन्दना भी वे तथा उनसे अनेक कवि इसलिए करते थे कि वे उनके काव्य के नायक नायिका हैं, दूसरे उनकी वन्दना में कही गई चमत्कारपूर्ण विलासपूर्ण उक्तियों से वे रसिकों को भी मुग्ध कर देते थे जभी तो आगे के 'कविरीति है तो सुकविताई नतरू राधा माधव सुमिरन को बहानो है" वाली उक्ति उनके सम्बन्ध में चरितार्थ है। परन्तु पद्माकर रसिक नहीं थे, वे भक्त थे आगे के कवि रीति है वाली बात से धोखा देही का आरोप उन पर नहीं लगाया जा सकता। उनके हृदय से तो भक्ति की स्फीत धारा स्वत प्रवाहित हो रही है और वे पुकार उठते हैं—

रात दिन आठौयाम राम राम राम राम।
सीताराम सीताराम सीताराम कहिए॥

क्या और किसी रीतिकालीन कवि की वाणी में इस प्रकार का स्वाभावोक्ति तथा तल्लीनता से सनी उक्ति मिलेगी इस कथन में किसे सदेह हो सकता है कि यह धोखादेही की भक्ति नहीं।

अब आओ जरा उनकी भक्ति के स्वरूप की बानगी भी देखें।

ससार की नश्वरता असारता तथा मनुष्य के इस हाड़मास के शरीर का जिसे कबीर आदि सतों ने मिट्टी का घड़ा कहा है निस्सारता तथा क्षणभगुरता को बताते हुए कहते हैं कि यह तो पानी के बुदबुद के समान क्षणभगुर है यम राज रूपी पवन का एक झोका इसको नष्ट कर देगा। यह तो केवल प्राण वायु के आधार पर टिका हुआ है।

सॉंस यम डोलत सुचा का विश्वास कहा,
मांस यत वीले मता मांस ही को गाला।
कहै 'पद्माकर' विचारे क्षणभगुर का,
पानी को सो फेन जैसे फलक फफोला।
करम कोरा पचतावन य रैा फेरि,
ठौर ठौर जोला फेरि ठौर ठौर पोला है।
छोड हरि नाम नहीं पैहै विसराम अरे,
निपट निकाम तन चाम डीधो चोला।

(प्रबोधपचासा छद ९०)

चाम का यह चोला मल और मूत्र का गोला है, इसलिए सब काम को त्यागकर रामनाम का जाप करो तभी इस शरीर का साथकता है।

सीतापति राम के सनेह बस बोली जो दै।
तौ ता दिव्य देह जम जातना न पीसी है॥
रीति रामनाम न रही जो बिन काम तौना।
खारिज खराब हाल खाल की खलीती है॥

इस प्रकार वे कहते हैं कि ससार की सुत पितु मात पत्नी, नौकर चाकर, स्वामी, सगे सम्बन्धी कोई किसी का नहीं। इसलिए इनके लोभ में मत लिपटो। ऐसे स्थलों पर कवि कबीर, दादू सुन्दरदास आदि सतों की वाणी में बोलते प्रतीत होते हैं।

'पद्माकर' वैष्णव भक्त थे। उन्होंने दास्यभाव की भक्ति को ही अपनाया। ठीक तुलसी तथा सूर की भाँति उन्होंने अपनी दीनता, अधमता पतितता का वर्णन किया, पश्चाताप और ग्लानि में गले तथा अपने इष्टदेव की महानता महिमा सर्व शक्तिमता, सर्वज्ञता, करुणय, पतितपावनता, भक्त वत्सलता अशरणशरणता, आदि का वर्णन एक भक्त की भाति किया। अपनी अधमता का वर्णन करते हुए वे कहते हैं —

आगुन अनत खरदूषण लौ दीपवन्त,
मुन्ड त्रिसिरा लौ जाको एक हू न जस है।
कहै पद्माकर कबंध लौ मदंध महा,
पापी हो गरीब लौ नद या की दरस है।
मथरा लौं मथर कपटी पथ पाहन लौं,
आजि हूलौं विपद न जान्यौ और रस है,
व्याध हूलौं बधिक बिराधलौं विराधी राम।
केम पैन तारो तो हमारे कहा बस है।

(प्रबोधपचासा छद १३)

उन्हें भय है कि सीता का झूठा कलंक सुनकर भी राम ने उन्हें त्याग दिया तब मेरे वास्तविक पापों को जानकर भी वे मुझे कैसे पार करेंगे। पर नहीं वह तो सर्वशक्तिमान है, दशरथ पुत्र सुमेरु को राई, तथा राई को सुमेरु बनाने में समर्थ है[2] और फिर वह पतित पावन भी तो है उसने गज, गणिका अजामिल गृद्ध गीध कितने पापियों को पार किया। तब वह उन्हें क्यों पार नहीं करेगा[3]। अरे वे पतित पावन भी तो तभी हैं जब उन्हें मेरे जैसे पापी उबारने को मिले हैं—

पातत न मोसो जो व अधम कहूं तो राम,
कैसे तुम अधम उधारन कहावते।

(वही १४)

ऐसे स्थानों पर तो कहीं २ वे सूर की भांति होड लगा बैठते हैं कि मुझ जैसे पापी को तारने मे आप समर्थ होगे इसमे भी सन्देह है। परन्तु ऐसे स्थानों पर भी उनके हृदय की दीनता व ग्लानि ही प्रकट हुई है। कहीं २ तो भगवान से इतने नाते जोड लेते हैं कि सम्बन्धी होने के कारण उन्हें इन्हे उबारना ही पडेगा देखिए।

पातकी पावन हो तुमराम, रहे हम पातक में मदगुमान,
दीनके बन्धु दयाल छके तुमही, हम दीनदयानके पान
पालक हो तुम विप्रन के हम हू पद्माकर विप्र सुजान,
याते हटो न हटो प्रभु पास्ते ह तुम तें हमसे बहु नात,

(वही ४३)

यहाँ। सूर के तुम 'पतितपावन हौ पतितन को राम' का सा भाव दिखाई देने लगता है।

उनके काव्य में अधिकतर राम की ही वदना की गई है। पर किसी एक देव तक ही उनकी भक्ति सीमित नहीं थी उन्होंने तो सभी देवी देवताओं पर अपनी श्रद्धा भक्ति के सुमन चढाए। गौरी, गणपति गणेश, महादेव कृष्ण सभी को अपनी वदना का पात्र बनाया भगवान शकर की वदना करते हुए वे कहते हैं।

देव नर किन्नर किन्नक गुन गावत पै,
पावत न पार जा अनत गुन पूरे को।
कहै पद्माकर मृगाल के बजावत है,
काज करि देत जन जाचक जरूर को।
चद की छुगान न्त पन्नग फुगन फुत,
मुकुट विराजे जटा जूटन के जूरे को।
देखो त्रिपुरारि की उदारता अपार जहाँ
पैये फल चारि फूल एक दै धतूर का।

(वही ७)

इस प्रकार भगवान कृष्ण के मनोहर शिशुरूप का चित्रण करके उसके प्रति अपनी भक्ति भावना प्रकट की है —

दुख पद्माकर गोविन्द की अमित छवि।
सकर समेत विधि आनन्द सो बाढी है॥
किलकत झूमत मुदित मुसकात गहि।
अंचल को छोर दौड हाथन सा आढी है॥
पन्कत पाव होत पैंजनी झुनुक रच।
नक नेकु नैनन नीर कन काढा है॥
आगे नन्दरानी क तनिक पच पीवे कान।
तीनि लोक ठाकर सो ठुनुकत ठाढा है॥

इसमे बिहारी की भांति रसिकता है या सूर की भांति सजीवता रमणीयता तथा हृदय की तल्लीनता व भक्ति भावना, इसमे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। सूर के कृष्ण के शिशुरूप चित्रण से यह किसी भी भांति कम नहीं।

तथापि इस प्रकार के छद इनके प्रकाशित काव्य मे कम है पर सम्भव है खोज करने से और अनेक पद ऐसे मिल जाँय।

पद्माकर' साम्प्रदायिकता से दूर थे। न तो सूर की भांति केवल कृष्ण के उपासक थे और न

१–प्रबोधपचासा छन्द ५०
२–वही ७
३–वही ११

तुलसी की भांति "मस्तक तब नवै धनुषबाण लो हाथ" की सी राम के प्रति कट्टरता थी। वे तो वैष्णव भक्त थे जिसमें भक्ति की महिमा है आलम्बन के चुनाव की नहीं। इसके साथ ही वे आडम्बर, तिलक, छापा या वेष भूषा को कोई प्रधानता नहीं देते थे। तप, योग, ज्ञान सब से उन्होंने भक्ति को प्रधानता दी। जो लोग केवल बाह्य कर्मकांड तथा वेषभूषा पर बल देते हैं उनके प्रति उनके भाव स्पष्ट हैं। उनका कहना है—

> काहे का बघम्बर को ओढ़ि करै आडम्बर,
> काहेको दिगम्बर है दूब ताग रहिए।
> कहै पद्माकर त्यौं काय के कलप हित,
> सीकर समीत सीत वात तात सहिए।
> काहे का जपोगे जप काहे को तपोगे तप,
> काहे का प्रपंच पंच पावक में दहिये।
>
> (वही ३२)

वे न तो सांसारिक न सन्यासी थे और न बैरागी। इस प्रकार शरीर को कष्ट देने तथा आडम्बर रचने से कोई लाभ नहीं भगवान तो प्रेम के भूखे हैं उन्हें किसी की सम्पत्ति या आडम्बर से कोई सरोकार नहीं। प्रेम के कारण ही तो उन्हें जङ्गल के भोग की अपेक्षा भीलिनी के बेर मीठे लगे थे सत्य भामा के स्वाद भोजन की अपेक्षा दीनहीन सुदामा के चावल चबाने में उन्हें अधिक आनन्द आया था, महाराज दुर्योधन के छत्तीस प्रकार के भोजन की अपेक्षा करके विदुर के घर साग खाया था। इसलिए व्यर्थ में दौड़ धूप से कोई लाभ नहीं, भगवान को तो जिसने भी पाया प्रेम से ही पाया। इसीलिए पद्माकर भक्तिरस में सराबोर होकर प्रेम में विभोर होकर राम राम सीताराम सीताराम के रटन की महिमा बताते हैं।

इसके अतिरिक्त उन्होंने गंगा लहरी' में परम पावनी गंगा के प्रति भी अपनी भक्ति भावना को प्रकट किया है। गंगा की महिमा उसकी महानता पतित पावनता, पापों को नष्ट करने की शक्ति का बखान करते हुए उन्होंने उसकी वंदना की है, गंगा के जल का ही इतना महत्व है कि उसके पान करने मात्र से तथा गंगा के नाम उच्चारण मात्र से जन्म जन्मान्तर के पाप नष्ट हो जाते हैं विष्णु लोक से विमान जीव को लेने आते हैं स्वयं यमराज को अपना न्यायालय बंद करने की फिक्र पड़ जाती है और चित्रगुप्त के वही खाता को लेखा व्यर्थ पड़ा रह जाता है। गंगा की पतित पावनता के कुछ उदाहरण और देखिए—

> जहाँ जहाँ मैया तेरी धूरि उड़ि जाति गंगे,
> तहाँ तहाँ पापन की धूरि उड़ि जात है।
>
> × × ×
>
> (गंगालहरी छंद १)
>
> कलि के कलंकी कूर कुटिल कुरा ही कते,
> तरिंगे तुरन्त तवै लीन्हे स राह जब।
>
> × × ×
>
> (वही २०)
>
> जब तुम तारे तब मैया नभ मैं न तारे हैं।

उनका कहना है कि गंगा काम क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य की जंजीरों को नष्ट करने वाली है (वही ४७)। स्वयं कवि पद्माकर इसी भक्ति भावना से प्रेरित होकर गंगा तट पर जीवन के अन्तिम दिन व्यतीत करने चले गए थे।

ऊपर के कुछ उदाहरणों से स्पष्ट है कि उनकी भक्ति भावना बड़ी सबल थी। वे भगवान के अनन्य भक्त थे और उनकी तल्लीनता तुलसी तथा किसी अनासक्त भक्त कवि से किसी भी भाँति कम नहीं थी। तुलसी से इनकी भक्ति में इतना ही अन्तर पड़ता है कि ये तुलसी की भांति ज्ञानी तथा दार्शनिक नहीं थे। तुलसी ने निगम आगम पुराणों आदि का सार अपने मानस में जिस प्रकार समहीत कर दिया वह पद्माकर में दिखाई नहीं देता। यह भी सम्भव

है कि उन्होंने ज्ञान के इस असीम क्षेत्र में जान बूझकर प्रवेश न किया हो, क्योंकि वह साधारण भक्त के काम की चीज भी तो नहीं। और यह भी सम्भव हो सकता है कि यदि कवि के और ग्रंथों को खोजा जाए तो ऐसा कोई ग्रन्थ मिल सकता है जिसमें जीव ब्रह्म का तात्विक विवेचन हुआ हो। परन्तु इसके अभाव में भी—यदि देखें—तो तुलसी भी तो सारे शास्त्रों का मंथन करने के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ, संयुत बिरति विवेक, का आचरण करो। उन्होंने भी अन्त में भक्ति को ही प्रधानता और कलिकाल के लिए तो केवल नाम मात्र का ही आधार बताया। पद्माकर भी उस दार्शनिक वादविवाद में पड़े बिना ही सरल भाव से भगवत भक्ति का महत्व निर्देशित करते हैं। राम नाम की महिमा को वे इस प्रकार व्यक्त करते हैं :—

> ऐरे जड़ जीव जानि राखु वेद भेद यहै।
> स्मृति, पुराण साखी यहै ठहराया है।
> कहै पदमाकर सुभाया परपंचन को।
> देवि परपंच पेखन को अब भायें है॥
> याते तू भजु दशरथ नंद रामचन्द जू को।
> आनन्द को कन्द कौशलेस रघुराय है॥

उनका तो जीव को यहाँ तक कहना है कि जब तुम्हारा यमराज से पाला पड़े तब धीमे से स्वर में रामनाम उच्चारण कर देने से ही तुम्हारा काम पार हो जाएगा। रामनाम के उच्चारण से पाप ऐसे ही नष्ट हो जाते हैं आतिश के लगने पर आतिशबाजी छूट जाती है। उनके ऐसे नाम महिमा के वर्णन में उनके हृदय की सरलता, सरसता तथा तल्लीनता व्यक्त हुई है।

इस अतिरिक्त उन्होंने भी संसार की शरीर की तथा सम्बन्धियों की नश्वरता क्षणभंगुरता तथा निस्सारता का वर्णन करते हुए उनके प्रति उदासीनता का भाव जागृत करके अपनी भक्ति भावना को तुलसी की विरति से संयुक्त कर दिया है।

इसके प्रकार इनकी भक्ति भावना पर संक्षेप में विचार करने से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन तीन ग्रथों में कवि की भावना बहुत ऊँचे स्तर की है। जो सूर तुलसी कबीर आदि किसी भी भक्त कवि से कम नहीं कही जा सकती। इनकी यह भावना उनकी शृंगारी भावना से जिसके दर्शन केवल एक जगद्विनोद से होते हैं, कहीं सबल श्रेष्ठ परिपक्व है। यह भी सम्भव है कि और अनुपलब्ध ग्रन्थों में वह भावना और भी बलवती हो, ऐसे ग्रन्थों का मिलना भी असम्भव नहीं क्योंकि आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा में में तो ये लिखे नहीं गए होंगे जो उनके द्वारा इन ग्रंथों को सुरक्षित रखा जाता। इस प्रकार विचार करने से कवि की भक्ति भावना की उपेक्षा करके उसे शृंगारी कवि घोषित करना तथा यह कहना कि शृंगार की गंदी नाली से ऊपर उठने का उनमें सामर्थ्य ही नहीं था उसके प्रति अन्याय है। वस्तुतः पद्माकर को हमें एक दृष्टिकोण से तथा सहृदयता से अध्ययन करना होगा।

पन्तजी का काव्य-सौष्ठव

[प्रो० सुरेशचन्द्र गुप्त एम० ए०]

हिन्दी के वर्तमान कविवर सुमित्रानन्दन पन्त का अपना विशेष महत्त्व है। उन्होंने वर्तमान युग की छायावाद, रहस्यवाद और प्रगतिवाद नामक तीन प्रमुख काव्य धाराओं के उपकरणों को अपनी काव्य कृतियों के लिए सहायक तत्वों के रूप में स्वीकार किया है। उनके काव्य में सत्य शिव और सुन्दर तीनों को ही स्थान प्राप्त हुआ है, तथापि उनकी विशिष्टरुचि रम्य मधुर सुन्दर तत्वों के प्रतिपादन की ओर ही प्रेरित रही है। इस दृष्टि से उनकी अन्तर्चेतना पर प्राकृतिक मानसिक और आत्मिक तीनों प्रकार की सौन्दर्य भावना का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। उपर्युक्त भाव विषयक प्रेरणाओं के अतिरिक्त उन्होंने कला क्षेत्र में भी हिन्दी की वर्तमान काव्य धारा को विशेष भौतिक छवि प्रदान की है। आगे हम उनके काव्य की विविध भावात्मक विशेषताओं पर क्रमश प्रकाश डालेंगे।

रस निरूपण

मानव जीवन की विविधता के प्रभावमय प्रतिपादन के लिए काव्य में प्रसङ्गानुसार उचित रस की समष्टि नितान्त आवश्यक होती है। यद्यपि यह सत्य है कि इस रस विविधता के सयोजन के लिए मुक्तक कविताओं की अपेक्षा प्रबन्ध काव्यों में अधिक अवकाश रहता है तथापि पन्तजी ने अपनी मुक्तक कृतियों में ही शृ गार, शान्त करुण एव वत्सल नामक रसों का उपयुक्त सयोजन किया है।

पन्तजी ने शृ गार रस के सयोग पक्ष को अत्यन्त कलात्मक और मधुर रीति से उपस्थित किया है। उनके सयोग विषयक काव्य वर्णनों में प्रम और सौन्दर्य की छवि पूर्ण रूप से वर्तमान रही है। उनकी अधिकांश कविताओं का सम्बन्ध शृ गार रस की मधुर चेतना से ही रहा है और उन्होंने सयोग शृ गार के विविध पक्षों का अत्यन्त सूक्ष्म चित्रण किया है। 'गु जन' की 'भावी पत्नी के प्रति' शीर्षक कविता में हमें उनकी इसी कलात्मक रुचि के संकेत प्राप्त होते हैं। आगे हम शृ गार-चेतना का उत्कृष्ट प्रतिनिधित्व करने वाली उनकी कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं।

> निज पलक मेरी, विकलता, साथ ही
> अवनि से, उर से मृगेक्षिणि ने उठा
> एक पल, निज स्नेह श्यामल दृष्टि से
> स्निग्ध कर दी दृष्टि मेरी दीप-सी।

शृ गार रस के विप्रलम्भ पक्ष का प्रतिपादन करते समय पन्तजी ने अधिक विविधता का परिचय नहीं दिया है। सयोग शृ गार की अपेक्षा इस क्षेत्र में उनकी रुचि अधिक नहीं रही है और उन्होंने प्राय वियुक्त हृदय के अन्तर्दहन को शान्त रूप में ही उपस्थित किया है। उदाहरणार्थ उनकी निम्नलिखित काव्य पंक्तियाँ देखिए —

> मूँद पलकों में प्रिया के ध्यान को,
> थाम ले अब, हृदय! इस आह्वान को!
> त्रिभुवन की भी तो श्री भर सकती नहीं
> प्रेयसी के शून्य पावन स्थान को।

पन्तजी ने अपने काव्य में शान्त रस को भी व्यापक आधार पर प्रयुक्त किया है। उनकी आध्यात्मिक और नीतिमूलक रचनाओं में इस रस की उचित समष्टि हुई है। वैसे तो इस रस से सम्बद्ध कवताओं को उन्होंने प्राय अपने प्रत्येक काव्य-सकलन में स्थान दिया है तथापि 'उत्तरा' और स्वर्ण किरण' आदि 'गु जन' को

परवर्तीकालीन रचनाओं मे शान्त रस का विशेष निर्वाह हुआ है।

पन्तजी के काव्य मे करुण रस की मार्मिक भावना अत्यन्त सवेदन रूप मे मुखर हुई। उन्होंने करुण और शान्त नामक रसों से समन्वित कविताओं की भी सफल रचना की है। करुण-रस से आप्लावित रचनाओं मे उन्होंने कण्ठस्थ का उद्भावन करने वाले हृदयस्पर्शी परिस्थिति-चित्रों की सृष्टि की ओर विशेष ध्यान दिया है। उदाहरणार्थ उनकी 'परिवर्तन' शीर्षक कविता का निम्नलिखित अंश देखिए —

अभी तो मुकुट बधा था माथ,
हुए कल ही हल्दी के हाथ।
खुल मान के लाज के बोल,
खिले भी चुम्बन शून्य कपोल।
हाय रुक गया यहीं ससार,
बना सिन्दूर अङ्गार।

पन्तजी के काव्य में मूलत उक्त तीन रसों को ही स्थान प्राप्त हुआ है, तथापि 'पल्लव' की कुछ कविताओं में उन्होंने वत्सल रस की भी उपयुक्त योजना की है और शिशु की छवि का अङ्कन करने मे विशेष कौशल का परिचय दिया है।

सौन्दर्य-चित्रण

पन्तजी सौन्दर्य के अनुपम चित्रकार हैं। उन्होंने अपने काव्य मे प्रकृति, मानव और अध्यात्म जगत् तीनों के ही सौन्दर्य का उत्कृष्ट चित्रण किया है। इन सौन्दर्य चित्रों मे सूक्ष्मता और स्थूलता को दोनों ही वृत्तियों को स्थान प्राप्त हुआ है और उन्होंने सौन्दर्य के स्थिर तथा गत्यात्मक दोनों ही रूपों को ग्रहण किया है। सौन्दर्य प्रतिपादन की दृष्टि से पन्तजी ने मानव जीवन के सौन्दर्य का अत्यन्त भावमय चित्रण किया है। छायावादी शैली के मानवीकरण नामक गुण से प्रेरित होने कारण उनके सौन्दर्य-चित्रों मे प्रेयशीलता के गुण का और भी व्यापक आधार पर समावेश हो सका है। वास्तव मे उन्होंने सम्पूर्ण विश्व को ही सौन्दर्य-गरिमा से युक्त देखने का प्रयास किया है। यथा :—

डूबे दिशि पल के ओर छोर
महिमा अपार, सुखमा अछोर !
जग-जीवन का उल्लास,—
यह सिहर, सिहर,
यह लहर, लहर,
यह फूल-फूल करता विलास ! —(गुंजन)

अनुभूति, चिन्तन और कल्पना

पन्तजी के काव्य मे अनुभूति, चिन्तन और कल्पना का सफल समीकरण उपलब्ध होता है। अनुभूति से हमारा तात्पर्य उनके काव्य में प्राप्त होने वाले सत्य-प्रतिपादन से है। ऐतिहासिक सत्य का उद्घाटन न करने पर भी उनके काव्य में सत्य-तत्व का उपयुक्त सन्निवेश हुआ है। वास्तव मे उनके काव्य का सत्य उनके काव्य के स्वर मे निहित है और उन्होंने सत्य को स्थूल अर्थों मे न लेकर सूक्ष्म रूप मे ग्रहण किया है।

चिन्तन से हमारा तात्पर्य काव्य के शिव-तत्व से है। पन्तजी ने शिव तत्व की अन्तर्व्याप्ति को स्वीकार किया है। काव्य के चिन्तन-पक्ष के संयोजन के लिए उन्होंने संसार के मिथ्या रूप के दर्शन के साथ ही उसके अन्तर मे उसके स्रष्टा को भी देखा है और इस शाश्वत एवं चिरन्तन सत्ता का बोध प्राप्त कर वह प्रफुल्लित हो उठे हैं। आत्मा, परमात्मा एवं प्रकृति के सम्बन्ध मे उनकी दार्शनिक जिज्ञासा सूक्ष्म अध्ययन से प्रेरित होने के कारण चिरन्तन आलोक एव मुक्ति प्रकाश से आलोकित रही है। 'गुंजन' में उन्होंने सौन्दर्यातिशयता से अभिभूत इसी चिरन्तन सत्ता का मनोरम उद्घाटन किया है।

पन्तजी के काव्य में कल्पना का स्वरूप अत्यन्त सचेतन और प्रखर रहा है। कल्पना के सूक्ष्म आधार-ग्रहण के कारण ही वह अपने काव्य को सर्वत्र बोझिल वातावरण से रक्षा कर सके हैं। उसकी व्यापक समष्टि के कारण उनकी काव्य कृतियों में विशिष्ट चमत्कार और आकर्षण का समावेश हुआ है। कुछ स्थलों पर उन्होंने कल्पना के साथ चिन्तन और अनुभूति का श्रेष्ठ समन्वय किया है। इस प्रकार के वर्णन अपने आप में सजीव बन पड़े हैं। उदाहरणार्थ 'गुंजन' की 'चाँदनी' शीर्षक कविता की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए —

> वह स्वप्निल शयन मुकुल सी
> हैं मुँदे दिवस के द्युति दल,
> उर में सोया जग का अलि,
> नीरव जीवन-गुंजन काल'

प्रकृति चित्रण

पन्तजी के काव्य में प्राकृतिक छवि के अङ्कन को प्रमुख स्थान प्राप्त रहा है। उन्होंने प्रकृति के विभिन्न सौन्दर्यमय उपकरणों का सूक्ष्म अध्ययन करते हुए कोमल और रूक्ष, दोनों रूपों का चित्रण किया है। इनमें से उसके रूक्ष स्वरूप का उन्होंने 'पल्लव' की 'परिवर्तन' शीर्षक कविता में व्यापक चित्रण किया है। वैसे प्रकृति का कोमल रूप ही उनकी चेतना को अधिक ग्राह्य रहा है और उसी ने उनके काव्य के प्रमुख स्वरों का संयोजन किया है।

पन्तजी ने प्रकृति को आलम्बनात्मक उद्दीपनात्मक, प्रतीकात्मक और रहस्यात्मक रूप में उपस्थित करने के साथ साथ छायावादी शैली के अनुरूप उसे एक सजीव और सचेतन सत्ता के रूप में भी अङ्कित किया है। प्रकृति और मानव में सहज सम्बन्ध की स्थापना करते हुए उन्होंने मानवीय भावना और चिन्तन को भी प्रकृति के अध्ययन से ही अभिव्यक्त होते हुए दिखाया है। उदाहरणार्थ 'गुंजन' की 'नौका विहार' शीर्षक कविता की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए —

> ज्यों ज्यों लगती है नाव पार
> उर में आलोकित शत विचार'
> इस धारा सा ही जग का क्रम,
> शाश्वत इस जीवन का उद्गम
> शाश्वत है गति, शाश्वत सगम।

काव्य-वाद-समष्टि

पन्तजी के काव्य में वर्तमान युग की छायावादी, रहस्यवादी और प्रगतिवादी नामक तीनों प्रमुख भाव धाराएँ प्राप्त होती हैं। छायावाद के विभिन्न तत्वों की उनके काव्य में सर्वाधिक समष्टि हुई है। इस दृष्टि से उन्होंने प्रकृति के प्रति विस्मय और जिज्ञासा के भाव का प्रदर्शन करते हुए उसके अनेक रम्य-अद्भुत चित्र अङ्कित किए हैं और उसकी मानवीकरण विषयक शैली को स्वीकार करते हुए प्रकृति को अनेक मानवीय गुणों से सम्पन्न दिखाया है। उन्होंने प्रकृति में शृंगारात्मक दृष्टि का समावेश भी किया है, किन्तु उन्होंने इस प्रकार के चित्रों में शृंगार के उपभोग पक्ष की उपेक्षा उसके सौन्दर्य पक्ष को ही अधिक मात्रा में ग्रहण किया है। छायावाद की शिल्प-सम्बन्धी विशेषताएँ भी उनके काव्य में पूर्ण रूप से वर्तमान रही हैं।

प्रकृति में विराट चेतना का आरोप करते हुए पन्तजी ने उसे ईश्वरीय चेतना से प्रभावित दिखाया है। यद्यपि उन्होंने रहस्यवाद सम्बन्धी काव्य की अधिक मात्रा में रचना नहीं की है तथापि उनकी तत्सम्बन्धी प्राप्त कविताओं में एक विशेष माधुर्य और आकर्षण की स्थिति रही है। उनकी 'मौन निमन्त्रण' शीर्षक कविता में हमें इसी भावना की प्राप्ति होती है। 'उत्तरा' और 'स्वर्ण किरण' आदि परवर्ती काव्य रचनाओं में भी रहस्यवाद की उपयुक्त स्थिति रही है।

पन्तजी ने बाह्य जीवन के स्थूल प्रभावों को

लक्षित कर जीवन के उपयुक्त विकास के लिए मार्क्सवाद से प्रेरणा ग्रहण कर प्रगतिवादी काव्य की भी रचना की है। 'ग्राम्या' इस प्रकार की रचनाओं में प्रमुख है। तथापि प्रगतिवाद के प्रति पन्तजी का दृष्टिकोण बौद्धिक ही रहा है और उस पर उन्हें पूर्ण अन्तर्विश्वास नहीं है। यही कारण है कि कुछ समय पश्चात् उन्होंने इस काव्य धारा का परित्याग कर दिया।

काव्य सिद्धान्त निरूपण

पन्तजी के काव्य में उनकी आलोचक दृष्टि भी व्यापक स्तर पर वर्तमान रही है। वर्तमान युग के कवियों में उन्होंने सर्वाधिक काव्य चिन्तन किया है और अपनी विविध रचनाओं में काव्य शास्त्र के अनेक सिद्धान्तों को मौलिक अभिव्यक्ति प्रदान की है। काव्य सिद्धान्तों की इस व्यापक प्रतिष्ठा के कारण उनका काव्य विशेष साहित्यिक गुणों से युक्त रहा है। उन्होंने अपने काव्य-ग्रन्थों की भूमिकाओं और विशिष्ट काव्य प्रकरणों में काव्य के विभिन्न पक्षों के विषय में अपने भावों को श्रेष्ठ रूप में उपस्थित किया है। उदाहरणार्थ काव्य में कला की अपेक्षा भावना को अधिक महत्व प्रदान करने के सम्बन्ध में उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए —

> वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार।
> तुम वहन कर सको जन-जन में मेरे विचार।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पन्तजी ने अपने काव्य को विभिन्न भावनाओं से अलंकृत किया है। भाव-सौन्दर्य के अतिरिक्त उन्होंने अपनी कविता को प्रगति काव्यों के तत्वों की समष्टि द्वारा भी एक विशिष्ट सौन्दर्य प्रदान किया है। भावों की एकरूपता और सहज व्यंजना से वह इसी गीतिमय वातावरण और सम्प्रेषण को उपस्थित कर सके हैं।

पन्तजी के काव्य का कला पक्ष

कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' में अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही तो है कला' कह कर कला के स्वरूप को यथासम्भव स्पष्ट कर दिया है। अपने तात्विक अर्थ में कला कलाकार की सम्पूर्ण आत्मा की अभिव्यक्ति है कवि की आत्मा जब विश्व की अनुभूतियों से परिवेष्टित होकर शब्दों और रेखाओं द्वारा अपने रूप का उद्घाटन करने लगती है, तब उसी को 'कला' कहते हैं। स्थूल रूप में कला के अन्तर्गत उन तत्वों की गणना की जाती है जिनके द्वारा कलाकार अपने मन की सहानुभूति को मूर्त आकार प्रदान करता है अर्थात् सौन्दर्य को प्रतिफलित करने के लिए कलाकार जिन साधनों का उपयोग करता है वही कला के प्रमुख तत्व हैं। पन्तजी ने अपने काव्य में सौन्दर्यानुभूति सहज और सजग अभिव्यक्ति के लिए इस कला वैभव का उपयुक्त संयोजन किया है। उनकी काव्य रचनाओं में तत्कालीन छायावादी कला की सभी प्रमुख विशेषताएँ सहज प्राप्त हैं। इस दृष्टि से उनके काव्य की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं —

अनुभूति को आकार प्रदान करने के लिए उसे चित्र रूप में उपस्थित कर देना सबसे सहज माध्यम है और उसके द्वारा कवि अरूप भाव को भी रूप प्रदान कर सकता है। पन्तजी के काव्य में यही चित्रण कला उनकी कला की सबसे समृद्ध उपकरण रही है और अपनी मूर्ति विधायिनी कल्पना द्वारा जीवन की विविध अनुभूतियों को सजीव चित्र रूप में ही ग्रहण किया है।

पन्तजी के काव्य में रूप और स्वर अथवा चित्र और संगीत का अद्भुत सम्मिश्रण उपलब्ध होता है। उन्होंने वस्तु के रूप को गति के साथ साथ चित्रित करने का उत्कृष्ट प्रयत्न किया है। रूप और गति का यह संयोजन कहीं-कहीं तो

अलंकार-प्रयोग

पन्त ने अपनी भाव साधना को उज्ज्वल बनाने के लिए अपने काव्य में अलकारों का व्यापक प्रयोग किया है। उनकी प्रारम्भिक कविताओं में अलकारण सामग्री का वैभव पूर्ण रूप से वर्तमान है और उन्होंने 'पल्लव' तथा 'गुंजन' आदि प्रारम्भिक रचनाओं में अलकारों का प्रयोग वैभव और ऐश्वर्य के रम्य भाव चित्रों को उपस्थित करने के लिए किया है। जैसे उनके काव्य में अलकार प्रयोग के निम्नलिखित दो रूप उपलब्ध होते हैं —

(i) भाषा सगीत को प्रेरणा देने के लिए अनुप्रास यमक आदि शब्दालकारों का प्रयोग।

(ii) भाव सौन्दर्य को पुष्ट करने के लिए उपमा, रूपक, सन्देह, अर्थान्तरन्यास आदि अर्थालङ्कारों का सश्लिष्ट आधार पर प्रयोग।

इनके अतिरिक्त पन्त जी ने विदेशी काव्य शास्त्र से प्रेरणा ग्रहण करते हुए विशेषण विपर्यय और मानवीकरण आदि अलकारों का भी व्यापक प्रयोग किया है।

पन्त जी ने अपने काव्य में सूक्ष्म और स्थूल, दोनों ही प्रकार के उपमानों का प्रयोग किया है। पल्लवकालीन रचनाओं में उपमानों को जो रूप रग का कौशल प्राप्त है, उसे उन्होंने 'युगवाणी' और ग्राम्या आदि रचनाओं में सूक्ष्म से स्थूल (परिचित) की ओर ले जाने का प्रयास किया है, इसके उपरान्त स्वर्ण किरण' और 'उत्तरा' आदि परवर्ती रचनाओं में अलकरण सामग्री को पुन समृद्धि, परिष्कार सूक्ष्मता प्रदान करते हुए उन्होंने अभिव्यक्ति को अधिकाधिक सुरुचि पूर्ण और परिपक्व रखा है, तथा अलकारों द्वारा वैभव और ऐश्वर्य के साथ-साथ सास्कृतिक उपकरणों को भी चित्रित किया है। आगे हम उनके काव्य से पाश्चात्य अलकारों में से 'मानवीकरण' का एक श्रेष्ठ उदाहरण उपस्थित करते हैं —

> अतल से उठ उठ हो हो लीन,
> खो रहे बन्धन गीत उदार।
>
> (मानवीकरण)

छन्द-प्रयोग

पन्त जी ने अपने काव्य में वर्णिक छन्दों की अपेक्षा पीयूषवर्षण सखी, रूपमाला और रोला आदि मात्रिक छन्दों का प्रयोग किया है और इस दिशा में अनेक नवीन प्रयोग किए हैं। 'पल्लव' की भूमिका में उन्होंने छन्द प्रयोग के विषय में अपने दृष्टिकोण का व्यापक परिचय दिया है। उनके छन्दों में राग और लयों का अनिवार्य योग रहा है और भावनाओं और विचारों के सकोच और प्रसार के अनुकूल छन्दों की पंक्तियों और लयों को परिवर्तित कर उन्होंने खड़ी बोली में निश्चय ही एक नवीन सगीत शास्त्र की सृष्टि कर दी है।

पन्त जी ने पल्लवकालीन रचनाओं में छन्द प्रयोग करते समय अधिक वैविध्य का परिचय दिया है और छन्दों में चित्रोपमता के गुण का सचार करने का विशेष प्रयास किया है। ग्रन्थि में उन्होंने अंग्रेजी के छन्द शास्त्र के अनुकरण पर Rumon Lines का भी प्रयोग किया है। 'गुञ्जन' और 'ज्योत्स्ना' में उन्होंने सगीत और छन्द का सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए अनेक नवीन प्रयोग किए हैं। वास्तव उन्होंने नवीन छन्दों के प्रयोग द्वारा छन्द विषयक एक स्वरता को नष्ट करने का पूर्ण प्रयास किया है। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' आदि रचनाओं में अपने काव्य के परिवर्तित विषय-क्षेत्र को अभिव्यक्त करने के लिए उन्होंने जिन मूर्तिमान छन्दों का प्रयोग किया है वे उनकी इस प्रवृत्ति के सर्वोत्कृष्ट प्रतीक हैं।

—:०:—

क्रांतिकारी कवि "दिनकर"

(श्री परमेश्वर प्रसाद गुप्त)

राष्ट्रीय कविता 'कल्प वृक्ष' का बीजारोपण विभिन्न परिस्थितियों के रहते हुए भी बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया था। वह बीज भारत की शस्य श्यामला वसुन्धरा पाकर भी पूर्ण रूपेण पल्लवित और पुष्पित न हो पाया था, गंगा का पवित्र और निर्मल जल भी अपनी ऐतिहासिक महत्व खो, पनाले के समान बह कर उसर भूमि सा निरसता का अनुभव कर रहा था। अंग्रेजों का दमन, दमन नीति भारतीय जनता के हृदय को शांति का अगाढ़ और मधुर आसव पीला, कुछ दिनों के लिए चिर निद्रित बनना चाहती थी पर वह धीरे धीरे गुम सुम रूप में अग्नि की ज्वाला सुलग रही थी। जिसका रूप हम सन् १८५७ के सिपाही विद्रोह रूप में पा चुके हैं। भारतेन्दु जी भारत की दशा को देख कर दो चार आँसू बहाना ही शेष समझ, भारतीय जनता को रूदन रूप में आह्वान करते थे और कहते थे— "आवहु सब मिलि कै रोवहु भारत भाई।" भारतेन्दु की सुलगाई हुई वह गुमसुम भीषण ज्वाला ने धीरे धीरे राष्ट्रीय चेतनता, बापू की अमृत वाणी और अन्य कलाकारों की लगना के मोती का चुग चुग कर अपने प्राणों का रक्षा की। जिससे उनके बहुत से क्रांति प्रमी कलाकारों को जीवन का सुनहला समय जेल की काली चाहर दिवारों के अन्दर व्यतीत करना पड़ा। 'भारतीय आत्मा' ने गांधीवाद के मूल सिद्धांत को लेकर क्रांति के छोटे पौधे को अपनी लखनी से सींचना आरम्भ किया। 'कोकिल बोली तो जेल की गहरी अनुभूतियों से ओत प्रोत काली करतूतों का जीता जागता चित्र है। कर्म क्षेत्र में प्रवेश करके भी 'भारतीय आत्मा' ने भावात्मक अनुभूति से भारतीय निरीह जनता में राष्ट्रीय चेतना का मन्त्र फूंका। पर इस भावना की अन्तिम परिणति पाते हैं 'दिनकर' की रचनाओं में जो कि हमेशा क्रांति के लिए अग्रसर रहती है।

राष्ट्रीय विचार धाराओं में ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय आत्मा के पश्चात् अगर कोई स्थान प्राप्त कर सकता है वह है कविवर दिनकर। जागरण की उन गहरी संवेदनाओं को ले कवि ने काव्य के सुनहले पृष्ठों पर चिर संचित अभिलाषाओं को अंकित किया है—जो राजपूत काल के रण प्रांगन में कवियों की लेखनी चलती थी। जिसमें राष्ट्रीय चेतना देश प्रेम, जाति रक्षा और धार्मिक रक्षार्थ की भावना कूट कूट कर भरी हुई थी। जिस पर हिन्दू सन्तान को गौरव और अभिमान था। दिनकर की राष्ट्रीय भावना उस युग का ईटर्न में पाते हैं। जिसका रूप इन्होंने अत्यन्त सांस्कृतिक ढंग से ग्रहण किया है। एक ओर उनकी रचनाओं में ऐतिहासिक घटनाओं का जीता जागता चित्र हमारे नेत्र के सामने उपस्थित हो जाता है तो दूसरी ओर वर्तमान परिस्थिति में भारतीय कृषकों की दयनीय स्थिति उन पर शोषण का ताण्डव नृत्य का विकराल स्वरूप और विषमताओं से संघर्ष करने का हुँकार पाते हैं। कवि को प्राचीनता से मोह है। आज की दयनीय स्थिति में उस युग के एक एक कण से अपनी सांस्कृतिक, सभ्यता और नैतिकता का प्रश्न वाचक चिह्न लगा कर पूछता है कि वह तुम्हारा युग कहाँ है? 'हिमालय' कविता परवशता समय के उच्छवासों का उत्स है, जिसके एक एक शब्द में कवि का हृदय बोल रहा है। वह अपनी महानता सर्वश्रेष्ठता दानशीलता और अपनी गरिमा के इतिहास के पूछता है -उसकी

लेखनी बोल उठती है —

तू पञ्च, अवध से राम कहाँ
वृन्दा ! बोलो घनश्याम कहाँ ?
ओ मगध ! कहाँ मेरे अशोक
वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ ?

हिमालय के पश्चात की क्रांतिकारी भावनाओं का विकास उनकी रचनाओं मे क्रमश क्रमश पाते है। आज की स्थिति में समाज की जो आवाज है दिनकर की अनुभूतियों मे देश प्रेम के रूप मे सुलग रही है। कवि की लेखनी जिधर विकराल रूप लेकर जाती है, उधर क्रांति का आह्वान करती है—विप्लव का रूप देखना पसद करती है। तभी तो कवि अपने मे इतनी शक्ति का आभास पाता है जिससे विश्व को थर्रा सके। उसके कोमल चरण-तल पृथ्वी पर पडते ही पृथ्वी के स्तम्भ शेष नाग भी उसके पैरों की आवाज से थर्रा जाता है, और भूमि मे एक भारी खाई हो जाती है। वह क्रांतिकारी अहलाद कवि के अत करण से फूट कर निर्भरणी की तरह कल २ स्वर सुनता है जिसमे मधुर और तीखी विध्वस कारी भावना सन्निहित है। कवि के कथन पर विचारिये :—

पडते जिस ओर चरण मेरे
भूगोल उधर धस जाता है।

साहित्य के त्रिकोल मिति (क्षेत्रों) मे गाधी रवीन्द्र और लेनिन के विचारों से पला विचार वृक्ष अपने पूर्ण अवधि मे भारती भडार के अक्षय कोष मे अमूल्य रत्न भर रहा है। जिसे हम दूसरे शब्दों मे उस विचार सरसि का रूढ शब्द गाधीवाद, छायावाद और प्रगतिवाद कह सकते है। गांधी विचार धारा मे अतरग शुद्धि का महत्व है। रवीन्द्र (छायावाद) मे प्रियतम के अवगु ठन द्वार पर एक साधक अपनी भावनाओं को प्रकृति के सुखद प्रांगन से होकर ईश्वरत्व अर्गला को खटखटाता है। जिसकी आवाज पर प्रियतम भी प्रकृति की मधुर छाया मे लुक छिप कर अपनी आभा को प्रदर्शित करता है।

लेनिन अपने उग्र विचार-धाराओं से समाज मे एक क्रांति लाना चाहते थे। जिसमे विश्व का वह समाज उठे जो बहुत दिनो से वर्गवादी समाज के कुचक्र मे पड कर पीसती आ रही है, न तो उसे समाज मे आदर था, न उसके तन पर वस्त्र और न तो उसके शरीर पर कहीं आंसू बोटियों का अक मात्र था। उन्हीं के शरीर से पसीना के समान मानोरक्त ही सूर्य की प्रखर किरणों से उसचिन चिनाती धूप मे हल के पीछे चलने वाला मजदूर जो प्रतिदिन आठ घण्टे काम करने बाद भी घर मे अन्न का एक कण भी नहीं इस तरह की विषम विषमताओं को दूर कर समाज उस स्थिति पर आये, जिसमे छोटा बडा मालिक नोकर और राजा प्रजा की संकुचित भावना न रहे।

भारतवर्ष मे राष्ट्रीय विचार धारा का लौह-स्रोत गाधीवाद के रूप मे स्रवित हुआ। जिसमे यहाँ के सभी कलाकारों किसी न किसी रूप मे अवश्य ही प्रभावित है। गाधीवाद भारत के अध्यात्मवाद से सम्बन्धित हो भारतीय जनता मे सत्य और अहिंसा वेद ऋचाओं सा माननीय सूत्र है। दिनकर' की रचनाओ मे राष्ट्रीय भावनाओं का उच्छ्वास एक उग्र रूप मे पाते है। "हुँकार" मानो देश के सच्चे हृदय का हुँकार ही है। जिससे देश की सुप्त नाडी म शक्ति का स्रोत फूट पडता है। गाधीवाद और समाजवाद के विषय पर श्री शांतिप्रिय द्विवेदी ने 'प्रगतिवादी दृष्टिकोण' नामक निबध अपने विषय मे लिखा है 'युग की भाषा मे मेरा आतरिक धर्म है गांधी वाद, मेरा आपद्धर्म है सौंदर्य मण्डित ऐश्वर्यवाद उसी का शाधित रूप है प्रगतिवाद। यही बात दिनकर के व्यक्तित्व के साथ भी सही उतरती है। विचार की स्वतन्त्र धाराओं मे बहते हुए कवि को 'कुरुक्षेत्र' मे बौद्धिक विकास से विशेष

प्रभावित होकर मार्क्सवाद (Communism) से आस्था रखता है। तभी तो अधिकार रक्षा में सत्य और अहिंसा से समस्या का समाधान करना पाप समझते हैं उसे वो चमकती हुई दुधारी से उसके बढ़ते हुए शोषण-बद्ध स्थल को विदीर्ण कर देना महापुण्य और अभिष्ट है :—

हीनता हो दूसरा कोई और नृ
त्याग तप से काम ले वह पाप है।
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे
बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ है।

इतना ही नहीं। उचित न्याय से अधिकार रक्षा में किसी प्रकार का कोई विघ्न उपस्थित हो तो वह कवि को इष्ट नहीं वीरों को ललकारना और उसे अपने को बलिदान करना ही कवि को श्रेय मालूम होता है, तभी तो लेखनी फड़कती हुई कहती है :—

न्यायोचित अधिकार माँगने से न मिले तो लड़के।
तेजस्वी अधिकार छीनते जीत या कि स्वयं मर के॥

दिनकर की प्रगतिशालिनी काव्य धारा यों तो प्राय हरेक रचना में प्रगतिवाद की ओर उन्मुख रहती है। वह समाज में एक क्रांति लाना चाहती है। हाँ इनकी क्रांतिकारी भावनाओं का प्रतिनिधित्व करने वाली रचना है तो हुंकार। हुंकार का अल्हड़ कालीन कवि यौवनकाल में प्रवेश कर 'चलि प्रिया के गाँव, सोलहों फूलों वाली' की तरफ अपनी दृष्टि दौड़ाता है। लेकिन कवि का क्रांतिकारी विचार उस सीमा में न बंध सका, समाज के धरातल पर पहुँच गया-जिस पर भारत की ६.५ प्रतिशत जनता रहती है और वह क्रांति का आह्वान करती है। इसलिए तो श्रीराम वृक्ष बेनीपुरी को लिखना पड़ा हमारे क्रांति युग का सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व कविता में इस समय दिनकर कर रहा है। क्रांतिवादी को जिन जिन हृदय मन्थनों से गुजरना होता है दिनकर की कविता उसी का तस्वीर है। कवि कविता को सम्बोधित कर कहता है—

क्रांति धात्री! कविते जाग उठ,
आडम्बर में आग लगादे।
पतन पाप पाखण्ड जले,
जग में ऐसी ज्वाला सुलगादे।

'नवीनजी' ने भी एक स्थल पर ऐसा ही कहा है—

'कवि कुछ ऐसी तान सुनादे, जिससे उथल पुथल मच जावे,
एक हिलोर उधर से आए, एक हिलोर उधर को जाए।

क्रांति की प्रचण्ड ज्वाला में शांति का चिर विश्राम कहाँ? उसे तो प्रतिपल जलना है और लोगों को साथ जलने को प्रोत्साहित करना है। दिनकर की ज्वलित क्रांति भावना अपनी माता (भारत माता) का नत मस्तक भाल को नहीं देखना चाहती, उसे तो पायल के मधुर कलरव और वीणा के मधुर झंकार प्रिय मालूम नहीं होती। चाँदी के निर्मल और शीतल शंख की क्रांति की चिनगारी फूँकना चाहती है जिसे लोग आज तक शांति का हुंकार समझ रहे थे। कवि की लेखिनी तब तक न दम लेगी जब तक उसके शरीर में अस्थिपंजर, धमनियों में उष्णता और वाणी में हुंकार है। वह क्रांति का गीत गायेगा माता को निधन बनाने को—

नहीं जीतेजी सकता देख, विश्व में झुका तुम्हारा भाल,
वेदना मधु का भी कर पान, आज उगलूंगा गरल कराल।

कवि इतना ही कहकर बैठ नहीं जाता उसे तो अपनी प्रतिज्ञा पर निर्निमेष दृष्टि है और जब वह गर्जन तर्जन की आवाज शुरू कर देता है तो सारी सम्मोहक भावनाओं को रजत रूपी सीपी में बंद करके एक साहसी योद्धा सा हुंकार उठता है कवि अमय आह्वान में कह उठता है—

फोड़ पैठू अनन्त पाताल।
× × ×
स्वामिनी करो शीघ्र श्रृंगार॥

कवि की पूंजीभूत उत्त दिगम्बरी से 'विपथगा' तक आते आते विध्वंस की ओर उन्मुख हो गई। शांति का कोई उपाय म के हाथ में न

आया। किसी ने कहा है—'क्रांति के बाद ही शांति की स्थापना होती है'। तभी तो विध्वंस का बिगुल कवि ने बजाया। उसकी विध्वंसकारी आवाज को सुनकर ही डा रामविलास शर्मा ने हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद नामक पुस्तक में लिखा है—दिनकर की विपथगा विध्वंसकारी है'। जिसमें नव-निर्माण की आशा झलकती है। जो कवि ने पायल की झन झन झन-झन-झन झनन झनन' आवाज से ही अम्बर में आग लगाने की कल्पना सोची। तभी तो कवि की विपथगा कहती है—

> मिट्टी से जिस दिन जाग कूद।
> अम्बर में आग लगाऊंगी॥

चेतावनी स्वरूप कवि अत्याचारियों से—

> दुनियां के चोरो सावधान, दुनिया के पापी जार सजग,
> जाने किस दिन फुंकार उठे पद दलितकाल सर्पों के फन,

कवि के अन्तस्थल में उत्सर्ग की जलती लौ शिखा है। उसमें आत्मोत्सर्ग और देश के उद्धार की सहिष्णुता प्याले में भरा मदिरा सी छल-छला रही है। कवि चाहता है कि सुलगती हुई यज्ञ शिखा में अपने को हवन सा स्वाहा कर दे। प्रचण्ड-रण-चण्डी और हवन की प्रज्वलित शिखा समय में भी अपने को गुमसुम न रखे। तभी तो कवि क्रांति की भावना प्रकट करता है—

> रण की घड़ी जलन की बेला तौ मैं भी कुछ गाऊं गा,
> सुलग रही यदि शिखा यज्ञ की अपना हवन चढ़ाऊंगा,

क्रांति करने के लिए कवि जड़ पदार्थ में भी नव जागरण की चिनगारी फैलाता है। युग २ से शिखर को उठाए हुए पर्वत माला से कवि कहता है—अब भी मूक रहोगे ? प्राची दिशा में सूर्य के अरुण रश्मियाँ संसार के अन्धकार के हृदय को वेधने के लिए प्रखर वाण सा संधान कर रहा है उसमें ताजगी आ गई है और है; मूक शैल शृंग' तुम क्रांति के लिए मार्चिंग गान सा कुछ गाओ। सूर्य के रश्मियों में भी उषः क्रांति-काल में कवि आह्वान का मंत्र फूंकता है—

> नये प्रात के अरुण, तिमिर उर में मरीचि का संधान करो,
> युग के मूक शैल उठ जागो हुंकारो कुछ गान करो।

देश जाति पर बलिदान होने वाले नवजवान को अपने सिर अग्नि मुकुट रख लेने को कहता है, उसके उत्सर्ग में ही स्वर्ग का साम्राज्य बसा है पहिले कठिनाइयों का सामना करना ही होगा, तभी तो सुखा का बीज बो सकते हैं नव-युवकों से—

> लेना अनल किरीट भाल पर,
> ओ आशिक होने वाले।

किसी लेखक ने एक स्थल पर कहा है—'दिनकर का कलाकार यद्यपि गुलाब की दुनियाँ का निवासी है तथापि वह यह नहीं चाहता कि वह वहाँ पहुँचकर मौज करे और जानता की एक बड़ी भीड़ उसकी ओर दया की आँखों से देखती रहे, पेट में पीठ सटाए कोई थोड़े गुलाब के सौरभ का आनन्द उठा सकता है। आर्थिक विषमता होने के कारण कवि की कल्पना राज प्रासाद के भोग विलास वन प्रांतर के उन्मुक्त वातावरण में विचरण करना चाहती है जहाँ पर क्षुधा पीड़ित मानव नजर आते हैं और न नीच ऊँच के विचार ही देखने को मिलते हैं। इसीलिए तो कवि वन फूलों की ओर घूमना चाहता है—

> आज यह राज वाटिका छोड़,
> चलो कवि वन फूलों की ओर,

आज के युग में मानव की सबसे बड़ी समस्या हो गई है काम और भूख की। भूख की प्रचन्ड ज्वाला में वर्तमान समाज त्रस्त है। हड्डी और धमनियों में लेश मात्र भी शक्ति नहीं, कमर धनुष सी लच गई है। भूख भूख ही उसमें जीवन की गहरी वेदनायें हैं। मेरा तन भूखा मन भूखा मेरी फैली युग वांहों में मेरा सारा जीवन भूखा कह आज कवि अपने हृदय के गुब्बारों को प्रकट करता है। दिनकरजी की पैनी दृष्टि समाज के उन स्तरों पर अड़ी है जिसमें चौबीस घण्टा काम करने वाला भी भूखा रहता है। तब भी उसके

घर में अन्न का कुछ भी हिस्सा नहीं आता कृषक की बालिका खेतों की हरी भरी हरियाली को देख कर संतोष करती है क्योंकि खलिहान पर तो उसे कुछ भी मिलने को नहीं। पर दमन की नीति जानती है और समझती भी है—

रोको मी खलिहानों में,
खेतों में तो हर्ष मने दो।

बालिका के उच्छ्वास में ही दिनकर की प्रौढ भावना बच नहीं जाती। उसे तो आज के मासूम बच्चे दिखाई पड़ते हैं, जिन्हें उसकी माँ भी अच्छी तरह से पाल नहीं सकती है। हड्डियों को दबोचे हुए भी बालक जाड़े के कठिन शीत समय में पलकर ठिठुर रहे हैं। क्षुधा से पीड़ित होकर मरने वाले देश के होनहार बच्चे आज बहुत दिन बीत जाने के बाद भी अपने अभाव को दुहराते हुए कब्र में सो रहे हैं। कवि इसके लिए विद्रोह करता है। वह लोगों को दिखाता है कि तुम्हारे बच्चे आज भी किस स्थिति से गुजर रहे हैं। समाज का दर्दनाक चित्र कवि को दहला देता है उनसे विद्रोह करने को कहता है बच्चे के टूटे स्वर को कवि की वाणी में सुनिए—

कब्र कब्र में अबुध बालकों
की भूखी हड्डी रोती है।

तब कवि उन देवताओं को धिक्कारता है। जिसके चलते हिन्दू जाति को गौरव और अभिमान था। आज की विषम परिस्थिति में उसे इन समस्याओं को सुलझाना है बच्चे को सांत्वना देता है और उन चमकते तारों से इन मासूम बच्चे के अश्रुकण किस ओर आ रहे हैं और किधर हैं बताओ तो सबों से कवि पूछता है पर कोई भी इन उलझी हुई दूध समस्या को नहीं सुलझा सकता। कवि का सम्वेदनात्मक हृदय विद्रोहात्मक रूप धारण कर स्वयं ही दूध की समस्या के हल करने चलता है रास्ते में पड़ने वाले सारी वस्तुओं को कवि पहले ही सावधान कर देता है, और बच्चे को सांत्वना दे चल पड़ता है—

हटो व्योम के मेघ पथ से।
स्वर्ग लूटने हम आते हैं॥
दूध दूध ओ वत्स तुम्हारा।
दूध खोजने हम जाते हैं॥

दिल्ली दिल्ली नहीं! उसकी दिवालों पर लाल रंग तो भारतीय श्रम जीवी वर्ग के रक्त का इतिहास है जिसने उसके शरीर को चूस चूसकर और कितने नौजवानों को अपनी नीर में सुलाकर इतिहास पृष्ठ को रंग कर रक्त रंजित किया है। वह शोषण की नली द्वारा उसकी शक्ति Energy को चूस कर अपने को मजबूत बनाया है। दिन कर ईंट ईंट को घृणा की दृष्टि से देखता है उसे तो वैभव की दिवानी दिल्ली। कृषक मेघ की रानी दिल्ली "और" अनाचार, अपमान व्यंग्य की चुभती हुई कहानी दिल्ली" ही कहना कवि को अभीष्ट है इतना ही नहीं। उसके इतिहास को सुनकर कवि की विशाल बाहु फड़क उठती है और धिक्कारते हुए कहता है तुम्हारा ऐश्वर्य तो कितने भारतीय निरीह जनता के निर्ममतापूर्वक निकाले खून से ओत प्रोत है पर तुम्हारी दीवाल के पसीने पर है —

खरी गरीबों के लोहू पर
खड़ी हुई तस्वीर निखारे।

वास्तव में कविवर 'दिनकर' का जीवन सब विषम परिस्थितियों के होकर गुजरा। जिसने इनके हृदय की संवेदनाओं को प्रेम के साथ झंकृत कर उथल पुथल मचा दिया है 'हुंकार' तो कवि की विद्रोहात्मक अनुभूतियों का कोष है। जिसने कितने ही प्राणों को भारत माँ की बलिवेदी पर अपने को निछावर करने का प्रोत्साहन दिया है। राष्ट्रीय भाव धारा के उन्नायकों में इनका प्रमुख स्थान है।

"कामायनी की मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक भाव-भूमि"

[लेखक—श्री रामचन्द्र गुप्त, एम० ए०]

प्रसाद की बृहत्तम कृति 'कामायनी' में कवि की न केवल सृजन सामर्थ्य, कवित्व शक्ति एवम् जाग्रत चेतना के दर्शन होते हैं, प्रत्युत व्यक्त अव्यक्त मानवीय मूलाधारों की आध्यात्मिक एवम् मनोवैज्ञानिक व्याख्या भी मिलती है प्रसाद जी ने कामायनी की कथा का सृजन करने में ऐतिहासिक तथ्यों को तो अपनाया ही है पर घटनाओं की प्राचीनता एवम् अतिरञ्जना के कारण ऐतिहासिक के साथ साथ उसमें रूपक का समावेश भी किया गया है। मुख्य पात्र ऐतिहासिक तो अवश्य ही हैं किंतु साथ ही मानव-वृत्तियों के प्रतीक भी हैं। श्रद्धा और मनु के सहयोग से मानवता के विकास की कथा को रूपक के आवरण में देखने का प्रयास प्राचीन काल से अब तक होता रहा है। मानवता के नवयुग के प्रवर्तक के रूप में मनु की कथा आर्य साहित्य में वेदों से लेकर पुराणों और इतिहासों तक दृढ़ता से स्वीकार की गई है। इसलिये वैवस्वत मनु को ऐतिहासिक आदि पुरुष मानना ही पड़ेगा। प्रत्येक चरित्र के साथ भावनाओं के सम्मिश्रण के कारण, सम्बन्धित घटनाएँ अति रंजित सी हो जाती हैं जिसके कारण तथ्य समग्राहिणी तर्क बुद्धि घटनाओं में रूपक का आरोप करने में सुगमता से सफल हो जाती है, पर इतना तो अवश्य स्वीकार कर लेना पड़ेगा कि कुछ न कुछ सत्यांश घटना से सम्बन्ध रहता है। स्पष्ट है कवि ने इतिहास के सम्पर्क में मानव वृत्तियों के स्वाभाविक विकास को परखने की चेष्टा की है। इसीसे कामायनी की ऐतिहासिक कथा को काव्याधार बनाते हुए भी उसमें केवल उन्हीं पात्रों को स्थान दिया गया है जिनमें रूपक के रूप में मनोवैज्ञानिक अभिव्यञ्जना भी हो सके। यदि यह स्वरूप उन्हें अभिप्रेत न होता तो वे कामायनी का सांकेतिक अर्थ ग्रहण करने में आपत्ति का अनुभव करते किन्तु आमुख में कवि ने स्वयं स्वीकार करके स्थिति को स्पष्ट कर दिया है कि यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता का विकास रूपक है तो भी बड़ा ही भावमय और श्लाघ्य है। श्रद्धा 'कामगोत्रजा' होने के नाते कामायनी भी कही जाती है। मनु भारतीय इतिहास के आदि पुरुष हैं। राम कृष्ण और बुद्ध इन्हीं के वंशज हैं। शतपथ ब्राह्मण में इन्हें श्रद्धा देव स्वीकार किया गया है "श्रद्धा देवो वै मनुः"। श्रद्धा और मनु से मानवीय सृष्टि का आरम्भ होता है। स्वयं भागवत में इसे स्वीकार किया गया है

> 'ततो मनुः श्राद्धदेवः संज्ञायामास भारत।
> श्रद्धायां जनयामास दश पुत्रान् स आत्मवान्'।

छान्दोग्य उपनिषद् में मनु और श्रद्धा की भावमूलक व्याख्या की गई है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि मनु और श्रद्धा की उपस्थिति रूपात्मक नहीं वरन् ऐतिहासिक है। पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो ये रूपक के रूप में भी सही उतरते हैं। जैसे मनु अर्थात् मन के दो पक्ष माने जाते हैं—हृदय और मस्तिष्क तथा दोनों का सम्बन्ध क्रमशः 'श्रद्धा' और 'इड़ा' से रहता है। मनु के कथानक के साथ 'श्रद्धा' और 'इड़ा' का कथानक भी सम्बद्ध है। अर्थात् श्रद्धा और 'इड़ा' मन की दो वृत्तियाँ हैं तथा दोनों के पथ भिन्न हैं। 'श्रद्धा' का पथ आत्मोन्मुखी है जो हमें आनन्दानुभूति कराने में हमारी सहायता करता है तथा 'इड़ा' का पथ ह्रासोन्मुखी है जो द्वन्द्व और संघर्ष में डालने वाला है। इस प्रकार कवि ने

ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि के द्वारा मानसिक वृत्तियों का निरूपण किया है। देव सृष्टि के जल-प्लावन के दृश्य से इस काव्य का प्रारम्भ होता है। जल प्लावन से बचे हुए आदि मानव वैवस्वत मनु इस विध्वंसकारी दृश्य के मध्य एकाकी, चिन्तित और निराश बैठे हुए हैं। अतीत वैभव और सुखों का स्मरण करके उन्हें अनन्त में विषाद की रेखाएँ खिंची प्रतीत होती हैं।

> 'चिन्ता करता हूँ मैं जितना
> उस अतीत की उस सुख की,
> उतनी ही अनन्त में बनती
> जातीं रेखाएँ दुख की।'

संसार में प्रवेश करने पर व्यावहारिक जीवन का श्रीगणेश चिन्ता के रूप में होता है। विश्व में द्वैत की यह प्रथम अनुभूति है। चिन्ता, जो दुख मूलक है, संसार का मनोमय व्यापार है। इसमें जगत की प्रतीति तो होती रहती है, परन्तु कर्म सम्बन्धी कोई प्रवृत्ति नहीं। यह केवल संवेदन मात्र है

> 'मौन ! नाश ! विध्वंस ! अँधेरा !
> शून्य बना जो प्रगट अभाव,
> वही सत्य है, अरी अमरते !
> तुझको यहाँ कहाँ अब ठाँव।'

इसी कारण प्रसाद जी ने प्रथम सर्ग का नाम चिन्ता रखा है। सृष्टि के दुर्जेय प्रसाद का अवलोकन करते करते जब मनु का मन विश्व सम्पर्क होजाता है तभी उन्हें

> 'उषा सुनहले तीर बरसती
> जय लक्ष्मी सी उदित हुई,
> उधर पराजित काल रात्रि भी
> जल में अन्तर्निहित हुई।'

उनमें आशा का संचार होता है तथा पुनः सम्पूर्ण प्रकृति सुन्दर और सम्पन्न दीख पड़ती है। आशा के द्वारा मनु को कार्य करने प्रेरणा मिलती है। आशा के द्वारा ही मानव कर्मपथ पर आगे बढ़ने का साहस करता है, अतः यह मानव मन की विधायक शक्ति है। चिन्ता के पश्चात् आशा सर्ग को कवि ने रखा है जो मनोवैज्ञानिक एवम् व्यावहारिक दृष्टि कोण से पूर्णत संगत है। 'कामायनी' का तृतीय सर्ग श्रद्धा है। श्रद्धा हृदय की वृत्ति है पर 'कामायनी' में श्रद्धा केवल मन की वृत्ति के रूप में ही नहीं है, वरन् उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। जहाँ तक वह नारी रूप में आती है वहाँ तक उसके साथ काम, वासना आदि वृत्तियाँ भी हैं, पर जहाँ उसका प्रयोग प्रतीक के रूप में होता है वहाँ हृदय की सभी उदात्त वृत्तियों की प्रतिभा उपस्थित करती है। आशा के पश्चात् स्वतः मानव हृदय में श्रद्धा संचरित होती है। श्रद्धा अत्यन्त विशुद्ध आत्म वृत्ति है, पर मनुष्य इस वृत्ति को पूर्ण विशुद्ध रूप में ग्रहण नहीं कर पाता। इसके साथ वह मन और बुद्धि की मलिनता का आरोप कर लेता है। फलतः काम और वासना की सृष्टि होती है। नारी के सम्पर्क में आने से पुरुष के मन में काम और वासना दोनों वृत्तियों का आविर्भाव होता है परन्तु नारी में उनके स्थान पर लज्जा वृत्ति का पहरा हो जाता है। लज्जा नारी की वृत्ति है। लज्जा का अर्थ होता है 'स्वच्छन्द क्रिया संकोच'। श्रद्धा नारी है तथा मुग्धावस्था में है अतः पुरुष के निकट उसमें लज्जा का होना स्वाभाविक ही है। लज्जा द्वारा नारी जीवन को गौरव प्राप्त होता है। लज्जा का कार्य है

> चंचल किशोर सुन्दरता की
> मैं करती रहती रखवाली,
> मैं वह हलकी सी मसलन हूँ
> जो बनती कानों की लाली।'

इस प्रकार काम और वासना सर्गों के पश्चात् लज्जा सर्ग की सृष्टि अत्यन्त स्वाभाविक है। पुरुष की ओर से वासना के पश्चात् कर्म नामक प्रकरण का आरम्भ होता है। लज्जा नारी की वृत्ति है तथा कर्म पुरुष की। वासना पुरुष के हृदय में तृष्णा जागृत करती है जिसकी पूर्ति

एवम् तृप्ति के हेतु मनुष्य कर्म में रत होता है। इस कर्म का स्वरूप हिंसात्मक ही अधिक होता क्योंकि इसके गर्भ में तृष्णा एवम् वासना का निवास रहता है। कर्म सर्ग की उत्पत्ति द्वारा प्रसाद जी ने मनु के कर्मों का स्वरूप सामने रखा है। साथ ही मनुष्य में अहम् की प्रवृत्ति रहती है जिसके कारण मनुष्य स्वभाव उच्छृंखल हो उठता है। वह अपने अधिकारों पर किसी भी प्रकार की रोक सहन नहीं कर सकता। यहीं से ईर्ष्या का आरम्भ होता है। मनु के हृदय की दशा ऐसी ही है। वे श्रद्धा से कहते हैं

> तुम दानशीलता से अपनी
> बन सजल जलद बिखरो न बिन्दु।
> इस सुख नभ में मैं विचरूँगा
> बन सकल कलाधर शरद इन्दु॥'

मानव अपनी अहम् भावना के उन्माद में श्रद्धा का त्याग कर देता है तथा उद्दण्ड होकर बुद्धि क्षेत्र में प्रविष्ट होता है। बुद्धि मनुष्य को विप्लव तथा संघर्ष की ओर ले जाती है। 'इडा नामक सर्ग इसी युद्ध का प्रतीक है। साथ ही 'इडा श्रद्धा की भांति एक स्वतंत्र अस्तित्व के रूप में भी अंकित की गई है वह इस रूप में श्रद्धा के प्रतिकूल स्वरूप में है। श्रद्धा को खोकर मनु बुद्धिवादी हो गये हैं तथा बुद्धि की सहायता से वे साम्राज्य स्थापित करना चाहते हैं।

इतना ही नहीं वरन् वे तो 'इडा' पर भी अधिकार करना चाहते हैं। यह बुद्धि के नियम के प्रतिकूल है अत मनु पर नाना प्रकार की विपत्तियाँ आती हैं जिनसे उन्हें अत्यधिक संघर्ष करना पडता है। अत संघर्ष को स्थान दिया गया है पर इससे पूर्व स्वप्न सर्ग की सृष्टि की गई है। कारण भी स्पष्ट है। मनु के जीवन में विपत्ति आने पर श्रद्धा अदृष्ट में उन विपत्तियों का स्वप्न देखती है। श्रद्धा वृत्ति सदैव मन की शुभकामना में संलग्न रहती है, अत दुख के समय में वह मन के लिए चिन्तित हो जाती है। चिन्ता ही श्रद्धा के स्वप्न का कारण बनती है। मन की भावना की अनुरूप स्वप्न की काया बनती सवरती है। श्रद्धा का मन मनु के लिए चिन्तित रहता है और वह उसके ऊपर आने वाली विपत्तियों को स्वप्न द्वारा देखती है। इसी से स्वप्न सर्ग की स्थापना कामायनी में की गई है, तत्पश्चात् संघर्ष सर्ग का प्रादुर्भाव होता है। संघर्ष के पश्चात मानव मन ससार से ऊब जाता है। प्रकृति के साथ संघर्ष में मानव सफल नहीं होता अत उसे निर्वेद हो जाता है। निर्वेद की उत्पत्ति निराशा, विषाद तथा विफलता के कारण होती है। निर्वेद के पश्चात् मानव को वास्तविक स्थिति का ज्ञान हो जाता है, वह द्वैत बुद्धि से पराङ्मुख हो जाता है तथा उसकी भावना आत्ममुखी हो जाती है और तब उसे विचार प्रयोजक ज्ञान दर्शन' प्राप्त होता है। आत्म दर्शन के पश्चात उसे जीवन का रहस्य, जिसमें कर्म, ज्ञान और भावना की समरसता निहित है, ज्ञात होता है और जीवन का रहस्य उद्घाटित होने पर उसे निरुपाधि केवल 'आनन्दम्' प्राप्त हो जाता है। आनन्दावस्था में सम्पूर्ण प्रकृति जड और चेतन समरस हो जाती है और आत्मा से द्वैत का पर्दा नष्ट हो जाता है

> 'सम रस थे जड या चेतन
> सुन्दर साकार बना था,
> चेतनता एक विलसती
> आनन्द अखण्ड घना था।

इस प्रकार प्रसाद जी ने अन्त में 'दर्शन', 'रहस्य' और आनन्द' सर्गों की सृष्टि की है। इस प्रकार १५ सर्गों का यह महाकाव्य मानव मन का रूपक है जिसमें ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग एवम् चयन मन के रूपक के अनुसार किया गया है। 'कामायनी' में मनु मन', श्रद्धा रागात्मिका वृत्ति' और इडा 'बुद्धि' है। मन की गति चचल है वह सदैव उद्वेलित होता रहता है। आशा, निराशा राग द्वेष सुख दुख आदि भाव उसमें सदैव उत्पन्न होते रहते हैं। विश्वास समन्वित

रागात्मिका वृत्ति के साथ जब तक मन का संयोग नहीं होता तब तक उसे आनन्द रस की उपलब्धि नहीं होती। यहीं पर कैवल्य है। बुद्धि मन की अनियन्त्रित शक्तियों को अनुशासित करता है, किंतु बिना संवेदना और कोमलता के वह निरीशुष्क और तर्कमयी है। इस प्रकार 'कामायनी' में मनु श्रद्धा, इडा तीन ऐतिहासिक पात्रों की कथा के साथ तीन मनों की रूपक रचना (Allegory) प्रस्तुत की गई। कवि ने कामायनी में मन के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के साथ साथ सामाजिक मनोविज्ञान को भी स्पष्ट रूप से निखारा है। सारस्वत प्रदेश में जब समृद्धि उल्लसित हो उठता है तो वहाँ विलम्ब और संघर्ष संघटित होते हैं। राजा जब अपने निर्मित नियमों का ही उल्लंघन करने लग जाता है तो उसके अनुयायियों की श्रद्धा ही उसके प्रति नहीं न्यून होती प्रत्युत वहाँ संघर्ष एवं विपत्ति भी आ खडी होती है। यही मनु के साथ घटना क्रम में दिखाया है। उच्छृंखल मनु के विरुद्ध समस्त प्रजा हो जाती है और मनु को उससे संघर्ष करना पडता है जिसमें उसकी हार होती है और अन्त में उसे निर्वेद होता है। प्रसाद जी की दृष्टि में बाह्य जगत् अन्तर्जगत् की लीला का विस्तार है। ऐतिहासिक घटनाएँ हमारी मनोवैज्ञानिक भावनाओं की क्रिया मात्र है। यही दिखाना प्रसाद जी को सम्पूर्ण महाकाव्य में अभीप्रेत भी है। साथ ही प्रसाद जी ने कथा और चरित्रों को मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से आँकते हुए स्थान स्थान पर जो मनोवैज्ञानिक तथ्य कामायनी में रखे हैं, वे कथा और चरित्र से मेल खाते हुए स्वतंत्र रूप से भी अद्वितीय ठहरते हैं, जैसे —

"बन जाता सिद्धान्त प्रथम फिर पुष्टि हुआ करता है।
बुद्धि उसी ऋण को सबसे ले सदा भरा करती है।
मन जब निश्चित सा कर लेता कोई मत है अपना।
बुद्धि दैव बल से प्रमाण का सतत् निरखता सपना।'

मन में जब कोई बात प्रवेश कर लेती है तो बुद्धि उसी की पुष्टि में प्रमाण ढूँढा करती है। (देखिये जर्मनदार्शनिक Schopenhauer) के शब्दों को "Will is the stout blind man that holds the lame reason on his shoulders who can but see"

इसी प्रकार 'रहस्य' नामक सर्ग में अत्यन्त सुन्दर एवम् मनोवैज्ञानिक ढंग से 'इच्छा' और 'ज्ञान'तत्वों की विवेचना की गई है। इच्छा को नेत्र नहीं होते, बुद्धि को पैर नहीं होते तथा ज्ञान से दम्भ की उत्पत्ति होती है, पर जब तीनों का सम्मिश्रण हो जाता है तो सहज ही समरसता आ जाती है। इच्छा से बुद्धि मिलने पर इच्छा बुद्धि प्रधान हो जाती है तथा उसका अन्धापन नष्ट हो जाता है। मनोविज्ञान के सिद्धान्तानुसार इच्छा (desire) instinctive होने के कारण अन्धी मानी गयी है। जानवरों में प्रत्येक कार्य भावना प्रद अथवा instinctive रहता है पर प्राणियों में वह बुद्धि परक होती है इसी से उसे चिंतन शील (Rational Being) कहा गया है। अत. इच्छा और बुद्धि का मिलन होना ही चाहिए। ज्ञान द्वारा बुद्धि का विकार नष्ट हो जाता है और उसमें स्निग्धता एवम् उज्वलता आ जाती है। यदि तीनों, हृदय तत्व द्वारा मिले रहें तो मानव जीवन सुचारु रूप में संचालित हो अपने साध्य की प्राप्ति सहज ही में कर सकता है। श्रद्धा जीवन की प्रेरक एवम् पथ प्रदर्शक शक्ति है। जब तक मन बुद्धि के विकार में लिप्त रहता है तब तक वह श्रद्धा से अयुक्त रहता है तथा उससे आस्तिक भाव जागृत नहीं हो सकते बिना आस्तिक भावों के मन को शाँति नहीं प्राप्त होती और बिना शाँति के आनन्द दुर्लभ है। "अज्ञश्च अश्रद्धानश्च संशयात्मा विनश्यति" अर्थात् श्रद्धा रहित प्राणी में विश्वास नहीं होता और अन्त में वह संशय ग्रस्त होकर नाश को प्राप्त होता है। श्रद्धा तीनों ज्योतिर्बिन्दुओं को—

"अजातशत्रु की मल्लिका"

(लेखक—चौथमल अग्रवाल, बी० ए०)

'अजातशत्रु' नाटक मे कुल मिलाकर लगभग २४ पात्र है जिनमें लगभग १५ पुरुष एव ६ स्त्री पात्र है पुरुष पात्र प्राय साधारण कोटि के हैं। गौतम क अतिरिक्त अन्य किसी के चरित्र मे ऐसी कोई विशेषता नहीं है जिसके कारण हम उसके समक्ष नत मस्तक हों। गौतम 'शांति के सहचर' और करुणा के स्वामी हैं। उनमे दोष की कल्पना भी नहीं की जा सक्ती। इस नाटक मे उनके दर्शन हमे उस समय होते हैं जब प्रारम्भिक जीवन के सघर्षों पर वे पूर्ण विजय प्राप्त कर चुके हैं अत केवल प्रभाव की दृष्टि से ही उनके व्यक्तित्व का विश्लेषण नाटककार को अभीष्ठ है, कला की दृष्टि से नहीं। गौतम से भी अधिक प्रभावित करने वाला एक पात्र और है और वह है मल्लिका। मल्लिका की विशाल हृदयता केवल सुखमग्न करने की वस्तु है। उसका चरित्र गौतम से भी महान् और प्रशसनीय है। उसकी परीक्षा सबसे कठोर है और वह उसमे खरी उतरती है। उसकी प्रशसा महात्मा गौतम भी करते हैं। वह दुख के हलाहल को पीकर अखण्ड आनन्द की साधना मे रत हैं, साथ ही साथ करुणा की गहरी टीस को भी वह अपने हृदय मे छिपाये रहती है, उसे किसी के समक्ष व्यक्त नहीं होने देती।

इस प्रकार 'अजातशत्रु' म मल्लिका ही एक ऐसी स्त्री पात्र है जो हमको सर्वाधिक प्रभावित करती है। उसके चरित्र मे गुण ही गुण दृष्टिगोचर होते हैं, दोष तो ढूँढने पर भी नहीं दिखाई देते। वह 'स्त्री सुलभ सौजन्य, समवेदना कर्त्तव्य और धैर्य की उचित शिक्षा' प्राप्त वह वीर रमणी है जो अपने दुख को दूसरे तक प्रकट भी नहीं होने देती।

मल्लिका कौशल के कुशल सेनापति बन्धुल की आदर्श एव पतिपरायणा पत्नी है हम सर्व प्रथम उसका दर्शन नाटक के दूसरे अक के तीसरे दृश्य मे करते हैं। उसे अपने पति पर गर्व है, पति को छोडकर उसे अन्य किसी भी वस्तु की चाह नहीं है। वह अपना अस्तित्व पति के अस्तित्व मे मिला देती है। वह उन्हीं का गुणगान करती रहती है। पति की वीरता पर उसे अभिमान है। महामाया से वह पति की वीरता का वर्णन करती हुई कहती है—

'वे तलवार की धार हैं अग्नि की भयानक ज्वाला हैं वीरता के वरेण्य दूत हैं। मुझे विश्वास है कि सम्मुख युद्ध मे शक्र भी उनके प्रचण्ड आघातों को रोकने मे असमर्थ है।'

वह कर्त्तव्य का मर्म जानती है। वह स्वय तो कर्त्तव्य परायणा है ही, दूसरे को भी कर्त्तव्य से च्युत नही कराना चाहती। वह सुख दुख, लाभ हानि जय पराजय सर्वत्र अपने से सम्बद्ध दूसरे के कर्त्तव्य का ध्यान रखती है। वह सौन्दर्य और वासना की पुतली बनकर अपने प्रियतम को मार्ग नहीं रोकना चाहती। बन्धुल के काशी चले जाने पर वह महामाया से कहती है—

"वीर हृदय युद्ध का नाम ही सुनकर नाच उठता है। शक्ति शाली भुजदण्ड फडकने लगते हैं। भला मेरे रोकने से वे रुक सकते थे। कठोर कर्म-पथ मे अपने स्वामी के पैर का कण्टक भी नहीं होना चाहती।"

वह पति को अपने 'अनुराग सुहाग की वस्तु, समझती है, फिर भी वह उन्हे अपने 'शृगार मजूषा म बन्द करके नहीं रखना' चाहती। वह 'महान हृदय को केवल विलास की मदिरा

पिलाकर मोह लेना अपना कर्त्तव्य नहीं समझती।

वह अपने पति की मृत्यु का सवाद सुनकर भी कर्त्तव्य से विचलित नहीं होती, प्रत्युत आतिथ्य धर्म का पालन करती है। सारिपुत्र के शब्दों म 'स्वामी के मारे जाने का समाचार भी उसको अपने कर्त्तव्य से विचलित नहीं कर सका'।

मल्लिका को अपने राष्ट्र के प्रति अटूट प्रेम है। राष्ट्र की रक्षा एव उसके हित के लिए वह अपने जीवन-सर्वस्व पति को भी सकट मे डाल सकती है। वह कहती है—

'सेनापति का राजभक्त कुटुम्ब कभी विद्रोही नहीं होगा और राजा की आज्ञा से वह प्राण दे देना अपना धर्म समझेगा—जब तक कि स्वय राजा राष्ट्र का द्रोही न प्रमाणित न हो जाय"।

दीर्घकारायण को भी राष्ट्र का हितैषी बनने की शिक्षा देती है, उससे विद्रोह करने को नहीं। वह उसकी प्रतिशोधी भावना का परिहार कर देती है।

वह अत्यन्त धीर शान्त एव सयत है। पति मृत्यु का घोर सन्तापकारी सवाद—वैधव्य-दुःख का कठोर अभिशाप—पाने के कुछ क्षण पश्चात् ही अनुपम धैर्य पूर्वक महात्मा गौतम के आतिथ्य का जो आयोजन वह करती है वह सराहनीय है। वह भी 'नारी है, नारी के हृदय मे जो हाहाकार होता है वह उसका अनुभव कर रही है'। उसका 'जी रो उठता है', परन्तु ऐसी परिस्थिति में भी उसका धैर्य दर्शनीय है। वह कहती है—

"धैर्य न होता तो अब तक यह हृदय फट जाता—यह शरीर निस्पन्द हो जाता। यह वैधव्य दुःख नारी-जाति के लिए कैसा कठोर अभिशाप है, यह किसी भी स्त्री को अनुभव न करना पडे।"

उसके शान्त और सयत स्वभाव का दर्शन तो हमे स्थान स्थान पर होता है। उसकी सहनशीलता पराकाष्ठा पर तो तब पहुँचती है जब अपने पति के हत्यारों को जानकर भी वह उनको एक भी अप शब्द नहीं कहती। वह सब कुछ चुपचाप सहन कर लेती है। 'उसे केवल स्त्री सुलभ सौजन्य और समवेदना तथा कर्त्तव्य और धैर्य की शिक्षा मिली है।' यही उसका आदर्श है यही उसका असाधारण चरित्र है।

वह क्षमा की साक्षात् प्रतिभा ही है। वह यह जानते हुए भी कि प्रसेनजित् और विरुद्धक उसके पति की हत्या करने वाले हैं, आहतावस्था म उनकी सेवा करती है। वह हृदय स उन्हें क्षमा कर देती है ऐसा प्रतीत होता है मानों उनसे उसका कोई द्वेष ही नहीं है। उसकी इस क्षमा शीलता को देखकर विरुद्धक जब उसका मनमाना अर्थ लगाने का भ्रम करता है तो वह कहती है—'मल्लिका उस मिट्टी की नहीं है, जिसे तुम समझते हो।" इससे प्रभावित होकर विरुद्धक कहता है—

"उदारता की मूर्ति। मैं किस तरह तुमसे, तुम्हारी कृपा से अपने प्राण बचाऊँ। देवि! ऐसे भी जीव इसी ससार मे हैं, तभी तो यह भ्रमपूर्ण ससार ठहरा है।"

उसकी क्षमाशीलता को देखकर प्रसेनजित् लज्जित होकर कहता है—

"इस दुराचारी के पैरों मे तुम्हारे उपकार की बेड़ी और हाथों मे क्षमा की हथकडी पड़ी है। जब तक तुम कोई आज्ञा देकर इसे मुक्त नहीं करोगी, यह जाने म असमर्थ है।'

मल्लिका के जीवन का आदर्श महात्मा बुद्ध द्वारा अनुमोदित करुणा, विश्वमैत्री एव आत्म विस्तार की भावना है। सखी यही करुणा और विश्वमैत्री की भावना समग्र ससार के हित के लिए सजीवनी बूटी का कार्य करती है। उस 'मूर्तिमती विजयिनी करुणा' ने करुणा

की विजय पताका के नीचे प्रयाण करने का विचार करके उसकी अधीनता स्वीकार करती है।' उसे अब एक पग भी पीछे हटने का अवकाश नहीं।' वह 'विश्वासी सैनिक के समान नश्वर जीवन का बलिदान' कर देगी। वह प्रसेनजित् को विश्वमैत्री का पाठ पढ़ाती है—

"अजीत के वज्र कठोर हृदय पर जो कुटिल रेखा चित्र खिंच गए हैं, वे क्या कभी मिटेंगे? यदि आपकी इच्छा है तो वर्तमान में कुछ रमणीय सुन्दर चित्र खींचिए जो भविष्य में उज्ज्वल होकर दर्शकों के हृदय को शान्ति दें। दूसरों को सुखी बनाकर सुख पाने का अभ्यास कीजिए।'

उसके इन्हीं गुणों से पाषाण हृदय अजात भी द्रवित हो जाता है। वह उसे देवी मानने लगता है। उसके मत से 'उपकार, करुणा, समवेदना और पवित्रता मानव-हृदय के लिए ही बने हैं।' वह विरुद्धक से कहती है—'तुम्हारा कलंकी जीवन भी बचाना मैंने अपना धर्म समझा। और यह मेरी विश्वमैत्री की परीक्षा थी। जब इसमें मैं उत्तीर्ण हो गई तब मुझे अपने पर विश्वास हुआ।' उसकी इस विश्वमैत्री की भावना से प्रभावित होकर एक अधम नारी—श्यामा या मागन्धी—भी उसकी प्रशंसा करती हुई कहती है—"जिसे काल्पनिक देवत्व कहते हैं—वही तो सम्पूर्ण मनुष्यता है।"

वह निष्कपट एवं सरल हृदया रमणी है। उसे विश्वास है कि जब वह स्वयं छल या कपट पूर्ण आचरण नहीं करती तो फिर दूसरा उससे छल क्यों करेगा? महामाया के यह कहने पर कि 'हो सकता है शैलेन्द्र डाकू छल से बन्धुल की हत्या करदे' वह कहती है—"किन्तु शैलेन्द्र एक वीर पुरुष है, वह पुरुष है, गुप्त हत्या क्यों करेगा?

इतना होते हुए भी वह स्वाभिमानिनी नारी है। वह अपनी स्थिति को ही सर्वोत्तम मानती है। वह अपना या अपने पति का अपमान सहन नहीं कर सकती। वह महामाया से कहती है—

'बस! रानी बस! मेरे लिए मेरी स्थिति ही अच्छी है और तुम्हारे लिए तुम्हारी। तुम्हारे दुर्विनीत राजकुमार से न ब्याही जाने में मैं सौभाग्य समझती हूँ।"

इस प्रकार मल्लिका का महान् चरित्र मानवता की दृष्टि से सम्पूर्ण है, आदर्श और जो उसके सम्पर्क में आता है, कितना ही क्रूर क्यों न हो उससे प्रभावित होता है। नाटक के पात्रों के बीच में उसकी सत्ता उस ध्रुवतारे के समान है, सप्तर्षि जिसकी परिक्रमा करते हैं, जिससे प्रकाश ग्रहण करते हैं। वस्तुत प्रसाद ने अपने नाटकों में ऐसे पात्रों की सृष्टि की है जो अमर हैं स्मरणीय हैं।

कृपालु पाठकों से :—

१—इस अंक में कई लेख विस्तृत रूप में प्रकाशित हैं। इस कारण अन्य अंकों से लेखों की संख्या कम है।

२—जिन महानुभावों का चन्दा समाप्त हो रहा हो वह अविलम्ब मनी आर्डर से भेज दें। 'परीक्षांक' विशेषांक उन्हीं को प्राप्त हो सकेगा, जिनका चन्दा कार्यालय में जमा होगा।

३—हर पत्रोत्तर के लिए ग्राहक संख्या अवश्य लिखा कीजिए।

प्रबन्धक

प्रकाशक—फूलचन्द गुप्त मुद्रक—आगरा अखबार प्रेस आगरा।

अपनी बात

हमारा आगामी अंक

'सरस्वती संवाद' एक मासिक पत्र है। किन्तु उसके साथ उसकी अनेक विशेषताएं हैं। गत अगस्त का नववर्षांक रूप में हम एक विशेषांक अपने पाठकों को दे ही चुके हैं। अब जनवरी ५७ का अंक हमारा परीक्षांक विशेषांक होगा। इसमें इण्टर बी० ए० एम० ए० तथा भारत के प्रमुख ७ विश्व विद्यालयों के परीक्षा सम्बन्धी लेख भी प्रकाशित होंगे। सरस्वती संवाद की प्रथम विशेषता हिन्दी विद्यार्थियों के लिए परीक्षोपयोगी लेख देना—तथा वर्ष में पूरे बारह अंक देना है। जिसमें दो विशेषांक होते हैं। इसकी लोक प्रियता बढ़ रही है और उसका जीता जागता उदाहरण है कि अब 'संवाद' का पाँचवा वर्ष चल रहा है किन्तु आज तक किसी मास का अंक नहीं प्रकाशित हुआ हो ऐसी बात नहीं। यह सब आप जैसे कृपालु पाठकों की कृपा से हुआ है।

आपसे प्रार्थना :—

आप इसके स्थाई पाठक हैं और आप इसे अपना शुद्ध साहित्यिक पत्र मानते हैं। तो आपसे प्रार्थना है कि आप इस मास सरस्वती संवाद के प्रचार सप्ताह में योगदान दें। और कम से कम एक ग्राहक अपनी ओर से बना कर दें। ताकि यह पत्र आपकी अधिकतम सहायता करता रहे, और आपको समय २ पर मौलिक रचनाओं से लाभान्वित करता रहे। आपके सहयोग से इस पत्र को बल प्राप्त होगा और भविष्य के लिए इसकी नींव दृढ़ होगी। पत्र के प्रचार पर ही उसका भविष्य निर्भर है आशा है आप इस निवेदन को स्वीकार करके आभारी करेंगे।

जनवरी ५७ से

इस अंक में एक अभाव था वह दूर किया जा रहा है वह था नवीन पुस्तकों की समालोचना। अब आप आगामी अंक में उच्चकोटि की नवीन पुस्तकों की समालोचना भी पायेंगे। यदि आप कोई पुस्तक इस स्तम्भ के लिए भिजवाना चाहें तो शीघ्र भिजवाने का कष्ट करें।

सरस्वती संवाद निःशुल्क प्राप्त कीजिए

आप पचास रुपए एक मुश्त कार्यालय को भेज दीजिए और उस रुपए की पक्की रसीद कार्यालय से प्राप्त कर लीजिए जब तक आपका यह रुपया हमारे यहाँ जमा रहेगा आपको संवाद बराबर निःशुल्क जाता रहेगा। और जब हमारी दी हुई रसीद आप वापस करके रुपया प्राप्त करना चाहेंगे तो आपको रुपया उसी समय वापस कर दिया जायगा—तथा 'संवाद' आपको भेजना बन्द कर दिया जायगा। आशा है आप इस योजना से लाभ उठावेंगे।

एक और लाभ

इस योजना में सम्मलित होने वाले महानुभाव को 'सरस्वती पुस्तक सदन' से प्रकाशित पुस्तकों पर (चाहे वे नवीन हों चाहे पुरानी) सभी पुस्तकों पर २०% कमीशन दिया जायगा। तथा बाहर के प्रकाशकों की प्राप्त पुस्तकों पर २०% कमीशन दिया जायगा।

मैनेजर

पता: सरस्वती संवाद कार्यालय मोतीकटरा आगरा।

हिन्दी पाठकों की सेवा में

जनवरी ५७ (अभिनव वर्ष) में प्रकाशित होने वाला परीक्षांक और उसकी विषय सूची:—

जो महानुभाव अभी ग्राहक न हुए हों तो अब चार रुपया शीघ्र भेजकर इसके ग्राहक होजाएँ इस अंक का मूल्य एक रुपया होगा। वर्ष में पूरे बारह अंक देने वाला यही एक मात्र पत्र है।

केवल मुख पृष्ठ रायल फाइन आर्ट प्रेस, आगरा सेठगली, में छपा।